वर्ष : 11 • अंक : 43 • जनवरी-मार्च 2025 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3500 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* लेख में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोध लेखक के अपने विचार हैं तथा इसमें सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल के विचारों की उद्भावना स्पष्टत: नहीं है। अत: इसके लिए शोध-लेखक स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**

*** शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *viii*

धम्म एक नैतिक सामाजिक आचार के रूप में ... 1
दुर्गेश पाण्डेय

''खेतौरी जनजाति'' की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन 5
डॉ. मीरा कुमारी

अनुभव से अर्थ तक की यात्रा : राजी सेठ की कहानियाँ 10
लक्ष्मी / डॉ. पूनम शर्मा

डॉ. जयप्रकाश कर्दम के लेखन में स्त्री चेतना ... 14
अंकिता सिंह

स्त्री त्रासदी की कथा : बेघर उपन्यास 20
रेखा प्रजापति

वैदिक वाङ्मय एवं प्राचीन धर्मशास्त्रों में दण्ड व्यवस्था का स्वरूप 23
डॉ. सरिता दुबे

हिंदी सिनेमा में सांप्रदायिकता 26
सुनील कुमार

महाभोज : राजनीति की विडंबना 32
डॉ. चित्तरंजन कुमार

मनोज रूपड़ा की कहानियों में बाजारवाद एवं हाशिए का स्वर 36
प्रेमनन्दन वत्स

प्राचीन भारतीय जनपदों एवं यूनान के नगर-राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन 40
डॉ. स्वाती रंजन चौधरी

साहित्यिक-पत्रकारिता के सन्दर्भ में 'मुअनजोदड़ो' यात्रा-वृत्तांत की भाषा 45
Avinish Prakash Singh

मृदुला गर्ग के उपन्यासों में स्त्री विमर्श का अन्वेषण 51
डॉ. ज्योति शर्मा

डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक चिंतन एवं धर्मदर्शन 54
नीतिका शर्मा

ऋग्वेदे नदीनांवर्णनं महत्वञ्च 58
निशान्तमिश्र:

भारतीय ज्ञान परम्परा और आधुनिक चिंतन 61
मोनिका

रामायणकालीन दण्ड व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन 66
सौम्या आर्या

संगणकीय भाषाविज्ञान और अष्टाध्यायी का तुलनात्मक अध्ययन 72
नंदिनी खटाना

लखमीचंद कृत सांग सत्यवान सावित्री में पतिव्रता स्त्री की निष्ठा 81
डा. शिव कुमार / योगेश डागर

धर्म और नीतिगत परम्पराएँ तथा आम-आदमी 87
जैनेन्द्र कुमार

महाकवि तुलसी की नारी दृष्टि 91
डॉ. वन्दना

मध्यवर्गीय संकट और मुक्तिबोध की कहानियाँ .. 95
धीरेन्द्र बहादुर सिंह

स्त्री के अंतर्द्वंद्व का रेखांकन : यही सच है 99
सृष्टि सुमन

बृहत्संहिता में जल विज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन 104
प्रिया कुमारी

पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत पञ्चमहायज्ञ की प्रासंगिकता 108
कैलाश चन्द्र

रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में ग्रामीण यथार्थ 112
शशांक कुमार

विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म का स्वरूप और मार्ग 117
डॉ. राजवर्मा सिन्हा

समसामयिक संदर्भ और समकालीन महिला लेखन 123
डॉ. प्रमिला / डॉ. सुमित कुमार मीना

उत्तम स्वास्थ्य हेतु ऋतुचर्या की प्रासंगिकता 129
आनन्द कुमार गुप्ता

अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत में तत्व मीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन 134
अंजलि आर्या
रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि (निर्मल वर्मा) - एक आलोचनात्मक विश्लेषण 138
डॉ. रंजीत कौर
एकाग्रता और स्मरण शक्ति संवर्धन में योग की भूमिका का अध्ययन..... 143
रोशनी आर्या
सत्यजित रे और साहित्यिक सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र149
डॉ. पूनम सिंह
मगध-महाजनपद और बौद्ध धर्म 154
अमूल कुमार नीरज
श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य लेखन के राजनीतिक, सामाजिक आयाम 158
अनुज कुमार रावत
साहित्य के बदलते प्रतिमान 162
सीमा
वर्तमान समय में श्रीकांत वर्मा की कविताओं की प्रासंगिकता..... 164
मंदेश शर्मा
हिन्दी सिनेमा में रंगों का सौंदर्यबोध संदर्भ 'काला' .. 168
डॉ. नीलम कुमारी
संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्रता संग्राम का परिदृश्य 'सन् 1857 से 1947 तक'..... 172
Prof. Girish Chandra Pant/ Dr. Ishrat Sultana/ Mukul Badola
प्राचीन भारतीय समाज में दाम्पत्य जीवन की सामाजिक-धार्मिक अवधारणा 176
डॉ. कुसुमकला त्रिपाठी
नवउदारवादी शहरीपुनर्विकास, गरीबों के आवास का प्रश्न और अधिकार-आधारित दृष्टिकोण का महत्व..... 181
दीपशिखा भदौरिया
शंकरदेव अवतरे कृत 'अभिनवकाव्यशास्त्र' में काव्य प्रयोजन..... 190
अजीत कुमार
हिन्दी के जीवनीपरक उपन्यास और सूत्रधार 193
माया सिंह
मृदुला सिन्हा और उनका कथा साहित्य : नारी चेतना के विभिन्न आयाम..... 197
रोहित मिश्रा

सम्पादकीय

भारत की बेटी सुनीता विलियम्स 286 दिनों तक अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन पर बिताने के बाद धरती पर लौट आई। 19 मार्च को भारतीय समयानुसार 3:27 मिनट पर फ्लोरिडा तट पर समुन्द्र में उतरीं तो करोड़ों भारतीय सहित समूचे विश्व ने आंखों में नमी के साथ उनका स्वागत किया। अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन से घर वापसी का सुनीता विलियम्स का यह सफर 17 घंटे का रहा। मात्र आठ दिन के लिए अंतरिक्ष स्टेशन पर गई सुनीता तकनीकी खामियों के कारण नौ महीने तक वहीं रही। जिस अदम्य साहस और धैर्य के साथ अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन पर सुनीता विलियम्स रहीं उसकी एक अनूठी कहानी है। वाक् सुधा इस अप्रतिम धैर्य, साहस और अद्‌भुत मिसाल कायम करने वाली सुनीता विलियम्स का वंदन और अभिनन्दन करती है। सुनीता के साहसिक अभियान को बहुत दिनों तक याद किया जाएगा। धरती पर लोग उनकी बहादुर की कहानियां सुनते-सुनाते रहेंगे। उनके धैर्य, साहस और आत्मविश्वास की चर्चा लोग करते रहेंगे।

कल्पना चावला के बाद सुनीता से हम सभी भारतीय बहुत प्यार करते हैं। तथ्य यह है कि सुनीता विलियम्स पहली बार अंतरिक्ष में नहीं गई थीं। 59 वर्ष की सुनीता विलियम्स इससे पहले भी दो बार अंतरिक्ष में जा चुकी हैं। 2006 में पहली बार वह अंतरिक्ष में गईं और 9 दिसंबर 2006 से 22 जून 2007 तक अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन पर रहीं। छह महीने के इस प्रवास में सुनीता ने कई प्रयोगों को अंजाम दिया और इस अवधि में अंतरिक्ष में मैराथन करने का एक अनोखा कीर्तिमान भी उन्होंने स्थापित किया। सुनीता विलियम्स की दूसरी अंतरिक्ष यात्रा 14 जुलाई से 18 नवंबर 2012 के बीच हुई। इस यात्रा में उन्होंने पहली बार अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन पर अपना जन्मदिन जो कि 19 सितंबर को होता है वह भी मनाया। जन्मदिन के पावन अवसर पर उन्होंने रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा कि वह अपने साथ 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' की एक प्रति, भगवान गणेश की एक मूर्ति और कुछ समोसे लेकर आई थी। इस रहस्योद्‌घाटन ने भारत में उन्हें काफी चर्चित बना दिया। भारतीय संस्कृति के साथ उनका इस जुड़ाव हर भारतवासी को भावुक कर दिया। एक अंतरिक्ष वैज्ञानिक के रूप में और इंजीनियर के रूप में सुनीता को याद करते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने भी इस घर वापसी पर सोशल मीडिया पर लिखा कि- वेलकम बैक टू क्रू-9, धरती ने आपको बहुत मिस किया। यह उनके धैर्य, साहस और असीम मानवीय भावना की परीक्षा थी। सुनीता और क्रू-9 एस्ट्रोनॉट्स ने हमें यह दिखाया है कि दृढ़ता का वास्तव में क्या मतलब है। अनिश्चितता की स्थिति में भी उनका अटूट दृढ़ संकल्प हमेशा लाखों लोगों को प्रेरित करेगा।

सुनीता विलियम्स ने अंतरिक्ष में नया इतिहास रचते हुए सफलतापूर्वक धरती पर कदम रखा। यह सुरक्षित वापसी विज्ञान, नासा और अंतरिक्ष अन्वेषण की दिशा में एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। नासा ने कहा कि सुनीता विलियम्स और बुच विल्मोर ने 150 से ज्यादा प्रयोग किए हैं जो आने वाले समय में मानवता के लिए बड़े काम आने वाले हैं। नासा ने यह भी कहा कि यह मिशन कामयाब रहा।

यहां एक बात की तरफ आप सबका ध्यान आकृष्ट करते हुए अपनी बात को समाप्त करूंगा कि महाकुंभ 2025 की जो तस्वीर नासा के माध्यम से हम सबने देखी हैं। वह तस्वीर अंतरराष्ट्रीय अंतरिक्ष स्टेशन से सारी दुनिया में जारी की गई वह भी सुनीता विलियम्स के द्वारा भेजी गई थी। सुनीता भी प्रयागराज की पवित्र धरती पर 144 साल बाद लगे महाकुंभ को अंतरिक्ष से निहार रही थीं, उसकी तस्वीर ले रहे थी, सुनीता ने कुछ तस्वीरें बहन फाल्गुनी पांडे को भेजी थीं। धरती से अंतरिक्ष तक सुनीता विलियम्स के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा है। इसलिए विश्व कल्याण की कामना के लिए लगे महाकुंभ को भी समूचे विश्व में सुनीता विलियम्स ने पहुंचाया।

– डॉ. रूपेश कुमार चौहान

शोध-पत्र

दुर्गेश पाण्डेय

धम्म एक नैतिक सामाजिक आचार के रूप में

अशोक धम्म को सामाजिक नैतिकता के रूप में लोगों तक पहुंचाना चाहता था। ''द्वितीय शिलालेख में समाज कल्याण के कुछ ऐसे कार्यों का उल्लेख है जो धम्म की कार्य-प्रणाली में सम्मिलित थे।''[1] जैसे मनुष्यों और पशुओं के लिए स्वास्थ्य केन्द्र, सड़कों का निर्माण एवं सड़कों के किनारे छायादार वृक्षों और कुँओं का निर्माण कराया। लोगों के इलाज के लिए जड़ी बूटियों को उगाने जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये। अशोक ने यातायात व्यवस्था को सुदृढ़ एवं विकसित किया। यातायात व्यवस्था के सही होने से व्यापार और वाणिज्य को बहुत बड़े स्तर पर फायदा हुआ। जिस तरह से व्यापार एवं सड़कों जैसी योजनाओं में सुधार होता गया ठीक उसी प्रकार धम्म का प्रचार भी व्यापक ढंग से बताया गया। किसी भी राष्ट्र के विकास में सड़क मार्ग एवं अन्य मार्गों का विस्तार होने से पड़ोसियों के साथ व्यापार बढ़ता जाता है। उसी प्रकार लोगों के विचार भी फैलते जाते हैं या विचारों का आदान-प्रदान भी बढ़ता ही जाता है यही स्थिति धम्म के साथ भी थी।

''धम्म के विकास में चतुर्थ शिलालेख एक महत्वपूर्ण दस्तावेज था।''[2] अशोक के शासन से पहले देश में नैतिकता का अभाव था। जैसा कि पशुओं एवं मनुष्यों की हत्या, अपने सगे सम्बन्धियों के प्रति दुष्टता का आचरण, श्रमणों तथा ब्राह्मणों का निरादर इस बात का प्रतीक था। अशोक ने अपने शासनकाल में नैतिकता और अहिंसा जैसे कार्यों का आरम्भ किया। ''अशोक भेरीघोस के सम्बन्ध में कहता है कि नगाड़े की ध्वनि हमेशा युद्ध, सार्वजनिक घोषणा या प्रजा के सामने कोई दृश्य दिखाने के पहले की जाती है। लेकिन अशोक ने धर्मपरायणता का जीवन आरम्भ किया तब से यह युद्ध की चुनौती न रहकर प्रजा के लिए कुछ दृश्य देखने का आमन्त्रण बन गयी, और क्योंकि यह दृश्य पुण्यशीलता की प्रेरणा देने वाली है। इसलिए भेरी धर्मपरायणता की उद्घोषणा बन गयी है।''[3] यहाँ पर भेरी शब्द का अर्थ है 'नगाड़ा' और घोस शब्द का अर्थ 'घोषणा' है। भेरी शब्द विशेष रूप से युद्ध भेरी के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था और ग्रामों तथा नगरों में भी कोई सूचना जनता तक पहुँचाने के लिए भेरी की मदद ली जाती थी। अशोक के शासन से पहले भेरी अर्थात् नगाड़े का प्रयोग हिंसा के लिए प्रयोग किया जाता था लेकिन अशोक के धम्म में भेरी या नगाड़ा लोकहित से सम्बन्धित सूचनाओं के लिए किया जाता था। यहाँ पर अशोक की सामाजिक नैतिकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अशोक बहुत दूरदर्शी शासक था। वह नगाड़े को नैतिकता से जोड़ना जानता था। जैसे एक सूई किसी के शरीर में चुभोकर विवाद को जन्म दिया या जा सकता है और दूसरी तरफ फटे हुए कपड़ों को सिलकर उपयोग में लाया जा सकता है अर्थात् रिश्तों में मधुरता बढ़ायी जा सकती है। यह प्रयोग करने वाले के ऊपर निर्भर करता है।

अशोक के अभिलेखों में सेवकों तथा दासों के साथ आदर-पूर्वक व्यवहार करने की बात कही गयी है। अशोक के समय में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण जाति-प्रथा कमजोर होने लगी थी। रथ-दौड़, घुड़-दौड़, सांड-युद्ध, हस्ति-युद्ध, मृगया आदि मनोरंजन के साधन थे। नट,

नर्तक गायक, वादक, मदारी, चारण, विदुषक आदि विविध प्रकार के लोग अनेक प्रकार के मनोरंजन किया करते थे। राज्य की ओर से कई उत्सवों तथा मेलों का आयोजन किया जाता था। अशोक के शासन काल से पहले इस तरह के कार्य होते थे। अशोक ने धम्म नीति से प्रभावित होकर इन हिंसक मनोरंजन के साधनों, उत्सवों, मेलों के आयोजनों के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

शासन के बेहतर उपाय खोजने तथा सामाजिक विरोध और असहिष्णुता को का प्रभाव कम करने के लिए अशोक एक विशिष्ट नैतिक धर्म लागू करने के लिए चिन्तित दिखाई देता है। धम्म के सम्बन्ध में अशोक का मानना है कि- ''धम्म का उद्देश्य एक ऐसा मानस तैयार करना था कि जिसमें एक व्यक्ति के प्रति दूसरे का नैतिक व्यवहार बुनियादी चीज थी और उस व्यवहार का आधार मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति था। उसे ऐसी भाषा में प्रस्तुत किया गया जो उस काल के विमर्श के लिए परिचित थी।''[4] अशोक ने जिन सामाजिक नैतिक विचारों पर जोर दिया उसकी कुछ झलक बौद्ध धर्म में दिखाई देती है। एक सीमा तक धम्म एक ऐसी नीति थी जो अशोक के मनमस्तिष्क में पुष्पित पल्लवित हुई। एक परिवार के रूप में देखा जाय तो मौर्य वंश के लोग विचारों में बहुत उदार थे। वे ब्राह्मण धर्म के विरोधी नहीं थे। जैन, आजीवक तथा बौद्ध जैसे असनातनी सम्प्रदायों के प्रति बहुत सहानुभूति दिखाते थे।

धम्म नीति की राजनीतिक पक्षधरता

अशोक एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। अशोक के धम्म के विषय में बतलाते हुए रोमिला थापर ने माना है कि- ''कुछ राजनीतिक उद्देश्यों से ही अशोक ने एक नये धर्म की कल्पना की तथा इसका प्रसार किया।''[5]

इस नये धर्म की संकल्पना में योग्य अधिकारी बेहतर संचार व्यवस्था तथा ताकतवर राजाओं के द्वारा उस समय राज्य के केन्द्रीकरण की जितनी आवश्यकता थी, वह पूरी की गयी लेकिन केन्द्र का शासन बनाये रखना दो ही तरीकों से हो सकता था। पहला यह था कि सैन्य बल द्वारा कड़ा शासन और राजा में देवताओं का आरोपण करके। दूसरा- राजा सभी वर्गों से संकलित सारग्राही धर्म को अपनाकर। यहाँ पर दूसरा तरीका ही व्यवस्थित लग रहा था क्योंकि दूसरे तरीके को अपनाकर ही किसी एक वर्ग का प्रभाव दूसरे की अपेक्षाकृत कम किया जा सकता था। जिससे केन्द्रीय शासन को बल मिलता। अकबर ने भी अशोक की इस साररूपी नीति को अपने शासन काल में लागू किया था।

हालांकि दोनों की नीतियों में काफी भिन्नताएं थीं। जब अशोक गद्दी पर बैठा तब बौद्ध धर्म से प्रभावित नहीं था। बौद्ध धर्म के प्रति अशोक का झुकाव बाद में हुआ। बौद्ध धर्म अपनाने के बाद अशोक को बड़ा लाभ यह हुआ कि-उसे उन वर्गों का समर्थन प्राप्त हुआ जो कट्टर नहीं थे।

''रोमिला थापर का मत है कि बौद्ध और आजीविकों को नवोदित वैश्य वर्ग का समर्थन प्राप्त था। तथा जन साधारण का इन सम्प्रदायों से तीव्र विरोध नहीं था।''[6] अशोक को धम्म अपनाने से यह लाभ हुआ कि छोटे स्तर के राजनीतिक लोग एवं उनसे प्रभावित विभिन्न वर्गों, जातियों तथा संस्कृतियों के लोग अशोक के धम्म से जुड़ गये। अशोक ने यह तरीका विभिन्न प्रदेशों में अपनी राजनीतिक सत्ता को मजबूत करने के लिए अपनाया।

अशोक को देवानांपिय की उपाधि दी गयी थी। शास्त्री के अनुसार ''इसका उद्देश्य पुरोहितों का समर्थन प्राप्त करना था।''[7] इसके ठीक विपरीत रोमिला थापर का मानना है कि ''इस उपाधि का लक्ष्य राजा की दैवीय शक्ति को अभिव्यक्त करना तथा अपने को पुरोहितों की मध्यस्थता से दूर करना था।''[8]

अशोक के लेखों में 'पुरोहितों' का कहीं भी जिक्र नहीं मिलता है। जबकि चन्द्रगुप्त के शासन काल में 'पुरोहित' एक महत्वपूर्ण पद था। ऐसा लगता है कि 'पुरोहितों ने चन्द्रगुप्त के शासनकाल में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। जबकि अशोक के शासनकाल में ऐसा नहीं था। इसीलिए अशोक ने अपने राजनैतिक मामलों में पुरोहितों का हस्तक्षेप न के बराबर कर दिया था। सैद्धान्तिक रूप से देखा जाये तो अशोक निरंकुश एवं सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी एक प्रजा प्रिय शासक था क्योंकि वह प्रजा को अपने पुत्र की तरह प्रेम करता था। प्रजा उसके लिए सर्वोपरि थी। छठे शिलालेख में अशोक का प्रजा प्रेम दिखाई देता है जो कि इस प्रकार है- ''सर्व लोकहित मेरा कर्त्तव्य है, ऐसा मेरा मत है। सर्वलोकहित से बढ़कर दूसरा काम नहीं है। मै जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ वह इसलिए कि भूतों के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। मैं उनको

इस लोक में सुखी बनाऊँ और वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें।''[9] उपर्युक्त बातों से ऐसा लगता है कि अशोक के राजस्व सम्बन्धी आदर्श कितने उदार थे। ऐसा माना जाता है कि राजा प्रजा के ऋण से तभी मुक्त हो सकता है जब वह प्रजा की भलाई करे। इस तरह की कल्पना अशोक से पहले के शासकों में नहीं थी। तीसरे तथा छठे शिलालेखों में मंत्री परिषद के कार्यों का उल्लेख है। तीसरे शिलालेख में मंत्री परिषद के निर्णय लिखे जाते थे जिसे वहाँ के स्थानीय अधिकारी लोगों तक पहुंचाते थे। छठे शिलालेख में विभाग के अध्यक्षों तथा राजा के मौलिक निर्णयों पर मंत्री परिषद अपना पक्ष रखती थी अर्थात् विचार-विमर्श करती थी। मंत्री परिषद के पास इतना अधिकार होता था कि वह राजा के निर्णयों को सिफारिश करके बदल सके। अशोक के शासनकाल में मंत्री परिषद केवल सलाहकारी संस्था नहीं थी। 'दिव्यावदानं' ग्रंथ में यह उल्लिखित है कि मंत्री परिषद के विरोध की वजह से बौद्ध संघ के प्रति किया जाने वाला खर्च अशोक को रोकना पड़ता था।

अशोक का शासनाधिकार साम्राज्य कई प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्तों में विभाजित होने से वहाँ की प्रशासन व्यवस्था दुरुस्त रहती थी। अशोक के अभिलेख में पांच प्रान्तों का उल्लेख है-

I. उत्तरापथ (तक्षशिला)
II. अवन्तिरट्ठ (उज्जयिनी
III. कलिंग (तोसल)
IV. दक्षिणापथ (सुवर्णगिरि)
V. प्राच्च अथवा पूर्वी प्रदेश (पाटलिपुत्र)

इसके अलावा हो सकता है और भी प्रान्त रहे होंगे।

जिन प्रान्तों का राजनीतिक महत्व अधिक या उनमें शासकीय परिवार से ही राज्यपाल नियुक्त किये जाते थे। इन राज्यपालों को आर्य पुत्र तथा कुमार नाम से सम्बोधित किया जाता था। सुवर्णगिरि कलिंग, तक्षशिला तथा उज्जयिनी प्रान्त में इन आर्यपुत्रों तथा कुमारों की नियुक्ति की जाती थी। जैसे 'दिव्यावदान' से पता चलता है कि अशोक का पुत्र कुणाल तक्षशिला का राज्यपाल था। महावंश से पता चलता है कि उसने अपने छोटे भाई तिष्य को उपराजा नियुक्त किया था। जिसके भिक्षु हो जाने पर अशोक का पुत्र महेन्द्र इस पद पर नियुक्त हुआ।''[10] इन पदों पर नियुक्ति जाति और धर्म को तोड़कर की जाती थी अर्थात् योग्यता ही पद का निर्धारण करती थी। जैसे- ''रूद्दामन प्रथम के गिरनार लेख से पता चलता है कि यवन जातीय तुषासप काठियावाड़ प्रान्त में अशोक का राज्यपाल था।''[11]

अशोक के तीसरे शिलालेख में तीन अधिकारियों का उल्लेख है-

I. युक्त
II. राजुक
III. प्रादेशिक

युक्त जिले स्तर के अधिकारी होते थे जिनका काम लेखा-जोखा तथा राजस्व वसूली का होता था। सम्राट के लिए आय का भी प्रबन्ध यही लोग करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इन अधिकारियों का जिक्र है। इन अधिकारियों के पास सम्पत्ति व्यय करने का अधिकार भी था। जिससे राज्य के कोष में वृद्धि हो सकती थी।

राजुक अधिकारी जमीन की पैमाइश करते थे जिससे उनके पास रस्सी होती थी। इसी सम्बन्ध में बूलर का मानना है कि- ''इस पदाधिकारी का सम्बन्ध जातक ग्रन्थों के 'रज्जू ग्राहक' (रस्सी पकड़ने वाला) से है।''[12]

प्रादेशिक अधिकारी मण्डल स्तर का प्रधान अधिकारी होता था। प्रादेशिक अधिकारी युक्त और राजुक अधिकारियों से श्रेष्ठ होता था। आज के सन्दर्भ में देखा जाये तो प्रादेशिक अधिकारी तथा राजुक दोनों युक्त नामक अधिकारी से मदद लेते थे, अपने कार्यों में। इन्हीं अधिकारियों के सन्दर्भ में अशोक अपने तृतीय शिलालेख में कहता है कि- ''उसने युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक को पंचवर्षीय दौरे पर जाने को आदेश दिया है। इस प्रकार के दौरे को 'अनुसंयान' कहा गया है। इनमें वे प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ धर्म प्रचार के भी कार्य करते थे ताकि लोगों का पारलौकिक जीवन सुखमय हो सके।''[13]

धौली तथा जौगढ़ के पहले पृथक शिलालेखों में अशोक नगर व्यवस्थापकों को आदेश देता है कि वह किसी भी नागरिक को उसकी गलती के आधार पर ही दण्ड अथवा शारीरिक यातनाएं दे। अशोक निष्ठुरता, आलस, क्रोध, द्वेष, मूर्खता आदि दुर्गुणों से लोगों को बचने के लिए कहता है। साथ-ही-साथ निष्पक्ष रहने के लिए भी प्रेरित करता है। न्याय के सम्बन्ध में अशोक चौथे स्तम्भ लेख में कहता है कि-''मैंने उन्हें (राजुकों को)

न्यायिक अनुशासन तथा दण्ड में स्वतंत्र कर दिया है जिससे वे निर्भय होकर विश्वास के साथ कार्य करें। वे सुख तथा दुख के मूल कारणों का पता करें तथा जनपद के लोगों तथा निष्ठावानों को प्रेरित करें ताकि उन्हें इहलोक तथा परलोक में सुख मिल सके।''[14] इसी के आधार पर अशोक ने न्याय व्यवस्था में दण्ड समानता एवं व्यवहार समानता स्थापित किया था।

अशोक ने दण्ड प्रक्रिया को और अधिक लचीला बनाने की कोशिश की जैसे-''यद्यपि उसने मृत्युदण्ड समाप्त नहीं किया फिर भी मृत्युदण्ड पाये हुए व्यक्तियों को तीन दिनों की मोहलत (राहत) दी जाती थी ताकि वे अपने अपराधों पर पश्चाताप कर सकें तथा अपना पारलौकिक जीवन सुखमय बना सकें।''[15] इस बात से ऐसा लगता है कि अशोक इन अपराधियों के सगे सम्बन्धियों को यह अधिकार देता था कि दण्ड को कम करवाने के लिए राजुक अधिकारियों के पास प्रार्थना पत्र भी दे सकते थे। इस तरह से अशोक ने कई अमानवीय दण्डों को समाप्त भी कर दिया, जिससे अशोक की ख्याति और उसका धम्म दूर तक नागरिकों में फैल गया।

अशोक ने अपने साम्राज्य में सूचना देने वाले तन्त्र को भी कुछ विशेष अधिकार दे दिया था जैसे- ''चाहे मैं भोजन करता रहूँ, अन्तः पुर, शयनकक्ष, ब्रज (पशुशाला) में रहूँ, पालकीय पर रहूँ, उद्यान में रहूँ, सर्वत्र जनता के कार्य की सूचना दें। मैं सर्वत्र जनता का कार्यकर्त्ता हूँ।''[16] उपर्युक्त बात से ऐसा लगता है कि अशोक जनकल्याणकारी सम्राट था, जिसके लिए जनता सर्वोपरि थी। उसका अपना सुख बाद में था। राजतन्त्र में ऐसी पहल हमेशा चिन्हित की जाती है क्योंकि तन्त्र चाहे कोई भी हो जैसे लोकतंत्र, राजतंत्र दोनों में जनता को ही महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए जिससे वह राष्ट्र विकास की ऊँची-से-ऊँची ऊँचाईयों को छू सकेगा।

इसी प्रकार पहले अशोक पृथक शिलालेख में प्रजा प्रेम के प्रति अपनी इच्छाओं को व्यक्त करते हुए कहता है- ''सभी मनुष्य मेरी सन्तान है। जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान के लिए इच्छा करता हूँ कि वे सभी इहलौकिक तथा पारलौकिक हित और सुख से संयुक्त हों, उसी प्रकार सभी मनुष्यों के लिए मेरी इच्छा है।''[17]

शोधार्थी, बौद्ध अध्ययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल : durgeshp007@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शिलालेख, गिरनार, ब्लॉक ल. इंस्क्रिप्सियो द अशोक, पृ. 93, पेरिस 195
2. चतुर्थ शिलालेख गिरनार, वही पृ. 98
3. थापर, रोमिला अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 168
4. थापर, रोमिला, पूर्वकालीन भारत, अनु., आदित्य नारायण सिंह, दिल्ली, पृ. 251
5. झा, द्विजेन्द्रनारायण एवं मोहन, कृष्ण, प्राचीन भारत का इतिहस, दिल्ली, पृ. 187
6. वही, पृ. 187
7. श्रीवास्तव, के.सी. श्रीवास्तव, एम., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 261
8. वही, पृ. 261
9. श्रीवास्तव, के.सी., कर्त्तव्यमते हित मे सर्वलोकहितं। नास्ति हि कमतरं सर्वलोकहितत्या। य च किं च पराक्रमामि अह किंति भूतानं आनणं गछेयं। इधयनानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराघयंतु च। षष्ठम् शिलालेखा।
10. के.सी. श्रीवास्तव तथा एम. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 262
11. वही
12. वही, पृ. 262
13. वही, पृ. 263
14. वही, पृ. 264
15. चतुर्थ स्तम्भ लेख।
16. सब्र कलं अशमनस में ओरोधनस्पि ग्रभगरस्पि विनितस्पि उयनस्थि सवत्र पटिवेदक अठं जनस पतिवेदेतु मे। सवत्र च जनस अठ करोमि, षष्टम् शिलालेख
17. सबे मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि हकं किंति सवेन हित सुखेनहिदलोकिक पाल लोकिककेन यूजेबूति तथा मुनिसेसुपि इच्छामि हकां, प्रथम पृथक शिलालेख

डॉ. मीरा कुमारी

''खेतौरी जनजाति'' की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन

सार:-

समाजशास्त्र की प्राथमिक अवधारणाओं में समुदाय एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। समाजशास्त्री अध्ययन की परंपरा में लघु-समुदाय के अध्ययन का एक विशिष्ट स्थान है। इन समुदायों से प्रभावित होते हैं मानवशास्त्रियों मत, इनका मत है कि संस्कृति एक नया रूप धारण कर लेती है। बाहर रहने वाले जनजाति के लोग कई मामलों में हिन्दू समाज में शामिल हो जाते हैं और हिन्दू समाज की जाति व्यवस्था में इन्हें निम्न जाति के कोटी में स्थान दिया गया है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी दृष्टांत पाये जाते हैं जिसमें आदिवासी क्षेत्र में रहने वाले गैर आदिवासी अपने को समाज के अंग मान लेते हैं। इस प्रकार इस पत्र के माध्यम से आदिवासी जनजाति खेतौरी के सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द :

सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति।

परिचय :

यह अध्ययन खेतौरी जनजाति के संबंध में है जो सामाजिक दृष्टिकोण से एक गैर आदिवासी पिछड़ी जाति है जिसका अपना एक गौरवशाली इतिहास है। खेतौरी जनजाति मूल रूप से क्षत्रिय है जो उत्तर मुगल काल में भागलपुर और मुंगेर के भीतरी ग्रामीण भाग से पलायन कर छोटानागपुर और संथालपरगना की जंगली हिस्सा में इस जाति के छोटे-छोटे राज्य भी थे, पर सामान्य रूप से यह जाति आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ी रही। बिहार सरकार के जाति संरक्षण में खेतौरी को एनेक्सर-1 में रखा गया है जो इसके पिछड़ेपन को स्पष्ट करता है।

जहाँ तक खेतौरी जाति के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का प्रश्न है मेगास्थनीज ने बताया है ये जाति मूलत: आदिवासी थी और प्रवर्तित काल में हिन्दू जाति में शामिल होने के बाद खेतौरी जाति के नाम से जाने, जाने लगे। खेतौरियों के पूर्वज के अनुसार 'रोहतास' जिले के आस-पास के ये लोग वासिन्दा थे। ये लोग शान्तिप्रिय थे। मगर हिन्दू और मुसलमान के द्वारा इनकी जमीन छीन ली गयी और उन्हें भगा दिया गया। रोहतास से भागकर वे पूरब की ओर मंदार पहाड़ी के आस-पास बसने लगे। अपना हित साधने के लिए वे हिन्दू से मिल गये और धर्म परिवर्तन करने लगे। कालांतर में वे भूइयाँ, खेतौरी और कुर्मी तीन जातियों में बंट गये।

डब्लू. बी. ओल्डहम के अनुसार खेतौरी जाति मालेर आदिवासियों की एक शाखा है जिसने वर्षों पूर्व हिन्दू संस्कृति को अपनाया था और आर्थिक दृष्टि से वे अन्य लोगों से अधिक सम्पन्न थे। इसके वंशज अभी भी संतालपरगना में पाये जाते हैं। बुकानन के अनुसार खेतौरी लोग ईंट के बने मकानों में रहते थे और इनके पराजित होने के समय तक ये लोग उन लोगों के बनिस्पत अधिक साफ हो चुके हैं, जिनके हाथों इनके पराजय हुई थी। वर्तमान समय में पाये जाने वाले भग्नावशेषों से इस बात की पुष्टि होती है। तारनहार नामक स्थान पर खेतौरियों द्वारा निर्मित ईंट के मकान का अवशेष पाया गया है। यह स्थान वामदाह से 1 मील की दूरी पर है। इन ईंटों के मकान का अवशेष वर्तमान समय के ईंटों से बिल्कुल भिन्न था। कर्णगढ़

नामक एक छोटे से गाँव में जो काकरिया निरीक्षण भवन से दो मील की दूरी पर है, एक कीले का अवशेष मिलता है। स्थानीयों लोगों के अनुसार यह जिला खेतौरियों का था। खेतौरियों की संपदा के बारे में बहुत सारी कहानियां प्रचलित हैं जिन पर लोग विश्वास करते हैं।

सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण उत्तरदाताओं के लिए एक अंतरिम हिस्सा हैं, क्योंकि समाजशास्त्रीय व्यक्ति सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण की उत्पत्ति के रूप में देखता है। समाजशास्त्रीय साहित्य में व्यक्ति को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति और समाज में अविच्छेद संबंध है। हॉब्स के अनुसार प्रकृति की दशा में पाये जाने वाली व्यवस्था एक दूसरे के अनुकूल नहीं थी, क्योंकि ये अशान्ति से भरपूर थी जो मानव स्वभाव से अलग थे। इस अवस्था से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य ने समाज की स्थापना का निर्णय लिया। एडम स्मिथ का विचार था कि अस्तित्व के लिये आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है और इसी विचार ने व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था बनाने की प्रेरणा प्रदान किया। 18वीं सदी के व्यक्तिवादियों का विश्वास था कि हर मानव जन्म से स्वतंत्र था पर धीरे-धीरे वह कानून, व्यवस्था और आत्मरक्षा हेतु सामाजिक बंधनों में जकड़ता चला गया।

व्यक्ति और समाज से संबंधित दूसरा सिद्धांत सामाजिक अवयव का है। इस सिद्धांत के अनुसार हमारे जैविकीय सावयव की तरह समाज को भी सावयव की तरह समझा जाना चाहिए। व्यक्ति सामाजिक सावयव की एक जरूरत है। विभिन्न सामाजिक मनोवैज्ञानिकों जैसे मैक डुगल और अन्य ने समूह मस्तिष्क के सिद्धांत का प्रतिपादन किया और बताया कि संस्थाएं और संगठन दोनों करते हैं। उसका अर्थ है कि व्यक्ति के मस्तिष्क की तरह एक सामूहिक मस्तिष्क भी होना चाहिए और जैसे व्यक्ति अपने मस्तिष्क के आधार पर काम करता है उसी प्रकार समाज या एक समूह को सामूहिक मस्तिष्क के आधार पर काम करना चाहिए।

व्यक्ति और समाज की अन्योन्याश्रिता की अवधारणा कुछ ऐसे बच्चों के उदाहरण द्वारा और भी समझा जा सकता है, जिसे और भी प्रगाढ़ किया जा सकता है, जिसे मानव समाज से बाहर जानवरों द्वारा पाला गया। ऐसे बच्चे विभिन्न देशों में पाये गये हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी के न्यूरेम्बर्ग नामक नगर में पाया जाने वाले कास्पर हाउजर, नेपाल में कमला और आमला, लखनऊ में रामू का पाया जाना और एक अमरीकन अन्ना का पाया जाना, जिसे 6 माह की आयु से ही मानव से अलग 5 वर्षों तक रखा गया था। इन बच्चों को देखने से इस बात का पता चलता है कि जिन जानवरों के बीच वह पला है उस जानवर का गुण और लक्षण ग्रहण कर लिया है और मानवीय गुणों को विस्मृत कर गया। वह इस बात को साबित करता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति में मानव सदृश्य गुणों के विकास करने के महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है।

एक व्यक्ति का विकास दो प्रकार के वातावरण में होता है प्रथम, प्राकृतिक वातावरण और दूसरा मानव निर्मित पर्यावरण प्राकृतिक या शारीरिक पर्यावरण के रास्ते में अनेक बाधाएं हैं और व्यक्ति इन अवरोधों के निराकरण के खोज में लगा हुआ है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो कुछ पाता था उसे वह एक पीढ़ी को हस्तांतरित करता चला गया, परंतु हस्तांतरण की प्रक्रिया के हर एक स्तर पर वह उसमें कुछ सुधार और नवीनीकरण करता चला गया। मानव ने मशीन, तकनीकी, प्रथा, मूल्य आदि को विरासत में पाया और यथार्थ विचारों के साथ ठोस तत्वों का मिश्रण कर एक बनावटी पर्यावरण का निर्माण किया जिसे मानव निर्मित कहा जाता है और जो सांस्कृतिक पर्यावरण के नाम से जाना जाता है। ऐसा मनुष्य ने प्राकृतिक पर्यावरण के साथ अच्छे ढंग से अनुकूलन न करने के उद्देश्य से किया और समाजशास्त्रियों ने सांस्कृतिक पर्यावरण का नाम दिया। संस्कृति मानव का सोचने एवं करने की एक सीखा हुआ व्यवहार है जो एक समूह सदस्य से दूसरे समूह के सदस्य को हस्तांतरित किया जाता है और यह हर व्यक्ति को दूसरे समूह के सदस्य को हस्तांतरित किया जाता है और यह हर व्यक्ति को उनके जीवन की समस्याओं के समाधान का एक तैयार एवं सत्यापित तरीका प्रदान करता है। जबकि इस प्रकार के प्रदत्त आदतों को जो पुरानी पीढ़ी द्वारा नयी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है, कुछ अन्य प्राणियों में भी देखा जा सकता है। संस्कृति मानव के गुणों का एक महत्वपूर्ण फ्लू है, यह एक आवश्यक गुण है और कभी भी एक व्यक्ति का आविष्कार नहीं हो सकता है।

मानव समाज पर प्राकृतिक पर्यावरण की अपेक्षा सांस्कृतिक पर्यावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। सांस्कृतिक पर्यावरण व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण

भूमिका अदा करता है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है मनुष्य कुछ क्षमताओं एवं गुणों को लेकर जन्म लेता है, परंतु समाजीकरण के परिणामस्वरूप उसकी आदतों, विश्वासों व्यवहारों आदि का विकास उस संस्कृति के अनुसार होता है जिसमें उसने जन्म लिया है और तब उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जिसमें उसने जन्म लिया है और तब उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यही कारण है कि विभिन्न समाजों में रहने वाले व्यक्तियों का व्यवहार प्रतिमान अलग-अलग होता है। दूसरा, सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव व्यक्ति के आर्थिक जीवन पर भी देखा जा सकता है। हर समाज का आर्थिक विकास बहुत हद तक समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान एवं सांस्कृतिक में भौतिक तत्वों के पूर्ण समावेश पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका संस्कृति के भौतिक अंश के विकास का अग्रणी बन सकता है। दूसरे शब्दों में यह आर्थिक विकास का अग्रणी हो सकता है। प्रोटेस्टेंट धर्म जो की संस्कृति का एक हिस्सा है, मेकाइवर के अनुसार पूँजीवाद के विकास में अहम् भूमिका निभा सकता है। समाज वैज्ञानिकों खासकर समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह कहना प्रारंभ कर दिया है कि विभिन्न समाजशास्त्रीय आधार के संबंध में विचारों ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और वह धरातल पर जमता गया, तब एक अलग शाखा जिसे अर्थशास्त्री का समाजशास्त्र या आर्थिक समाजशास्त्र कहा गया है ने विकसित होना प्रारंभ किया। तृतीय, सांस्कृतिक पर्यावरण समाज के प्रौद्योगिकरण विकास को भी प्रभावित करता है। एक समाज में तकनीकी विकास की दिशा उस समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है। वह संस्कृति ही जो यह निर्णय करता है कि कारखानों में उपभोक्ता संबंधी सामानों का अधिक उत्पादन होगा या युद्ध संबंधी सामग्री का। साथ ही इसके द्वारा यह भी निर्णय लिया जाता है कि मानव के रहने की स्थिति में सुधार लेने के लिए अनुशक्ति का प्रयोग किया जाय या मानवता को समाप्त करने में किया जाय। चतुर्थ, सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रभाव को सामाजिक संरचना और संगठन पर भी देखा जा सकता है। विभिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में सामाजिक संरचना और संगठन से विभिन्न प्रकार में पाये जाते हैं। कुछ खास संस्कृति में संयुक्त परिवार के प्रमुखता को देखा जाता है और दूसरे संस्कृति में व्यक्तिगत परिवार को प्रश्रय दिया जाता है। विवाह का प्रकार भी विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न हैं। पांचवां राजनीतिक संगठन भी सांस्कृतिक वातावरण द्वारा प्रभावित होता है। हर समाज में राजनैतिक संगठन का भी जन्म उस आदर्श को भी निर्धारित करती हैं जिसको इसका राजनैतिक संगठन ऋण लेना चाहे वह प्रजातंत्र हो, राजतंत्र हो या समाजवाद हो संस्कृति द्वारा निर्णय लिया जाता है। अन्त में संस्कृति सामाजिक समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा बच्चों में जिन गुणों को संचारित किया जाता है, सांस्कृतिक आदर्श और मूल्यों के साथ एक ही समय रहती है। हर समाज अपनी संस्कृति के अमूल्य सदस्यों को बनाने में रूचि रखता है।

हालांकि अर्थ जोकि सामाजिक व्यवस्था की एक उपव्यवस्था है, की भी सामाजिक व्यवहार के विश्लेषण का एक स्वतंत्र आधार माना जा सकता है। अनेकों सामाजिक विचारकों खासकर मार्क्स ने मानवीय व्यवहार और अभिप्रेरणा को एक ठोस रूप प्रदान करने में अर्थ को एक महत्वपूर्ण कारक माना जाता है।

मार्क्स मानव जीवन और सामाजिक जीवन में अर्थ के महत्व की इतनी वकालत किया कि उन्हें एक आर्थिक निर्धारण के रूप मे देखा जाने लगा।

समाजशास्त्री अर्थ को अंतर्माही उपव्यवस्था के रूप में मानता है जोकि कारखानों, रेलवे, कच्चा माल आदि जैसे सामान्यकृत सुविधाओं को उत्पादित करता है ताकि समाज द्वारा प्राप्त होने वाले लक्ष्यों की प्राप्ति सरल हो सके।

अर्थशास्त्री विभिन्न समूहों, परिवारों और अन्य संगठनों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले सामानों के उत्पादन और वितरण का अध्ययन करता है। पारसन्स ने उस समाज को प्रकार्यात्मक व्यवस्था के रूप में देखा है। इस प्रकार अर्थ व्यवस्था को व्यवसाय की अंतिम बिंदु नहीं कहा जा सकता है। किसी भी समाज के लिए व्यवसायिक क्षेत्र का महत्व उसके व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता से है।

आज के युग में व्यक्तियों के एक बहुत बड़े समूह द्वारा आर्थिक व्यवस्था की प्राथमिकता को स्वीकार किया गया है। राजनीतिक, अर्थशास्त्री यहाँ तक कि साधारण व्यक्ति आर्थिक स्थिति के संबंध में गंभीर चिंता व्यक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें यह विश्वास है कि आर्थिक दूरी को समाप्त किया जा सकता है जोकि आज की दुनिया में शांति बनाए रखने के लिए अति आवश्यक। वे सभी देश जिनको

मानवशास्त्रियों ने अभी तक अभौतिक संस्कृति से युक्त बताया है। क्रमश: बीसवीं सदी के आर्थिक निर्णायकवाद के विश्वास को अपनाने लगे हैं।

एक अन्य विश्वास का विकास आर्थिक प्राथमिकता के फलस्वरूप हुआ है जिसके अनुसार लोग मानते हैं कि यदि आर्थिक सत्यता में परिवर्तन किया जाये तो समाज के अन्य क्षेत्रों में भी परिवर्तन आएगा। दूसरे शब्दों में यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण समाज के अन्य क्षेत्र भी अपने को बदलने का प्रयास करते हैं। कारण इस प्रकार नहीं करने से बदलते हुए अर्थ व्यवस्था के कारण उनका अनुकूलन नहीं रह पयेगा।

परंतु यह विचार सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसी भी समाज की अर्थव्यवस्था उसके अन्य तत्वों से भी व्यवस्थाओं से जुड़े होते हैं। सांस्कृतिक व्यवस्था में किसी नये तत्वों के सम्मिलन से निश्चित रूप से इसका प्रभाव समाज की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है। इस प्रकार हम इस बात को स्वीकार अवश्य करते हैं कि आर्थिक कारकों के द्वारा सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाया जा सकता है। परंतु आर्थिक व्यवस्था में या तत्वों से या उपव्यवस्थाओं से अंत:संबंध को अस्वीकार करने पर हमारी समझ भ्रांतिपूर्ण हो सकती है। आर्थिक समाजशास्त्रियों ने आर्थिक चरों समाजशास्त्रीय पहलुओं जैसे भूमि, श्रम आदि का अध्ययन किया है। बेबर के अनुसार समाजशास्त्र सांस्कृतिक घटनाओं को तीन दृष्टिकोण से अपनाते हैं। उनके अनुसार किसी भी वास्तविकता का एक ही समय इन तीनों दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में उत्तरदाताओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के संबंध में विवरण प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम सारणी के अंतर्गत उत्तरदाताओं के पेशा के संबंध मे जानकारी प्राप्त की गयी और इस हेतु विभिन्न उम्र के उत्तरदाताओं से संपर्क किया गया। यह पूछे जाने कि आप का पेशा क्या है, के जवाब में 30 वर्ष से कम उम्र के कुल उत्तरदाताओं में से 29.16 प्रतिशत ने कृषि को अपना पेशा बताया, 33.33 प्रतिशत ने नौकरी, 12.50 प्रतिशत ने व्यवसाय और 25.00 प्रतिशत ने मजदूरी को अपना पेशा बताया। जहां तक 40 वर्ष के उत्तरदाताओं का संबंध है, कुल उत्तरदाताओं के 37.76 प्रतिशत इस उम्र के उत्तरदाताओं में से 37.14 प्रतिशत ने नौकरी, 17.14 प्रतिशत ने व्यवसाय, 1.90 प्रतिशत ने कृषि और 23.80 प्रतिशत ने मजदूरी बताया। 41 में से 50 वर्ष के बीच के उत्तरदाताओं में से 29.89 का पेशा कृषि, 43.29 प्रतिशत का नौकरी, 15.46 प्रतिशत का व्यवसाय और 11.34 प्रतिशत का पेशा मजदूरी था जबकि 50 वर्ष से ऊपर के कुल उत्तरदाताओं में से 50.00 प्रतिशत तो कृषि करते थे, 21.42 प्रतिशत नौकरी में थे और 28.57 प्रतिशत व्यवसाय करते थे। इस सारणी से इस बात की जानकारी प्राप्त होती है कि कुल उत्तरदाताओं में से 17.26 प्रतिशत की उम्र 30 से कम, 37.76 प्रतिशत की उम्र 30 से 40 वर्ष, 37.89 प्रतिशत उत्तरदातओं की उम्र 41 से 50 वर्ष के बीच थी जबकि 10.7 उत्तरदाता 50 वर्ष से अधिक थे। साथ ही साथ कुल उत्तरदाताओं में से 26.77 प्रतिशत व्यवसाय और 17.26 प्रतिशत मजदूरी करते थे। (सारणी-1)

द्वितीय सारणी के अंतर्गत विभिन्न उम्र के उत्तरदाताओं की वैवाहिक स्थिति के संबंध में जानकारी दी गयी है। कुल उत्तरदाताओं का 8.99 अविवाहित, 77.33 प्रतिशत विवाहित एवं 13.66 प्रतिशत विधुर थे। कुल अविवाहित उत्तरदाताओं मे से 25.00 प्रतिशत उत्तरदाताओं की उम्र 30 वर्ष से कम, 7.61 प्रतिशत की 30 से 40 वर्ष के बीच, 5.15 प्रतिशत की उम्र 41 से 50 वर्ष के बीच थी। कुल विवाहित उत्तरदाताओं मे से 30 वर्ष से उम्र के 68.75 प्रतिशत, 30 से 40 वर्ष के बीच का 82.85 प्रतिशत, 41 से 50 वर्ष के उम्र के 79.38 प्रतिशत एवं 64.26 प्रतिशत उत्तरदाता 50 वर्ष से अधिक उम्र के थे। कुल विधुर उत्तरदाताओं में से 6.25 प्रतिशत की उम्र 30 वर्ष से कम, 9.52 प्रतिशत की उम्र 30 से 40 वर्ष के बीच, 15.46 की उम्र 41 से 50 वर्ष एवं 35.71 प्रतिशत उत्तरदाताओं की उम्र 50 वर्ष से अधिक थी। (सारणी-2)

प्रस्तुत सारणी में उत्तरदाताओं के शैक्षणिक स्तर का पता लगाया गया और विभिन्न आयु के समूहों के आधार पर विश्लेषित किया गया। कुल उत्तरदाताओं में से 30 वर्ष से कम उम्र के 17.26 प्रतिशत उत्तरदाताओं में से 8.33 प्रति शिक्षित, 41.66 प्रतिशत मैट्रिक तथा 37.50 प्रतिशत मैट्रिक से अधिक शिक्षा प्राप्त किए हुए थे। 30 वर्ष से 40 वर्ष की आयु के उत्तरदाताओं में 12.38 प्रतिशत अशिक्षित, 35.23 प्रतिशत शिक्षित, 33.33 प्रतिशत मैट्रिक तक और 19.04 प्रतिशत मैट्रिक से अधिक शिक्षा प्राप्त थे। 41 से 50 वर्ष की आयु के कुल 34.89 प्रतिशत उत्तरदाताओं में से

48.45 प्रतिशत उत्तरदाता अशिक्षित, 32.98 प्रतिशत शिक्षित, 13.40 प्रतिशत मैट्रिक तक और 5.15 प्रतिशत उत्तरदाता मैट्रिक से अधिक शिक्षित थे और 50 वर्ष से ऊपर के उत्तरदाताओं में से 64.28 प्रतिशत अशिक्षित 21.42 प्रतिशत शिक्षित,14.28 प्रतिशत उत्तरदाता मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त किए हुए थे। (सारणी-3)

सारणी संख्या-1

उम्र × पेशा

पेशा /उम्र	कृषि	नौकरी	व्यवसाय	मजदूरी	कुल
30 वर्ष से कम	29.16	33.33	12.50	25.00	12.26
30 से 40 वर्ष	29.16	33.33	12.50	25.00	12.26
41 से 50 वर्ष	21.90	43.29	15.46	11.34	34.89
50 वर्ष से अधिक	50.00	21.42	28.57	–	10.07
कुल	**28.77**	**37.05**	**16.90**	**17.26**	**275**

सारणी संख्या-2

उम्र × वैवाहिक स्थिति

वैवाहिक स्थिति / उम्र	अविवाहित	विवाहित	विधुर	कुल
30 वर्ष से कम	25.00	68.75	6.25	17.26
30 से 40 वर्ष	7.61	62.85	9.52	37.76
41 से 50 वर्ष	5.15	79.38	15.46	34.89
50 वर्ष से अधिक	–	64.28	35.71	34.89
कुल	**8.99**	**77.33**	**13.66**	**275**

सारणी संख्या-3

उम्र × शिक्षा

शिक्षा / उम्र	अशिक्षित	शिक्षित	मैट्रिक तक	मैट्रिक से अधिक	कुल
30 वर्ष से कम	8.33	12.50	41.66	37.50	17.26
30 से 40 वर्ष	12.38	35.23	35.33	19.05	37.76
41 से 50 वर्ष	48.45	32.98	13.40	5.15	34.79
50 वर्ष से ऊपर	64.28	21.42	14.28	–	10.07
कुल	**64.28**	**21.42**	**25.89**	**15.46**	**275**

समाजशास्त्र विभाग

विव एसव जेव कॉलेज, राजनगर, मधुबनी

संदर्भ सूची

1. सिदांतालंकार, सत्यव्रत, समाजशास्त्र के मूल तत्व, विजय कृष्ण, लखनपाल एण्ड कम्पनी, देहरादून
2. तिलारा, के. एस., समाजशास्त्र के तत्व, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ, 1982
3. फ्रायड, जूलियन, सोशियोलॉजी ऑफ मेक्सवेयर, एलेन लेन, दी पेंगुइन प्रेस, लंदन
4. मुखर्जी, आर. एन., प्रारंभिक समाजशास्त्र, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1980
5. स्लैमसर, एन. जे., सोशियोलॉजी एन इन्ट्रोडक्सन, वीली ईस्टन (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 1970
6. वनर्स, ए. ई., मॉडर्न इकॉनोमिक्स, हरकोर्ट प्रेस, न्यूयार्क, 1053

अनुभव से अर्थ तक की यात्रा : राजी सेठ की कहानियाँ

लक्ष्मी*

डॉ. पूनम शर्मा**

सार :

कथाकार राजी सेठ ने अपने अनुभवों को विभिन्न अर्थ पंक्तियों के साथ अपनी कहानियों में उतारा है। ये कहानियाँ आधुनिक होते समाज पर सवालिया निशान हैं, जहां स्त्री आज भी बेड़ियों में जकड़ी स्वतंत्र होने के लिए छटपटा रही है। शरीर रूपी पिंजरे में कैद विचार और भाव का वह पक्षी अपनी जमीन, अपना सम्मान पाने के लिए आतुर है, जिसे राजी सेठ ने मूर्तिवान कर पाठकों के लिए छोड़ दिया है।

बीज शब्द :

वैमनस्य, आत्मसात्, त्रासदी, आत्मनिष्ठ, कर्तव्यपरायण, मूर्तिवान, संघर्षशील।

मूल लेख :

जब रचना की घड़ी आती है तो परिवेश को लेने जाना नहीं पड़ता। वह भीतर ही होता है---- कब-कब की जीवन श्रृंखलाओं से आबद्ध। वह सतत वहां स्थित होता है क्योंकि जीवन में बने होना सतत है। वैसे भी जीवन का प्रसार और विस्तार एक लंबा रास्ता है-----अपने आवेगों, दबावों और समस्याओं से भरा। उसकी चंगुल से कोई जितनी दूरी तक छूट कर आता है, उतना भर रचना-प्रवृत्त हो पाता है, क्योंकि यह प्रवृत्ति अपने-आप में एक बहुत बड़ा इंवॉल्वमेंट है।''[1]

कथाकार राजी सेठ का उक्त कथन उनके अनुभवों को बयां करता है, जहां कथाकारा सृजन करते समय अपने अनुभवों को साथ लिए चलती है। राजी सेठ का कहानी संसार अपने आप में अनोखा और सामाजिक सत्य को बयां करता चलता है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन अनेक सुखों-दुखों, उतार-चढ़ावों को साथ लिए चलता है। ये सभी अनुभव उसे कहीं गहरे में प्रभावित करते हैं। बस गहरे जीवन रूपी सागर में ये हर्ष और विषाद की मथानी अनुभव रूपी उस नवनीत को हमारे सामने लाती है जो किसी को देवत्व की कोटि में खड़ा कर देता है तो कोई इन्हें ना झेल पाने के कारण हासिए पर जा खड़ा होता है। साहित्यकार अपने अनुभवों को पाठक के साथ साझा कर मनुष्य को उन हीन भावनाओं का शिकार होने से बचाने की पुरजोर कोशिश करता है।

राजी सेठ का कहानी संसार मन को भीतर तक झकझोरने वाला है जिसका प्रत्येक पात्र मन पर अमिट छाप छोड़, अपनी उपस्थिति दर्ज करवाता है। राजी जी की कहानियों का कथ्य पक्ष बहुत ही मजबूत और विस्तार लिए हुए है। समाज के प्रत्येक वर्ग में नारी की स्थिति, देश-विभाजन के पश्चात् की त्रासदी, समाज के शोषक वर्ग के विभिन्न पहलू और हर वह आम व्यक्ति, जो समाज की दरिंदगी का शिकार हुआ है को उन्होंने अपनी कहानियों का अंग बनाया है। पीढ़ियों के बीच का वैमनस्य और ऊहापोह उनके रचना संसार को सजीव बना देता है। 'यह कहानी नहीं' नामक कहानी संग्रह की कहानी 'परतें' विख्यात कहानी है, जिसमें लेखिका ने तिन्नी नामक नारी के ऊपर हुए पुरुष अत्याचार को व्यक्त किया है। सत्ताधारी पुरुष ने स्त्रियों पर बर्बरता और अत्याचार करने का अपना जन्मसिद्ध अधिकार बना लिया है। अमोल राय नामक व्यक्ति तिन्नी की कॉलोनी का प्रबंध समिति अध्यक्ष है। रामरिख वहां का चौकीदार है, जिसे अमोल राय ने ही रखा है। अमोल राय की पत्नी रुचि घर पर नहीं है। इसीलिए

उनके घर पर काम करने वाली तिन्नी घर पर अकेली है। कॉलोनी में चारों तरफ हत्या और लूट-खसोट का वातावरण होने के कारण पुलिस वाला दिलावर प्रत्येक घर की जांच पड़ताल कर रहा है। तिन्नी के घर का दरवाजा खुलवाने के बाद उसे देखकर वह उसे पाने की लालसा रखने लगता है-''बाल्कनी से इस समय गुम होता चेहरा दिलावर को थोड़ा वहशी बना गया। कुछ और समझ में नहीं आया तो वह रामरिख के प्लॉट पर टहल गया। वह रामरिख का भरोसा करती है। उसके भरोसे के बिना तो वह घर की एक झिर्री तक ना खोलेगी। खुले में उसे धर दबाना असंभव जैसी बात है, वह भी अपनी गश्त के इलाके में।''[2] दिलावर बार-बार समय पाकर रामरिख के पास आकर तिन्नी के हाल-चाल जानना चाहता है। साथ ही तिन्नी को पाने में रामरिख को भी हिस्सा देना चाहता है-''मैं यह नहीं कहता कि वह पूरी मेरी ही हो। कभी-कभार तू भी दम लगा लेना। तेरी तो वहां पहुँच ही पहुँच है और तेरे पास अलग अकेला जैसा ठिकाना भी है।''[3] परंतु इस अत्याचारी समाज में स्त्री को केवल और केवल अपने अधिकार की वस्तु समझने वाले दिलावर कम नहीं हैं। दिलावर इससे पहले तिन्नी तक पहुंचता, किसी और ने ही तिन्नी के साथ दुर्व्यवहार का प्रयास किया। दिलावर ने बदहवास तिन्नी को अपनी ओर आते देखा-''उसका एक हाथ अपने सीने पर बंधा था। दूसरा पैरों में अटक-अटक जाती स्कर्ट की निचाई को झटकार-फुटकार रही थी। वह बार-बार पीछे मुड़-मुड़कर देख रही थी और दौड़ रही थी. ... नंगे पैर हाँफती हुई.....बेहताशा। पीछे कोई भी तो नहीं था। दिलावर ने ध्यान से देखा।''[4] तिन्नी जैसी युवतियां, जो गांव से शहर में आकर काम करके अपनी जिंदगी बसर कर रही हैं, उन युवतियों पर पुरुष अपना एकाधिकार मानकर चलता है और उसे पाने की बलवती इच्छा उस युवती को शोषण का शिकार बना देती है।

इसी तरह उनकी 'बाहरी लोग' कहानी देश विभाजन के शिकार उन व्यक्तियों की पीड़ा को बयां करती है जो आज भी इस हादसे को भुला नहीं पाए हैं। देश के दो भाग हो जाने से अनेक युवतियां अपने पति को खो बैठी थीं। अब उनके पास केवल उनके बेटे ही थे जिससे वे आस लगाकर बैठी थी। लेकिन बेटा हो या बेटी सभी अपने कार्यों में व्यस्त हैं। उस बेवा बुढ़िया को कोई नहीं समझता। शहर के यांत्रिक जीवन में व्यस्त बेटे की नजर बुढ़िया मां के दुख को देख ही नहीं पाती। यह अलग तरह की अधिकार भावना है, जहां पत्नी का पति के प्रति दु:ख व्यक्त करने का अधिकार भी मानो छीन सा लिया गया है। सभी यह मानकर चलते हैं कि बुढ़िया को कोई काम तो है नहीं, इसीलिए पुरानी यादों के पिटारे को खोलकर बैठ जाती है। वे उसके दु:ख को समझ कैसे सकते हैं, जिन्होंने उस विभाजन की त्रासदी को अपनी नग्न आंखों से देखा ही नहीं और उसे शरीर से झेला ही नहीं। इतिहास की उस भयावह स्थिति से जो रूबरू नहीं हुआ वह बुढ़िया की पीड़ा को समझ कैसे सकता है? बेटे के लिए वह बुढ़िया मां नए नगर में आकर भी बस जाती है, परंतु वह अपनी यादों को भुला नहीं पाती। लेखिका उस बुढ़िया मन की स्थिति को समझती है, इसीलिए उसे वाणी देती है। उसके दु:ख को आत्मसात कर लेखिका लिखती है-''यही एक चेहरा है जो इस मलबे में भी प्रज्वलित होकर चमक रहा है। मलबे से विद्रोह ठाने बैठा है।''[5] बुढ़िया का अपने बेटे के प्रति प्रेम अविचल है। पुत्र के प्रति प्रेम और देश विभाजन की त्रासदी को झेलती स्त्री किस प्रकार निर्विकार भाव से अपनी यादों को सहेजती, उन स्मृतियों को हृदय से लगाए रहती है, इसे समझने में सभी असमर्थ हैं। 'मैं तो जन्मा ही नहीं' भी राजी सेठ की कहानी है। इसमें पुरुष-प्रधान समाज में किस प्रकार औरत अपने उत्तरदायित्व को कभी भी, किसी भी परिस्थिति में दरकिनार नहीं कर सकती, इसको नैना और चिक्की जैसी नारी पात्रों के माध्यम से इतनी सहजता से बयां किया है कि जीवन का यथार्थ हूबहू सामने आ खड़ा होता है। नैना जिससे प्रेम करती है, अपने घर की मजबूरियों के कारण उसके पास जा नहीं पाती। उसका प्रेमी उसकी मजबूरियों को समझ नहीं पाता और उससे दूर चला जाता है ताकि नैना स्वयं उसके प्रेम के वशीभूत हो उसके पास चली आए। उसके प्रेमी के जन्मदिन के अवसर पर उसके ऑफिस में उसके साथ काम करने वाली चिक्की का फोन आता है। वह अपने सभी साथियों के साथ उसके घर जाकर उसका जन्मदिन मनाती है। परंतु नायक उसके खुले स्वभाव के कारण उसे गलत समझता है। इस पर चिक्की का कहा हुआ वाक्य उस व्यक्ति की समझ और सोच को बदल देता है- ''इसका मतलब यह नहीं कि पैसा ही सोचा जाता है सदा। आत्मनिष्ट को चालूपन से जोड़ लेना, ऐसी गिरी पड़ी वस्तु नहीं हूं मैं। मैं आत्मनिर्भर हूं।''[6]

आज भी समाज में इस तरह की मानसिकता वाले पुरुषों को देखा जाता है जो आत्मनिर्भर स्त्री को उसकी उच्छृंखलता के रूप में देखते हैं। पुरुषों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन कर अपनी कमियों को उस पर थोपकर उसका दोहन किया है। आजादी के 75 सालों बाद भी स्त्री पुरुष की इसी संकुचित मानसिकता के साथ जीने को विवश देखी जाती है। इस संदर्भ में राजेन्द्र कुमार गढ़वालिया का कथन सही प्रतीत होता है-''अपने-अपने संदर्भों में टूटे हुए किन्तु भीतर की स्वाभाविक मांग के कारण परस्पर जुड़े हुए नर-नारी परंपरागत मूल्यों की असारता को स्वीकारते हुए पूर्ण आसक्ति और समर्पण के क्षणों की टोह में भटकते नजर आते हैं''[7] परिवार को चलाने, उसे बढ़ाने का सारा जिम्मा स्त्री पर है। सास कही जाने वाली, घर में उपस्थित दूसरी स्त्री भी पितृसत्तात्मक सोच के कारण उस पर अत्याचार करती देखी जाती है।

राजी सेठ की कहानी 'अकारण तो नहीं' में नायक मधुकर पिता बनने में असमर्थ है। लेकिन सारा दोष पत्नी दिपाली को दिया जाता है। अपने पुरुषत्व पर घमंड करने वाला सुधाकर इसे सहजता से स्वीकार नहीं पाता। दिपाली जानती है कि कमी सुधाकर में है, किंतु वह किसी को यह बात बता नहीं सकती और स्वयं के लिए किसी तरह का निर्णय लेने का अधिकार उसे नहीं है। जब सुधाकर दिपाली को अपने घर चले जाने के लिए कहता है, तो दिपाली अपने अस्तित्व के बारे में सोचती है-''मैं कोई स्त्री नहीं नाद हूँ, एक निर्जीव जैसी वस्तु जो भेजी और लायी जाए, जिस किसी को जरूरत हो।''[8] आहत दिपाली मन ही मन में ठान लेती है कि वह जाएगी लेकिन वापस नहीं आएगी। इस तरह के अस्वस्थ दाम्पत्य संबंध समाज में आसानी से मिल जाते हैं। स्त्रियों पर हो रहे इस तरह के अत्याचार पर निर्मला जैन कहती हैं-''कड़वी सच्चाई यह है कि पुरुष प्रधान समाज में सदियों से महिलाओं का दमन और शोषण होता आ रहा है। समाज में उनकी भूमिका और उनकी सामाजिक हैसियत का निर्धारण पुरुष के द्वारा हुआ है।''[9]

इसी तरह स्त्री मन के ऊहापोह को चित्रित करती कहानी है-'दलदल'। अमर और आरती पति-पत्नी हैं। पति की नौकरी ना होने के कारण घर का वातावरण हमेशा आग उगलता सा दिखाई देता है। अमर को आरती का बॉस की जी हुजूरी करना पसंद नहीं। लेकिन आरती को बॉस वर्मा के आसपास रहने में कोई भय नहीं। उसे कहीं ना कहीं उम्मीद है कि मिस्टर वर्मा उसके पति की नौकरी लगवाने में उसकी मदद अवश्य करेंगे। इसीलिए वह भी बिना कहे उनके काम करने में तत्पर दिखाई देती है। जीवन के कटु सत्य से वह भली-भांति परिचित है, तभी तो वह ''वर्मा साब का काम ओढ़ पाती है क्योंकि वर्मा साब से उसे अतिरिक्त प्रतिदान मांगे जाने का भय नहीं है। कलुषित कुटिल संसार के हिसाब से जमीन का वह टुकड़ा उसे साफ-सुथरा लगता है। निपुण, दक्ष, कर्तव्य-परायण होना वहां काफी है।''[10] आरती अमर के सपने को जानती है। वह ब्रिगेडियर या जनरल तक सीढ़ी चढ़ना चाहता था। परंतु पेट्रोलिंग करते समय घुटने से नीचे की टांग शरीर से निकल गई, जिसने अमर को केवल शरीर से ही नहीं, मन से भी जख्मी कर दिया। इस जख्म के तहत उसने ग्राउंड पोस्टिंग लेने से मना कर दिया और रिटायरमेंट मांग लिया। रिटायरमेंट के बाद अमर घर पर ही रहता है जिससे उसकी मानसिक अवस्था में केवल क्रोध ने स्थान ले लिया है। आरती पति के साथ अपने रिश्ते को बचाए रखने और उसकी चिंता फिक्र में सदैव इसी कशमकश में लगी रहती है कि कहीं अमर को नौकरी मिल जाए। इसी सिलसिले में वह अपने बॉस वर्मा को अमर की नौकरी के लिए कहती है। परंतु अमर पत्नी की बॉस के प्रति चापलूसी मानकर नौकरी नहीं चाहता और कहता भी है-''तुम समझती क्या हो, यह मर्दों की दुनिया है, इसे मैं अच्छी तरह जानता हूं।''[11] उसे हर वक्त यही लगता है कि कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता। शायद उसे आरती और वर्मा के रिश्ते को लेकर शक है। वर्मा ने उसे मिलने के लिए बुलाया, तब भी वह उसी शक्की स्वभाव का परिचय देता दिखाई देता है-''पता नहीं अमर ने क्या समझा। उसके कानों की लवें लाल हो गईं। यह आदान-प्रदान उसे अर्थवान लगा। कुटिल लदा हुआ। कोई तो बात होती है बीच में। ऐसे ही कोई किसी के लिए कुछ नहीं करने बैठता।''[12] इसी धारणा को मन में बसाए अमर वहां से चला जाता है। लेकिन मन ही मन चलने वाली कशमकश शायद उसे सही और मुनासिब सोचने ही नहीं देती। वह नौकरी मिलने तक का इंतजार नहीं करता और शहर, परिवार को छोड़ किसी दूसरे काम के लिए दूसरे शहर चला जाता है। अमर का पत्नी आरती पर अविश्वास, स्वयं कुछ न कर पाने की हीन-भावना उसे पुरुष बनाती है और

पुरुष को औरत पर शक, मानसिक उत्पीड़न और शोषण करने का अधिकार देती है। पुरुष स्त्री को पीड़ा देने का अधिकार जन्म से लेकर आया है। पितृसत्तात्मक सोच के कारण स्त्री भी स्त्री को पीड़ा देने में कम नहीं। अमर की मां, बहन सुमन भी आरती के प्रति कटु व्यवहार रखती हैं। घर में कामकाजी महिला की स्थिति बहुत ही दयनीय हो गई है। इस यंत्र की तरह चलते आधुनिक युग में स्त्री भी मशीनी पुर्जों की तरह परिवार में लगातार खट रही है। समय-समय पर पुरुष के प्रश्नों, शक करती उसकी निगाहों से बेचैन स्त्री स्वयं से प्रश्न करती भी दिखाई देती है-''आखिर क्यों? वह सामने वाले के लिए इतनी जमीन छोड़ती है। तो उसे भी क्यों नहीं मिलनी चाहिए जमीन, सम्मान। बदले में ही सही।''[13] परंतु इन प्रश्नों का कोई उत्तर उसे नहीं मिलता। उसकी स्वभावगत विशेषता ही उसे जंजीरों में जकड़े रखती है, जहां उसके लिए कोई जगह नहीं। इसी संदर्भ में डॉ. पुष्पपाल सिंह का कथन महत्वपूर्ण है-''कहीं यह अलगाव, असंतोष और संबंधों की दरकन किसी तीसरे की उपस्थिति के कारण तो कहीं दूसरे ओर व्यर्थ के शक से.... आज पति-पत्नी के दाम्पत्य संबंधों में जो अलगाव, शुष्कता का निर्माण हुआ है, उसके कई कारण हो सकते हैं।''[14]

निष्कर्ष : निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि राजी सेठ का कथा साहित्य अद्‌भुत और अनोखा है, जहां उन्होंने अपने अनुभवों को अनेक अर्थछवियों में कागज पर उतारकर रख दिया है। ये कहानियाँ समाज और समाज से भी पहले परिवार पर सवालिया निशान लगती हैं कि समाज को ठोस आधार प्रदान करने वाली, बच्चों की पहली पाठशाला, परिवार को गढ़ने वाली, दो परिवारों को बांधकर रखने वाली, न जाने ऐसे कितने ही विशेषणों से सुसज्जित स्त्री को आज भी अपनी मुकम्मल जगह क्यों नहीं मिली है। किसी भी विधा की खूबसूरती इसी में है कि वह विचार केंद्रित हो और वह विचार क्षेत्र विस्तृत हो, झकझोरने वाला हो, बदलाव की बेचैनी भरने वाला हो। राजी सेठ की कहानी भी इन्हीं अर्थों में सजीव और मारक हैं।

***एसोसिएट प्रोफेसर**
हिन्दी-विभाग
माता सुंदरी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

****प्रोफेसर**
हिन्दी-विभाग
माता सुंदरी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. राजी सेठ की यादगारी कहानियां : राजी सेठ (कथा-यात्रा से), हिन्द पॉकेट बुक्स, हरियाणा, प्रथम संस्करण 2019, पृ सं-11
2. वही, पृ सं-40
3. वही, पृ सं-42
4. वही, पृ सं-45
5. कथाकार राजी सेठ : डॉ. मिरगणे अनुराधा जनार्दन, अमन-प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 2009, पृ सं-165
6. राजी सेठ की श्रेष्ठ कहानियां - राजी सेठ, नेशनल बुक ट्रस्ट प्रकाशन, संस्करण 2021, पृ सं-196
7. हिन्दी कहानी : आठवां दशक : संपादक-मधुर उप्रेती, इंदु प्रकाशन, अलीगढ़, प्रथम संस्करण 1984, पृ सं-113
8. कथाकार राजी सेठ : डॉ. मिरगणे अनुराधा जनार्दन, अमन-प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 2009, पृ सं-166
9. महिला कथाकार-समाजशास्त्रीय एवं भाषिक संकल्पना : डॉ. कश्मीरी लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1998, पृ सं-102
10. राजी सेठ की यादगारी कहानियां : राजी सेठ, हिन्द पॉकेट बुक्स, हरियाणा, प्रथम संस्करण 2019, पृ सं-77
11. वही, पृ सं- 80
12. वही, पृ सं- 83
13. वही, पृ सं- 81
14. समकालीन कहानी-युगबोध का संदर्भ : डॉ. पुष्पपाल सिंह, नेशनल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1986, पृ सं- 161

शोध-पत्र

डॉ. जयप्रकाश कर्दम के लेखन में स्त्री चेतना

अंकिता सिंह

प्राचीन काल से ही साहित्य में स्त्री किसी न किसी रूप में उपस्थित रही है। छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी' इस उक्ति के माध्यम से स्त्री की विवशता को व्यक्त करते हैं, तो आधुनिक काल के अनेक रचनाकार स्त्री को बेचारी, दीन-हीन, ममतामयी मूरत के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। लेकिन अब समय के साथ बदलते दौर में अनेक विमर्शों ने जन्म लिया है। जिसने साहित्य में एक नए रूप के साथ उपस्थिति दर्ज कराई है। कोई भी विमर्श तब जन्म लेता है, जब प्रतिकार होता है, और स्त्री शोषण, स्त्री अस्तित्व और अस्मिता को लेकर दलित स्त्रियों के पुरुष वर्चस्ववादी शोषण के प्रतिकार ने स्त्री विमर्श को जन्म दिया है। जिसने स्त्री की परम्परागत छवियों को तोड़ने का काम भी किया है। बीसवीं सदी के लगभग मध्य में सिमोन द बोउवार अपनी पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' में लिखती हैं, ''औरत जन्म से ही औरत नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है। अर्थात् परिस्थितियां समय के अनुसार बदलती रहती हैं, और स्त्रियों की दशा भी परिवर्तित होती रहती है।''[1]

स्त्री विमर्श के आने के बाद से ही स्त्री के मुद्दों व सवालों पर चर्चा होने लगी है। और अनेक दलित, गैर दलित स्त्रियां अपनी लेखनी चला रही हैं। आज की शिक्षित, स्वाभिमान की चेतना से युक्त दलित स्त्रियां अपने लेखन में अस्तित्व और अस्मिता के सवाल का जवाब ढूंढती हुई पुरुषों के चंगुल से मुक्ति की तलाश करती हुई नजर आती हैं। लेकिन विडंबना यह है कि ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। इसलिए अनेक विमर्शों के सामने आने के बावजूद आज इक्कीसवीं सदी के दौर में दलित और गैर दलितों के शोषण, अत्याचार, छुआछूत और अमानवीयता में पिछले वर्षों से लगातार वृद्धि देखने को मिली है। स्त्री शोषण को लेकर तमाम ऐसी सूचनाएं हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं, अखबारों में उनके शोषण से भरी पड़ी हैं। महिलाओं का अत्याचार, बलात्कार, लैंगिक उत्पीड़न, सार्वजनिक व कार्य स्थलों पर बढ़ता जा रहा है, और यदि स्त्री दलित हो तो उसकी त्रासदी की पीड़ा और बढ़ जाती है। जाति व्यवस्था में दलित जाति से आने वाली स्त्रियों की लड़ाई दोहरी है, एक तरफ वह स्त्री होने की पीड़ा को सहती है तो जाति का दंश उसकी पीड़ा को और बढ़ा देता है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध दलित लेखिका रजत रानी 'मीनू' कहती हैं, ''सिमोन द बोउवार के मत से थोड़ा हटकर यदि भारतीय परिवेश में देखें, तो दलित स्त्री मात्र स्त्री होने की त्रासदी नहीं झेलती, बल्कि उसका दलित जाति से होने के कारण वह लिंग भेद और जाति भेद सहते हुए दोहरे-तिहरे आक्रमण को झेलती है। एक पुरुष प्रधान समाज होने के कारण वह अपने ही समाज के पुरुषों की दृष्टि में दूसरे दर्जे की प्राणी है, जो उसके अनुसार कम बुद्धि की है। दूसरी और गैर दलित समाज उसे दो तरह से कमजोर पाता है, एक तो वह स्त्री है, दूसरी वह दलित जाति से होती है।''[2]

ध्यातव्य है समाज में कोई भी दलित स्त्री दलितपन के साथ पैदा नहीं होती, बल्कि वह भी अन्य सामान्य व्यक्तियों के समान ही पैदा होती है, लेकिन हमारे वर्णजातिवादी मानसिकता से ग्रसित सामंतवादी समाज में सामाजिक स्थितियों के दबाव में शोषण के लिए अनुकूलित

कर दी जाती है। और कहीं न कहीं इसके पीछे दलित स्त्री की अशिक्षा, आर्थिक स्थिति, तथा जाति जैसे कारक काम करते हैं इसलिए अपने को पुरुष से कमतर समझने लगती है। विवाह करना, बच्चे पैदा करना, पितृसत्तात्मक समाज के चलते पुरुष की कुंठा का शिकार होना, वह अपनी नियति समझती है। शिक्षा, आर्थिक शोषण और विषमता जैसे कारकों के अभाव की वजह से वह इन सब से ऊपर अपने को न देख पाती है, न समझ पाती है, बल्कि वह बिना किसी शिकायत के सबकुछ सहती रहती है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध दलित लेखिका सुशीला टॉकभौरे पत्रकार कल्पना शुक्ला से बातचीत में कहती हैं, ''स्त्री स्वयं अबला नहीं होती, सामाजिक कुरीतियों ने उसे अबला बनाया है। सामाजिक बंधनों, परम्पराओं तथाकथित इज्जत के भार ने स्त्रियों को हर तरह से पीछे रखा। शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र इसमें प्रमुख है। स्त्री दोयम दर्ज की नागरिक सामाजिक रीतियों की वजह से हुई है।''[3]

इस प्रकार विमर्शों के दौर में भी आज एक दलित स्त्री अपने अस्तित्व एवं अस्मिता जैसे प्रश्नों से जूझ रही है। उसके लिए एक तरफ जिजीविषा का प्रश्न है, तो दूसरी तरफ स्त्री-पुरुष समानता को लेकर भी प्रश्न उठाए जा रहे हैं। इसके साथ कई दलित लेखक भी दलित स्त्रियों की समस्याओं, उनके अधिकारों, उनकी असमानता की चर्चा लेखन के माध्यम से कर रहे हैं। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध दलित चिंतक डॉ. जयप्रकाश कर्दम उन दलित साहित्यकारों में से हैं, जो अपने लेखन के माध्यम से दलितों, शोषितों, उपेक्षितों की समस्याओं को अभिव्यक्त करते रहे हैं। इसके साथ ही वे दलित समाज की स्त्रियों की समस्याओं के प्रति भी संवेदनशील रहे हैं। उनके लेखन में दलित स्त्री के शोषण, अत्याचार का विरोध, स्त्री-पुरुष सहयोग भावना, स्त्री मनोभावों का अंकन, स्त्री समानता व सम्मान के लिए प्रतिबद्धता साफ तौर पर देखी जा सकती है।

पितृसत्तात्मक सामंती व्यवस्था में पुरुषों के द्वारा किए जा रहे जातिगत शोषण के साथ एक स्त्री का शारीरिक और मानसिक शोषण किया जाता है। जाति आधारित घृणित मानसिकता और पुरुषवादी वर्चस्व के कारण आज भी महिलाओं के साथ बलात्कार किये जा रहे हैं। डॉ. जयप्रकाश कर्दम 'समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श' नामकलेख में लिखते हैं, ''किसी भी परिवार, जाति या संप्रदाय की इज्जत उसकी स्त्रियों से जुड़ी होती है, इसलिए जाति और सांप्रदायिक हिंसा या प्रतिशोध की परिणिति स्त्रियों के साथ बलात्कार में होती है। क्योंकि किसी भी परिवार या जाति की कमर तोड़ने या उनको सबक सिखाने का सबसे सरल उपाय है, उस परिवार या जाति की स्त्रियों के साथ बलात्कार करना।''[4]

अत: किसी जाति की महिलाओं का स्वाभिमान तोड़ने के लिए उसकी महिलाओं के साथ बलात्कार किया जाता है। दलित स्त्रियों का सवर्णों द्वारा दैहिक शोषण इसी मानसिक विकृति का प्रतिफल है। जाति व्यवस्था में सबसे नीचे होने के कारण दलित महिलाओं को कमजोर माना जाता है, और उनका शोषण किया जाता है। इसी शोषण का एक भयावह रूप दलित महिलाओं और लड़कियों के साथ बलात्कार के रूप में सामने आता है। यह जघन्य अपराधन केवल शारीरिक पीड़ा का कारण बनता है, बल्कि उनके मानसिक स्वास्थ्य और सामाजिक सम्मान को भी गंभीर रूप से प्रभावित करता है। दुर्भाग्य से ऐसे अपराधों के लिए कठोर दंड के प्रावधान होने के बावजूद कानून का सही तरीके से पालन नहीं होता। कई बार प्रभावशाली वर्गके अपराधियों के खिलाफ कार्यवाही नहीं की जाती, जिससे ऐसे अपराधों को बढ़ावा मिलता है। डक्र. कर्दम दलित महिलाओं, लड़कियों के खिलाफ यौन हिंसा को एक जघन्य अपराध मानते हैं, और इसे रोकने के लिए सख्त कानून, कठोर कार्रवाई, सामाजिक जागरुकता और पीड़ितों का समर्थन जरूरी मानते हैं। कई मामलों में पुलिस द्वारा द्वारा शिकायत दर्ज करने मे लापरवाही बरती जाती है। कमजोर सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि के कारण दलित महिलाएं अक्सर न्याय पाने के लिए संघर्ष करती हैं। बलात्कार स्त्री के साथ घटने वाली ऐसी त्रासद घटना है, जिसका दंशएक स्त्री जीवन भर नहीं भूल पाती। बलात्कार के संबंध में एक स्त्री के मन की व्यथित भावनाओं को उकेरते हुए लेखक कहते हैं, ''बलात्कार स्त्री के जीवन की ऐसी दुर्घटना है, जो शरीर के स्तर पर बेशक एक बार घटती है, लेकिन मन के स्तर पर हर रोज घटती है। स्त्री के साथ अपराध या दुष्कर्म पुरुष करता है, लेकिन सामाजिक मर्यादा की लाठी पुरुष पर न चलकर स्त्री को घायल करती है। जुर्म पुरुष करता है, लेकिन जुर्म की सजा उस जुर्म की शिकार स्त्री भोगती है। या तो वह

सामाजिक मर्यादा की मार सहती हुई घुट-घुट कर मरती हुई जीती है, या फिर किसी कुएं में गिरकर इस मार से मुक्ति पा लेती है।''[5]

डॉ. कर्दम के ये शब्द स्त्री जीवन की इस त्रासदी को बयां करते हैं। प्रगतिशील चिंतक डॉ. कर्दम के लेखन में बलात्कृत स्त्री की जिंदगी की त्रासदी के साथ-साथ बलात्कार पीड़ित स्त्री पात्रों में साहस और संघर्ष की चेतना भी देखने को मिलती है। इनके लेखन में स्त्री शोषण के प्रतिकार में प्रतिपक्ष से बदला लेने के लिए भी खड़ी दिखाई पड़ती है। डॉ. कर्दम के उपन्यास 'छप्पर' की पात्र कमला भी सामूहिक बलात्कार पीड़ित दलित महिला है। उपन्यास में कमला एक दलित स्त्री द्वारा भोगी जाने वाली यातना और उसके संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वह व्यवस्था के साथ समझौता नहीं करती, बल्कि प्रतिकार करती है। तभी तो 'छप्पर' उपन्यास में सामूहिक बलात्कार की शिकार कमला अत्याचार का बदला लेने के लिए बलात्कार से पैदा हुए बच्चे का पालन पोषण करती है, और चंदन से कहती है, ''अब यह मेरा सहारा है। बड़ा होकर यह मेरे साथ हुए जुल्म और अत्याचार का बदला ले, यही मेरी कामना है।''[6] कमला के इस संघर्ष एवं प्रतिरोध की भावना को लेखक चंदन के माध्यम से जागृत करते हुए लिखते हैं कि, ''नहीं, यह अत्याचार है। यह शोषण है, बर्बरता है, इसका नाश होगा एक दिन। जब कमला जैसी युवतियां अपने अत्याचारों का बदला लेने के लिए खुद उठ खड़ी होंगी। तब इन अत्याचारियों का, इन दरिंदों का नाश अवश्य होगा।''[7] उपन्यास में पात्र कमला के माध्यम से लेखक उन अत्याचार की शिकार युवतियों का चित्रण किया है, जो आज भी हमारे समाज में इतने कमजोर हालातो में भी अपने आप को हारने नहीं देतीं। वह सामाजिक आंदोलन में भाग लेती हैं, और समाज को सुधारने की कोशिश करती हैं। इस प्रकार उपन्यासकार दलित स्त्री को दयनीय या बेचारी के रूप में चित्रित नहीं करते, बल्कि शोषण एवं प्रतिरोध तथा संघर्ष करते हुए दर्शाते हैं। उपन्यास की पात्र कमला के माध्यम से डॉ. कर्दम ने ऐसी दलित स्त्री का चित्रण किया है, जो हारती नहीं है, बल्कि संघर्ष करती है। वह रोती नहीं है, बल्कि आज की नारी को भी शोषण के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित करती है। दलित स्त्री में चेतना का यह रूप लेखक की अन्य रचनाओं जैसे 'सांग', 'मूवमेंट' आदि कहानियों में भी देखने को मिलता है।

बाबा साहब आंबेडकर ने सदैव दलित महिलाओं का आह्वान किया। नारी शक्ति के बारे में उनका कहना था कि, आप साफ रहो, स्वाभिमान से रहो, आपके पेट से जन्म लेना कोई अपराध नहीं है, और न ब्राह्मणों के पेट से जन्म लेना कोई पुण्य है। उन्होंने नारी जाति को सम्मान और शील का पाठ पढ़ाया। उन्होंने स्त्रियों को जोर देते हुए कहा आप भी इंसान हो। इंसान की तरह जियो। स्वाभिमान के साथ सिर ऊंचा करके जियो। बाबा साहब डॉ. आंबेडकर की वैचारिकी से प्रभावित डॉ. कर्दम दलित स्त्री को इस वर्णवादी एवं पुरुषवादी सत्ता के जुल्म और अत्याचारों के खिलाफ स्वयं उठ खड़े होने के लिए प्रेरित करते हुए नारी शक्ति के उपयोग की भी बात करते दिखाई पड़ते हैं। तभी तो वह 'छप्पर' में पात्र चंदन के माध्यम से कहते हैं, ''जिंदगी की इस अहम् लड़ाई को लड़ने के लिए नारी शक्ति का उपयोग बहुत जरूरी है।''[8]

बाबा साहब आंबेडकर जाति-भेद के नाश और समाज की उन्नति और विकास के लिए स्त्री-पुरुष की समान सहभागिता को आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि नारी की उन्नति के बिना समाज एवं राष्ट्र की उन्नति असंभव है। डॉ. आंबेडकर दलित समाज की प्रगति का पैमाना महिलाओं की प्रगति से मानते थे। उनके सामाजिक आंदोलन में स्त्री-पुरुष की सहभागिता देखी जा सकती है। बाबा साहब की विचारधारा से प्रभावित डॉ. कर्दम के कहानी लेखन में इस स्त्री-पुरुष सहभागिता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

जयप्रकाश कर्दम के कथा साहित्य में भी स्त्री चेतना के साथ स्त्री-पुरुष का सहयोगात्मक रवैया उनकी कहानियों में पात्रों के माध्यम से साकार हो उठता है। उनकी 'सूरज' 'रास्ते', 'मजदूर खाता', 'सांग', 'गंवार', 'पगड़ी' आदि कहानियों में स्त्री हर समय पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर बढ़ती हुई दिखाई देती है। कहानी 'सूरज' में जहां नायिका सुमन छात्रा सूरज को भावनात्मक सहयोग करती है, वही सवर्ण छात्रों द्वारा उसकी हत्या किए जाने पर बुद्धिमत्ता के साथ सवर्ण छात्रों की साजिश का पर्दाफाश करती है। और दलित छात्रों में चेतना का संचार करती है। स्विमिंग पूल में हुई सूरज की मौत के पश्चात सवर्ण छात्रों द्वारा सूरज की मौत को आत्महत्या का मामला बताए जाने पर सुमन तर्कपूर्ण तरीके से प्रतिकार करती हुई कहती है,

''फिर किस आधार पर इसे आत्महत्या का मामला कहा जा सकता है? सुमन ने कहा ''न तो आत्महत्या करने के लिए कपड़े उतारने की जरूरत पड़ती है और न ऐसा तरीका अपनाया जाता है जिसमें बचने का विकल्प मौजूद हो। यह सरासर हत्या का मामला है। सुमन के इतना कहते ही दलित छात्र जोश से भर कर नारे लगाने लगे-''दलित दमन की सत्ता है-मौत नहीं यह हत्या है'' सूरज के हत्यारों को गिरफ्तार करो, गिरफ्तार करो।''[9]

इसी संदर्भ में 'रास्ते' कहानी की कल्पना न केवल दीपक को भावनात्मक सहयोग देती है, बल्कि आर्थिक तंगी से जूझ रहे दीपक को अकेले संघर्ष करने की बजाय अपनों के सहयोग से संघर्ष करने का सुझाव देती है, और समाज के उत्थान और विकास के लिए चिंतित दिखाई देती है। तथा पढ़ लिखकर अपने समाज को आगे बढ़ाने की कर्तव्य भावना से भी अवगत कराती है। इस नायिका में स्त्री चेतना तो है ही, साथ ही साथ अपने सामाजिक दायित्व को निभाने की चाह भी है। तभी तो कल्पना दीपक को समझाते हुए कहती है, ''अकेले संघर्ष करके टूट जाने से अपनों के सहयोग से संघर्ष करना बेहतर है। हमारे समाज को इसी सहयोग भावना की आवश्यकता है। समाज की बहुत से प्रतिभाएं सहयोग के अभाव में इसी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों की भेंट चढ़ जाती हैं। मैं नहीं चाहती तुम्हारे साथ भी ऐसा हो, इसलिए मेरी बात मानो और तुम यह अपने पैसे अपने पास रख लो।''[10]

इसी प्रकार उनकी 'हाउसिंग सोसायटी' कहानी में स्त्री सहयोग की भावना इतनी ज्यादा है कि जो एक भारतीय स्त्री के मन की सबसे प्रिय वस्तु उसके आभूषण गहने होते हैं, लेकिन विजय महतो की पत्नी अपने पति को मकान खरीदने में सहयोग करने के लिए अपने गहनों को भी बेचने के लिए तैयार रहती है। देखिए एक तरफ प्रेमचंद के 'गबन' की स्त्री का आभूषण प्रेम और दूसरा आज की चेतनाशील स्त्री जो आभूषण नहीं बल्कि घर परिवार की खुशी और पति के सहयोग को महत्वपूर्ण मानती है।

कह सकते हैं स्त्री के ऐसे त्याग, समर्पण एवं सहयोग की भावना ही डॉ. कर्दम की कहानियों को अन्य कथाकारों की कहानियों से अलग श्रेणी में लाकर खड़ा कर देती है। जिनके स्त्री पात्रों में चेतना है, जागरूकता है, आर्थिक निर्भरता है और साथ ही पुरुष और समाज का हर प्रकार से सहयोग करने की लालसा भी। इसी प्रकार 'गंवार' कहानी में लेखक दलित स्त्री चेतना के माध्यम से स्त्री की सक्रिय भागीदारी को भी रेखांकित करते हैं, और यह दिखाने की भी कोशिश करते हैं कि दलित स्त्री में पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष करने की महत्वाकांक्षा जगी है। 'सांग' कहानी की यह पंक्तियां स्त्री-पुरुष के सहयोग की भावना को दर्शाती हैं।

''हो गया गात सूख कै माडा
पिया दे दै मनै कुल्हाड़ा
ओए मैं भी चलूंगी तेरे साथ में।''[11]

इसी संदर्भ में डॉ. भीमराव आंबेडकर का मानना था, ''जीवन की समस्या को पुरुष और स्त्री दोनों को एक साथ मिलकर हल करना होगा। यदि अकेला केवल पुरुष इस लक्ष्य का जिम्मा लेता है तो लक्ष्य तो प्राप्त करेंगे, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु इसमें समय अधिक लगेगा। अगर महिलाएं यह बीड़ा उठाती हैं तो मुझे पूरा विश्वास है कि लक्ष्य सफलतापूर्वक जल्दी ही पूर्ण हो सकता है। ज्ञान और शिक्षा केवल पुरुषों के लिए नहीं स्त्रियों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है।... मैं आशा करता हूँ मेरा यह सुझाव आप बड़ी गंभीरता से लेंगी और बिना विलंब किये इसे लागू करेंगी।''[12]

जयप्रकाश कर्दम की अधिकतर कहानियों में स्त्री दयनीय एवं बेबस नहीं है, बल्कि पुरुषवादी एवं समाजवादी मानसिकता का प्रतिकार करती है। उनके यहां स्त्री जुझारू संघर्षशील शोषण के खिलाफ आक्रोश एवं प्रतिरोध करती हुई नजर आती है। वह व्यवस्था के साथ समझौता नहीं करती बल्कि प्रतिकार करती है। 'मूवमेंट' कहानी दलित स्त्री पात्र सुनीता पुरुषवादी वर्चस्व के खिलाफ आवाज उठाते हुए दलित आंदोलन के कार्यकर्ताओं को अपना मूल्यांकन करने के लिए मजबूर करती है कि उनके आंदोलन में स्त्री के लिए क्या जगह है। कहानी में सुनीता दलित आंदोलन में व्याप्त पुरुषवादी सोच का पर्दाफाश करते हुए घर की चहारदीवारी से बाहर निकलकर समाज के लिए काम करना चाहती है। जयप्रकाश की कहानियों में एक तरफ स्त्री वर्ण व्यवस्था और पुरुष सत्ता द्वारा शोषित है, तो दूसरी तरफ आक्रोश, संघर्ष एवं प्रतिरोध के रूप में भी चित्रित है। इनकी कहानियों की स्त्रियां चेतनाशील परम्पराओं का विरोध करती हुई प्रेम, त्याग व समर्पण की भावना से युक्त पुरुष की हर तरह से सहयोगी तथा समाज

के उत्थान एवं विकास के प्रति सजग दिखाई पड़ती हैं।

जयप्रकाश कर्दम अपनी कहानियों में न केवल स्त्री चेतना की बात करते हैं, बल्कि चेतना से स्त्री के द्वारा पुरुष को भी चेतनाशील बनाते हैं, तथा पुरुष के साथ-साथ समाज को भी। परिवार ही व्यक्ति की विचारधारा को तय करता है, उसके व्यक्तित्व को बनाता है। परिवार की आधारशिला स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित होती है। जयप्रकाश कर्दम स्त्री-पुरुष संबंधों की बहुत बारीकी से जांच करते हैं, और अपनी हर कहानी में दोनों के संबंधों का संतुलन बनाते हुए चलते हैं।

दलित आलोचक डॉ. जयप्रकाश कर्दम 'धर्म' को स्त्री शोषण का बहुत बड़ा आधार मानते हैं। क्योंकि धर्म की व्यवस्था में स्त्री को देवी या दासी के तौर पर ही देखा गया। जाति प्रथा और अस्पृश्यता को धर्म का सबसे घिनौना रूप मानते हुए जाति की जकड़बंदी को स्त्री स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं। आज बदलते दौर में स्त्री किसी बंधी-बंधाई परिपाटी या घर के चहारदीवारी में बंधकर नहीं रहना चाहती। वह भी पुरुष की तरह पढ़-लिखकर घर से बाहर निकलकर सार्वजनिक जीवन में भूमिका निभाना चाहती है। सामाजिक जीवन में स्त्री की भूमिका को लेकर आउटलुक मैगजीन के अंक जनवरी 2019 में अपनी बात रखते हुए ममता मलिक कहती हैं, 'समाज स्त्री और पुरुष दोनों से निर्मित है। अत: किसी को कमतर मानना समाज के संतुलन को कमजोर करना है।' डॉ. कर्दम स्त्री के प्रति इसी सोच को अपने साहित्य लेखन में कहानियों में उपस्थित स्त्री पात्रों के माध्यम से व्यक्त करते हुए नजर आते हैं। स्त्री के प्रति उनका नजरिया समानतावादी, सहयोगात्मक और सकारात्मक है। डॉ. कर्दम आर्थिक स्वालम्बन को स्त्री शोषण से मुक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। तभी तो लेखक कहते हैं कि ''आर्थिक स्वालम्बन स्त्री विमर्श का एक महत्वपूर्ण विषय है। आर्थिक आत्मनिर्भरता के अभाव में स्त्री-मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है।''[13]

आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्रियों में आत्मविश्वास और दृढ़ता को पैदा करती है, तथा उनके जीवन को नए अर्थ भी देती है। इसलिए समाज के विकास के लिए स्त्री शिक्षा, स्त्री की आत्मनिर्भरता अत्यंत आवश्यक है। आलोचनात्मक पुस्तक 'हिंदुत्व और दलित' में नारी को लेकर विचार करते हुए वे नारी के परतंत्र रूप को हटाकर उसे स्व गढ़ने, रचने तथा उसमे बसने की शक्ति का अवलोकन आलोचक कर्दम करते हैं। 'नारी का दलितपन' यह शब्द भारतीय नारी को सोचने पर विवश करता है। सावित्रीबाई फुले, सरोजनी नायडू, जानकी अम्मल, किरण बेदी आदि सब इतिहास के पन्नों पर स्वर्ण अक्षरों में अंकित है। बुद्ध का कहना था 'अप्प दीपो भव' अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनो। यह कथन आलोचना साहित्य के मूल में है। अपनी अस्मिता की खोज स्वयं को करनी चाहिए। नारी तो सृजनशक्ति है उसका विकास सभी के विकास का द्योतक है।

बाबा साहब आम्बेडकर ने स्त्री शिक्षा को समाज और देश के विकास के लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण माना है। डॉ. कर्दम के अनुसार आज की स्त्री पहले की तरह भोली-भाली नहीं है, बल्कि शिक्षा प्राप्त कर अपने अधिकारों को जान रही है। इसलिए पुरुष को पहचानते हुए पुरुषों से शोषित होने के लिए तैयार नहीं है, बल्कि उसकी हरकतों का माकूल जवाब देना भी जानती है। आज की शिक्षित नारी पुरुषों के कंधे से कन्धा मिला रही है फिर भी आज भी कई झंझटों में उसकी जिंदगी फँसी हुई है। डॉ. कर्दम लिखते हैं,

''शिक्षा साहित्य से लेकर ज्ञान विज्ञान तक हर क्षेत्र में नारी का दखल है। उसकी स्थिति में काफी बदलाव कुछ दशकों के दौरान आया है। किन्तु यह नारी की एक त्रासदी भी है कि हमारा रूढ़िवादी समाज उसके अस्तित्व को समग्र रूप में स्वीकार करने के लिए आज भी तैयार नहीं है। उसको पुरुष के समान पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में आज भी नहीं है। उसकी मुक्त हंसी पर आज भी बंधन हैं।''[14]

स्त्री समानता एवं स्वतंत्रता के पक्षधर डॉ. कर्दम बदलते हुए समय में स्त्री शोषण के साथ-साथ स्त्री चेतना में आ रहे बदलावों का अंकन भी खुले मन और खुली दृष्टि से करते हैं। जो स्त्री के स्वच्छंद जीवन जीने के पक्षधर हैं। जयप्रकाश कर्दम के लेखन में स्त्री चेतना का एक बदला हुआ रूप है। चेतना का प्रवाह भारतीय पारंपरिक समाज में अवरोही रहा है। अवरोही का तात्पर्य अभी तक भारतीय समाज में स्त्री सबसे निचले पायदान पर रही है, जैसे पुरुष, परिवार, स्त्री लेकिन कर्दम की कहानियों में स्त्री की भूमिका स्त्री को सबसे पहली सीढ़ी में लाकर खड़ा कर देती है, क्योंकि उनकी कहानियों में जो स्त्री पात्र है, वह खुद तो चेतित है ही, साथ ही वह

अपनी चेतना के बल पर पुरुष और साथ-साथ समाज को भी चेतनाशील बना रही हैं। उनकी कहानियां एक बदलाव की ओर संकेत करती हैं। हिंदी दलित साहित्य में डॉ. कर्दम के द्वारा दलित स्त्री चेतना का यह रूप स्त्रियों में शोषण के प्रतिकार के लिए साहस भरने के लिए उपयुक्त है। उनके लेखन में स्त्री जुझारू, संघर्षशील, अपने समाज को आगे ले जाने की भावना से ओत-प्रोत दिखाई पड़ती है। उनके कथा साहित्य में स्त्री अपनी अस्मिता के प्रति सजग है। अन्ततः कह सकते हैं डॉ. कर्दम के कथा साहित्य लेखन के स्त्री पात्र दलित समाज की आवश्यकता और चेतना को अभिव्यक्त करते हैं।

शोध छात्रा (पीएच.डी)
भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
दिल्ली-110067
ankita.singh8509@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. खेतान प्रभा, स्त्री : उपेक्षिता, अनुवाद (द सेकंड सेक्स, सिमोन द बोउवार), हिन्द पॉकेट बुक्स 1999
2. मीनू, डॉ. रजत रानी, हिंदी दलित कहानियों में नारी, ज्ञानेंद्र रावत, दलित नारी एवं विमर्श, पृष्ठ, 94
3. प्रियम, अरुण कुमार (लेख) दलित और स्त्री विमर्श से साक्षात्कार, दलित साहित्य वार्षिकी संपादक, डॉ. जय प्रकाश कर्दम, सम्यक प्रकाशन, संस्करण 2017, पृष्ठ, 374
4. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, दलित साहित्य सामाजिक बदलाव की पटकथा, अमन प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2016, पृष्ठ, 82
5. कर्दम, डॉ. जय प्रकाश, इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (साहित्य एवं समाज चिंतन) पंकज पुस्तक मंदिर, संस्करण 2013, पृष्ठ, 83
6. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, छप्पर (उपन्यास) राहुल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2013 पृष्ठ, 50
7. वही, पृष्ठ, 50
8. वही, पृष्ठ, 51
9. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, खरोंच (कहानी संग्रह) स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृष्ठ, 16
10. वही, पृष्ठ, 56
11. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, तलाश (कहानी संग्रह) विक्रम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृष्ठ, 38
12. कर्दम, डॉ. जयप्रकाश, संपादक, दलित साहित्य वार्षिकी, सम्यक प्रकाशन, संस्करण 2013, पृष्ठ, 61
13. डॉ. नामदेव, आलोचना की तीसरी परंपरा और डॉ. जय प्रकाश कर्दम, अमन प्रकाशन, संस्करण 2014 पृष्ठ, 32
14. पिकेटी, थॉमस, कैपिटल एंड आइडिओलॉजी, अंग्रेजी अनुवादक, गोल्डहैमर, 2019

रेखा प्रजापति

स्त्री त्रासदी की कथा : बेघर उपन्यास

ममता कालिया का उपन्यास बेघर 1971 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास मध्यवर्ग की विसंगतियों को उभारकर स्त्री कौमार्य के यथार्थ को पूरी सच्चाई के साथ उभारता है। स्त्री संघर्ष को इसमें सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। बेघर उपन्यास स्त्री जीवन की त्रासद कथा को चित्रित करता है। स्त्री का कौमार्य उसके चरित्र के साथ जोड़कर देखा जाता है। ऐसी स्त्री को समाज में आदर्श माना जाता है जिसका कौमार्य सुरक्षित हो। कौमार्य की अवधारणा पूरे विश्व में प्रचलित है। कौमार्य एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें कभी संभोग न किया गया हो। स्त्री का कौमार्य उसकी शुद्धता से जोड़कर देखा जाता है। स्त्री का कौमार्य उसके सद्‌गुणों से ऊपर है। कौमार्य की अवधारणा अत्यंत पुरानी है लेकिन आज के समाज में भी यह स्त्रियों के प्रसंग में वीभत्स रूप में प्रचलित है। आज भी समाज में ऐसा माना जाता है कि कोई लड़की शादी तक कुंवारी रहे और शादी के बाद उसका पति ही पवित्रता भंग करे। कौमार्य की अवधारणा ही समाज में स्त्री की त्रासदी को लेकर आती है। आज भी समाज में उसी स्त्री को पवित्र माना जाता है जिसका कौमार्य भंग न हो। बेघर उपन्यास कौमार्य के प्रश्न को बड़ी गंभीरता से उठाता है। जहाँ संजीवनी की पीड़ा को दर्शाया गया है जिसके साथ विपिन नाम का लड़का जबरदस्ती करता है। उसके बाद उसके जीवन में परमजीत आता है जो उसका सच जानने के पश्चात उसे अकेला छोड़कर चला जाता है।

मूल शब्द

कौमार्य, परंपरागत, पारिवारिक, मध्यवर्ग

प्रस्तावना :

आधुनिक हिंदी साहित्य में ममता कालिया एक सशक्त लेखिका है। ये अपने साहित्य में स्त्री जीवन के विविध प्रश्नों को उठाती हैं। स्त्री मन की चुभनों को इनके यहाँ अभिव्यक्ति मिली है। स्त्री की समस्याओं को ममता कालिया ने बेबाक अभिव्यक्ति दी है। बेघर ममता कालिया का पहला और बेहतरीन उपन्यास है। यह उपन्यास यौन शुचिता जैसी मानसिकता को उठाता है। यौन शुचिता की बात आज हमारे समाज में खूब हो रही है। यौन शुचिता आज के समाज में एक प्रमुख समस्या बनकर उभरी है जो स्त्री की पवित्रता को उसके कौमार्य के साथ जोड़कर देखा जाता है। ममता कालिया का बेघर उपन्यास यौन शुचिता को गंभीरता से चित्रित करता है। हमारे समाज में मध्यकाल से लेकर आज तक विचारधारा में संकीर्णता और दकियानूसीपन बना हुआ है। इसी सोच के परिणाम को दर्शाने वाला ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर' है। संजीवनी बैंक में कार्यरत एक लड़की है जो अपनी अकेली जिंदगी में गहरे अकेलेपन से जूझ रही थी। उसकी बहरी-गूँगी माँ और स्वार्थी भाई उसकी आकांक्षाओं को समझने में असमर्थ थे। इस वजह से वह परमजीत के प्रेम में पूरी तरह समर्पित होने पर मजबूर हो जाती है और उनका यह रिश्ता विवाह पूर्व यौन संबंध तक पहुँचता है लेकिन परमजीत की पारंपरिक सोच उसे संजीवनी के चरित्र पर शक करने के लिए उकसाती है, जिससे वह उससे दूर हो जाता है। संजीवनी एक बार फिर अपने उदास जीवन में तड़पने को मजबूर हो जाती है। युवावस्था में विपिन नाम के युवक के साथ हुई एक अप्रत्याशित घटना ने उसकी शारीरिक

पवित्रता को प्रभावित किया था और वह बिना किसी गलती के सजा भुगतने के लिए मजबूर हो जाती है। दूसरी ओर, परमजीत अपनी आंतरिक खालीपन से छुटकारा पाने के लिए परिवार द्वारा चुनी गई लड़की रमा से विवाह करता है। रमा शारीरिक रूप से कुँवारी थी, लेकिन उसका भद्दा और कंजूस स्वभाव परमजीत को जीवनभर मानसिक तनाव में डाल देता है। दो बेटों के बावजूद, वह अपने ही घर में उपेक्षित और अकेला महसूस करता है। गहन अकेलेपन और निराशा के कारण परमजीत का दुखद अंत होता है और इसी के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है। इस उपन्यास का नायक परमजीत है जो औसत बुद्धि वाला, अधकचरी मानसिकता का और संदेहपूर्ण स्वभाव का अर्धशिक्षित युवक है, जो टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलता है। वो हमेशा तृतीय श्रेणी में या प्रमोशन से पास होता रहा है। वाणिक पुत्र होने के नाते उनमें व्यापारिक गुण आ गए, जिससे वे मुंबई की एक कंपनी में चीफ एजेंट बन जाता है। मुंबई की चकाचौंध और फैशनेबल जीवनशैली का उस पर गहरा असर होता है और वो ऊपर से आधुनिक दिखने की कोशिश करता है लेकिन उसकी संकीर्ण मानसिकता और मध्यकालीन दकियानूसी विचार नहीं बदलते। चीफ एजेंट बनने के बाद वो सुंदर घर, सुंदर पत्नी, और बच्चों के सपने देखने लगता है। इन सपनों को पूरा करने के लिए वो मुंबई की एक शिक्षित और संस्कारी युवती संजीवनी से प्रेम करने लगता है। परमजीत संजीवनी से अत्यंत प्रेम करता है। परमजीत संजीवनी से जब मिलता है तो उसे आह्लादित महसूस होता है। ''परमजीत ने महसूस किया था वे बहुत पास हैं, एक-दूसरे की प्यास की पहुँच में। इस लड़की के लिए वह कुछ भी कर सकता था और कुछ भी सह सकता था। वह इसके बारे में नहीं के बराबर जानता था फिर भी वह अपने को अन्तरंग पा रहा था।'' धीरे-धीरे उनका प्यार परवान चढ़ता है और एक दिन वे एक दूसरे को पाने की चाह में हमबिस्तर होते हैं लेकिन तब परमजीत अपनी पूर्व अवधारणाओं के आधार पर यह पाता है कि संजीवनी पवित्र नहीं है। वह संजीवनी से कहता है कि ''उसने कहा, 'तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया!'

संजीवनी ने चोर आँखों से उसकी तरफ देखा और बेमालूम आवाज में पूछा, ''क्या!''

यह उपन्यास आधुनिक समाज की वास्तविकता को उजागर करता है, जहाँ पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व का शोषण होता है। उपन्यास के पात्र समाज में फैली कुरीतियों को दर्शाते हैं। मुख्य पात्र परमजीत पुरुष वर्ग की संकीर्ण मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है, जो प्रतिष्ठा के लिए शादी में भारी दहेज लेता है और पत्नी की कौमार्यता से संतुष्ट होता है। लेकिन जब उसे अपनी प्रेमिका संजीवनी के अतीत का पता चलता है, तो वह मानसिक रूप से टूट जाता है। उसका मानना है कि ''ऐसे मौकों पर जब उसे संजीवनी की याद कच्चा करती वह जान-बूझकर रमा के प्रति पिघलने की कोशिश करता, कम से कम रमा ने उसे तोड़ा नहीं था, निराश भले ही किया हो।...मगर संजीवनी ने एक ऐसी गलती की थी जो वह आसानी से माफ नहीं कर सकता था। संजीवनी पुरुष वासना की शिकार होकर एक पुरुष से ही हार जाती है। अकेलेपन से शुरू हुई उसकी यात्रा अकेलेपन पर ही खत्म हो जाती है। परंपरागत पवित्रता से विमुख संजीवनी विवश हो जाती है। परमजीत संजीवनी से विमुख होकर रमा से शादी कर लेता है लेकिन कभी भी जीवन भर खुश नहीं रहता है। रमा उसकी कसौटी पर तो खरी उतर जाती है लेकिन जिस साथी की तलाश एक पुरुष अपनी स्त्री में चाहता है, वह रमा पूरी नहीं कर पाती है। ''कितनी ही बार परमजीत को लगता कि जिन्दगी में कहीं कुछ गलत हो गया है। इस शहर ने उसे बड़ी आकांक्षाएँ दी थीं और बड़े सपने। खयालों में जो घर उसने बनाया था उसमें धीमा संगीत, खूबसूरत कमरे और कलात्मक पत्नी थी। पत्नी के साथ उसने एक मोहक और मोहित रिश्ते की कल्पना की थी। कहाँ थी उसमें यह तीखी आवाज, गलत तह किए हुए अखबार और कोनों में दबे हुए तिलचट्टे। यह एक सन्तोष-असन्तोषप्रद स्थिति थी जिसे वह विश्लेषित नहीं कर पा रहा था।'' परमजीत को शादी और बच्चों के बाद अपनी उतनी से वितृष्णा हो जाती है। बच्चे हो जाने के बाद उसका बढ़ता शरीर परमजीत से दूरी बन जाती है।

परमजीत का मित्र वालिया भी स्त्रियों के प्रति तंग मानसिकता रखता है। वह स्त्री को मनुष्य न समझकर खिलौने के भांति व्यवहार करता है। 'वालिया की चिड़चिड़ाहट कम नहीं हो रही थी 'अगर यह ऐसे ही तंग करती रहेगी तो मैं इसे भी छोड़ दूंगा। यह समझती क्या है। मैंने दस मिनट में अपने माँ-बाप छोड़ दिये थे। पता है जीत मैं अपनी पहली बीवी हनीमून के दौरान छोड़ आया था।'

उपन्यास में पुरुष पात्र परमजीत अपनी प्रेमिका संजीवनी को बेहद प्यार करता है लेकिन जब अंतरंग क्षणों में यह पाता है कि वह उसके जीवन का पहला पुरुष नहीं है तो वह उसे छोड़ देता है। उपन्यास में दहेज प्रथा और स्त्री की कौमार्यता से जुड़ी भ्रांतियों को उजागर किया गया है, जिससे समाज की संकीर्ण सोच स्पष्ट होती है। परमजीत के अलावा, वालिया भी स्त्रियों को केवल वस्तु समझता है और उनके प्रति कठोर व्यवहार करता है। वह विजया को अपमानित करता है और उसे महत्वहीन समझता है। उपन्यास पुरुष मानसिकता का यथार्थ चित्रण करता है, जो जीवन को त्रासदी और घुटन से भर देता है।

विवाह के बाद परमजीत की नकली आधुनिकता की परत उतर जाती है, और वे संजीवनी के कुँवारेपन को पुरानी परंपरागत कसौटी पर परखते हैं। जब संजीवनी अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं देती, तो वे उस पर शक कर उसे छोड़ देते हैं और रमा नामक एक अन्य लड़की से शादी कर लेते हैं। रमा ूहड़, कंजूस, और स्वार्थी स्वभाव की है, जो न तो परमजीत की रुचियों का ध्यान रखती है, न ही उसकी सेहत का। इस उपेक्षा और घुटन से परमजीत की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार, यह उपन्यास दर्शाता है कि रमा अपने पारिवारिक स्वार्थ के चलते खुद को श्बेघरश बना लेती है। परमजीत अपने संकीर्ण विचारों के कारण न केवल खुद श्बेघरश होता है, बल्कि संजीवनी को भी श्बेघरश कर देता है। कहानी के पात्रख़्परमजीत, रमा, संजीवनी, और केकीख़्रसभी अपने-अपने कारणों से मानसिक तनाव और अकेलेपन का अनुभव करते हैं, जिससे वे घर में रहते हुए भी ष्बेघरष महसूस करते हैं।ममता कालिया इस संदर्भ में अपने साक्षात्कार में कहती है कि

ह्बेघरश लिखते समय मुझे कहीं से भी नहीं लगा कि कौमार्य के मिथक को तोड़ने जैसा भारी-भरकम काम किया जा रहा है। मैंने तो नायक-नायिका के अलग-अलग दु:ख और टूटे स्वप्न पास-पास ला दिए। 1970 में नारीवाद कोई लाठीपटक आंदोलन नहीं था। तब नारीवाद इतना नंग-धड़ंग भी नहीं था। स्त्री पात्र हो या पुरुष पात्र, हमें उसे जीवन के रंग में रंजित दिखाना था, वाद और विचारधारा की दीवारों में नहीं। यह संयोग ही था कि मैं इन समस्त कोष्ठकों से बचकर भी स्त्री के पक्ष में यह उपन्यास लिख सकीह्न ममता कालिया की नारी मुक्ति विविध मायनों में अलग है। वे कहती है कि ''मेरे लिए नारी मुक्ति एक आंदोलन नहीं विचारधारा है। एक मिनट को पश्चिम से आमंत्रित, चौकाऊ क्रांतिकारिता को नजरअंदाज कर हम अपने परिवेश में इसकी जरूरत समझें। दरअसल जिस समाज में नारी जितने अधिक बंधन में जकड़ी रही, वहां नारी स्वातंत्र्य की उतनी ही जरूरत महसूस की गई।''

पुरुषों के घोर से घोर दुर्गुण भी समाज में क्षम्य है लेकिन स्त्री का कौमार्य भंग होने से समाज की धुरी गड़बड़ा जाती है। बेघर नारी शोषण और नारी उत्पीड़न की कहानी है जो सुशिक्षित और कामकाजी नारी भी झेलती है। बेघर में हर पात्र कहीं न कहीं बेघर है। संजीवनी के हिस्से असफल प्रेम आता है तो परमजीत के हिस्से शादी से उपजी उदासीनता आती है। वह सब कुछ पाकर भी छला महसूस करता है। पुरुष का अहं स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन को तहस नहस कर कर देता है। ममता कालिया का यह उपन्यास 1971 में लिखा गया है लेकिन यह आज भी प्रासंगिक है।

निष्कर्ष

अंत: यह कहा जा सकता है कि ममता कालिया ने अपने उपन्यास में एक बोल्ड विषय को उठाया है। बेघर स्त्री त्रासदी को उजागर करने वाला उपन्यास है जो यौन शुचिता के प्रश्न को बेहद साफगोई से चित्रित करता है। ममता कालिया के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पाठकों को कल्पना की दुनिया में ले जाने के बजाय वास्तविक जीवन की समस्याओं से रूबरू करा हैं। उनके उपन्यास यथार्थ पर आधारित होते हैं और जीवन की विभिन्न समस्याओं को दर्शाते हुए बदलते सामाजिक मूल्यों को उजागर करते हैं। ममता कालिया ने मुख्य रूप से नारी को केंद्र में रखकर उपन्यास लिखे हैं, जिनमें स्त्री की स्थिति, संघर्ष, द्वंद्व और समस्याओं को गहराई से प्रस्तुत किया गया है। वे नारी मन की जटिलताओं को समझने और व्यक्त करने में सफल रही हैं। बेघर उपन्यास समाज की रूढ़ियों को रेखांकित करता है जो स्त्री जीवन जड़ बनाता है। स्त्री की पवित्रता बस शरीर के स्तर पर है इस मानसिकता से समाज को ऊपर उठना होगा वरना व्यक्ति बेघर हो जाएगा।

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : prekha767@gmail.com

शोध-पत्र

वैदिक वाङ्मय एवं प्राचीन धर्मशास्त्रों में दण्ड व्यवस्था का स्वरूप

डॉ. सरिता दुबे

प्राचीन वैदिक शास्त्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दण्डों के विविध प्रकारों का उल्लेख क्रमबद्ध रूप में भले ही नहीं मिलता हो परन्तु किसी भी प्रकार का अनाचार अपराध क्षम्य नहीं है। ज्ञात अवस्था में अथवा अज्ञात अवस्था में हुए अपकृत्यों के लिए प्रायश्चितव्रत का स्वत: पालन कर उस अपराध एवं अपराध प्रवृत्ति से यथाशीघ्र मुक्ति पाना उनका ध्येय था। समाज एवं मानव को सतत सदाचारी, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं सभ्य नागरिक बनाने के लिए वेदादि शास्त्रों ने आचार संहिता का विधाान किया जिसके अतिक्रमण होने का प्रायश्चित अथवा पाप निवृत्ति हेतु राजदण्ड विहित होने लगा। समाज में अनेक विवाद होने पर न्याय प्रक्रिया के अन्तर्गत दोषी को दण्ड का विधान करना स्वाभाविक रूप से अपेक्षित था।

प्राचीन विधि एवं धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन दण्डनीति स्वातन्त्र्योत्तर कालिक दण्डनीति (भारतीय दण्ड संहिता Indian Panal Code) की अपेक्षा अति कठोर रही है। न्यायविद् मनीषियों ने दण्ड का विधान कुछ अधिक कठोर रूप में व्यवस्थित किया था। निश्चय ही इसके पीछे एक अवधारणा रही होगी कि सामान्य जन अपराध एवं अनाचारों से सर्वथा दूर रहे एवं बुराईयों से डरे। अत: दण्ड व्यवस्था के सम्बन्ध में संहिताओं ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न अपकृत्यों एवं अपराधों के वर्णन तथा तदनकूल दण्ड संकेत के उल्लेख प्राप्त होते हैं। धर्मशास्त्रों एवं स्मृतिग्रन्थों में विधिवेत्ता प्राचीन आचार्यों ने सामान्यत: दण्ड-व्यवस्था को दो पारिभाषिक पदों में विभाजित किया है- 1. आन्तर दण्ड 2. बाह्य दण्ड।

1. आन्तर दण्ड- इस दण्ड के लिए एक प्रसिद्ध पद प्रायश्चित का प्रयोग होता है। किये गये अपराध के प्रति आत्मलानि एवं अन्तश्चेतना को दु:खी करने के भाव की उत्पत्ति आन्तर दण्ड का प्रथम बीज बिन्दु माना गया है। यह एक ऐसा दण्ड है जिसे अपराधी अपने अपराध भाव से बोधित हुआ स्वमेव तपश्चर्यात्मक अनुष्ठान से पवित्र करते हुए भविष्य में कदापि अपराध या अपकृत्य करने पर रोक लगाता है। ज्ञान संयोग, इन्द्रिय संयोग एवं तपोऽनुष्ठान अपराधों की प्रवृत्ति एवं पृष्ठभूमि को परिवर्तित करने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय माना गया। इस आन्तर दण्ड या प्रायश्चित का लक्ष्य ही किसी भी कोटिगत अपराध एवं अपराध प्रवृत्ति को निर्मूल करना रहा है। शुद्धान्त:करण से अपराध के प्रति आत्मबोधित होकर पश्चाताप एवं तद्नुकूल व्रतानुष्ठानाचरण ही वास्तविक दण्ड है, ऐसा धर्मशास्त्रकारों ने व्यवस्था देकर सिद्धान्त: स्वीकार किया है। अपराधी का हृदय परिवर्तन होना अपराध शास्त्रियों को अभीष्ट है और वह आन्तरदण्ड अथवा प्रायशिष्त धर्मानुष्ठान से होना कहा गया है।

2. बाह्य दण्ड- बाह्यदण्ड के प्रकारों के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों के विभिन्न कोटियाँ प्रतिपादित की है। आचार्य कामान्दक[1] ने दण्ड के तीन प्रकार कहे हैं-

1. वधदण्ड, 2. अर्थदण्ड, 3. परिक्लेशदण्ड

आचार्य शुक्र ने दण्डों के अनेक प्रकारों को चित्रित कर दण्ड वैविध्य की ओर भी संकेत दिया है। शुक्र ने 1. निर्भर्त्सन, 2. अपमान, 3. अनशन करना, 4. कारागार, 5. ताड़न, 6. द्रव्यहरण, 7. निर्वासन, 8. चिह्नित करना या दाग देना, 9. उल्टी ओर शिर मूँड़ना, 10. गर्दभारोहण,

11. अङ्गविच्छेदन, 12. वध और, 13. युद्ध करना।[2] विष्णु स्मृतिकार ने निर्वासन, अङ्गविच्छेदन, अर्थदण्डादि का विधान किया है।[3] वहीं आचार्य कात्यायन ने कात्यायन स्मृति में दण्ड व्यवस्था के विभिन्न प्रसंगों में 1. निर्वासन, 2. अर्थदण्ड, 3. अङ्गविच्छेदन, 4. ताड़न और 5. कारागार आदि दण्ड प्रकार को मीमांसित किया है।[4]

स्मृतिकाल से चले आ रहे कठोर दण्डों की अपेक्षा बौद्ध एवं मौर्य काल में अपराधों के दण्डों की उग्रता यद्यपि कुछ कम हो गयी थी तथापि दण्ड कठोर ही रहे। असत्यभाषी को अन्धा कर देना तथा जिह्वाकर्तन, झूठी साक्षी देने पर अङ्गविच्छेदन दण्ड चलता रहा है।

परन्तु अपराधी के अपने अपराधों को विनम्रभाव से स्वीकार कर लेने एवं भविष्य में न करने के वचन पर वह हल्के एवं मृदु दण्ड से दण्डित कर मुक्त कर दिया जाता था और उस काल में मृत्युदण्ड प्रायः प्रचलित दण्डों में कठोरता देखी गयी है। जैसे मुद्राराक्षस नामक नाटक ग्रन्थ में विशाखदत्त ने सामान्यतः अर्थदण्ड, कारागार एवं मृत्युदण्ड इस दण्डत्रय का वर्णन किया है जो तत्कालीन दण्ड व्यवस्था का चित्रण है। परन्तु प्रायश्चित भाव में बाह्य दण्ड की आवश्यकता अपरिहार्य होने से महर्षि मनु ने इसको चार भेदों में विभाजित किया है।[5] ये चार भेद है- 1. वाग्दण्ड, 2. धिग्दण्ड, 3. धनदण्ड, 4. वधदण्ड। इन चारों को अपराध की प्रवृत्ति एवं मात्रा पर निर्भर होना बताया गया है।

1. वाग्दण्ड- अपराधी या दुष्कर्म करने वाले को समझा-बुझाकर तथा भविष्य के दुष्परिणामों से अवगत कराकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करना वाग्दण्ड बताया गया है। प्रथम अपराध होने पर अपराधी को वाग्दण्ड देना सर्वथा उचित है। यह एक प्रकार से सौम्य एवं दण्ड कहा गया है जैसे तुमने आज ऐसा कृत्य किया है, भविष्य में पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए इत्यादि वाक्य निन्दात्मक है और यह वाग्दण्ड के रूप में जाना गया है। अथर्ववेद में भी अपराधियों और पापियों को प्रथमतः वाणी से ही दण्डित करने सम्बन्धी प्रार्थना देवताओं से की गयी है।[6] न्यायविद आचार्यों ने भी वाग्दण्ड देने की ओर सन्देश दिया है। आज भारतीय दण्ड संहिता में विशेष महत्व नहीं दिया गया है यह न्यायाधीश पर निर्भर करता है कि किस प्रकार के अपराध व्यक्ति विशेष की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए वाग्दण्ड देकर न्याय किया जाये।

2. धिग्दण्ड- यह दण्ड भी सौम्य दण्ड माना जाता है, परन्तु अपेक्षाकृत वाग्दण्ड से कठोर अवश्य है इस दण्ड के अन्तर्गत अपराधी को धिक्कारना अथवा भर्त्सना भी की जाती है तथा अपराधी को कठोर शब्दों में चेतावनी भी सम्मिलित है। आचार्य शुक्र का कथन है कि अपराधी की भर्त्सना करके न्यायालय अथवा समाज में उसका अपमान करना धिग्दण्ड की परिधि में आता है। धिग्दण्ड से भी अपराधों के विमुख न होने पर वह अर्थदण्ड अथवा उसके अपराधानुकूल दण्ड से दण्डित किया जाना प्राचीन शास्त्रकारों को अभीष्ट है। संसद के उच्चधिकारी उच्चतम न्यायालयों के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को धिक्कार, भर्त्सना अथवा चेतावनी युक्त शब्दों से दण्डित किया जाना होता रहा है। वस्तुतः यह उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप दण्ड औचित्य एवं पर्याप्तता रखता है।

3. धनदण्ड- धनदण्ड का प्राचीन वाङ्मय में विस्तृत उल्लेख हुआ है। जिन अपराधों में हिंसा न की गयी हो, उनमें प्रायः अर्थदण्ड देने का विधान मिलता है। धनदण्ड भी तीन प्रकार का बताया गया है- 1. व्यवस्थित, 2. अव्यवस्थित, 3. सर्वस्वापहरणात्मक। ये तीनों प्रकार अपराधों की प्रकृति पर निर्भर रहे हैं यदि अपराध गम्भीर है तो राज्य द्वारा सर्वस्वापहरणात्मक दण्ड दिया जा सकता है। व्यवस्थित अर्थदण्ड के तीन रूप है।[7] 1. प्रथम, 2. मध्यम्, 3. उत्तम और अव्यवस्थित पणरूप एवं भावरूपात्मक रही है। पण तात्कालिक मुद्रा का नाम है वही आज भारत में रूपया नामक मुद्रा प्रचलन में है। मनुस्मृति एवं शुक्र नीति में इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है।[8]

भारत में प्रचलित भारतीय दण्ड संहिता की धारा 61-65 उल्लेख करती है कि अपराधों की प्रकृति एवं स्वरूप के अनुसार अपराधियों को कारावास मृत्यु एवं अर्थदण्ड से दण्डित किये जाने का विधान है।

4. निर्वासन- प्राचीन विधि नियामक आचार्यों एवं ऋषियों ने जघन्य कृत्यों एवं अध्यायों के लिए देश से निष्कासन के दण्ड के प्रावधान है।[9]

अपराधी को अपने देश की सीमाओं से बाहर कर देना एक ऐसा दण्ड है जो अति कठोर भी नहीं है, सुधरने का अवसर एवं अपने समाज में अवहेलित होने से बचे रहना तथा उस समाज एवं देश में अपराधों में न्यूनता सम्भव होती है। महर्षि मनु ने व्यवस्था दी थी कि हत्या का अपराध करने पर ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड के स्थान पर

निर्वासित करने का विकल्प उत्तम है।[10] ऐसी व्यवस्था के संस्थापक एवं पोषक आचार्यों में गौतम एवं कात्यायन भी रहे हैं।[11]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी कि यदि कोई अधिकारी रिश्वत लेता है, व्यापारियों के धन का गबन करता है, ग्राम और संघ के स्वीकृत नियमों को भंग करता है तो उसका निर्वासन दण्ड अपेक्षित है। कूट साक्षी पर दुगुना अर्थदण्ड लगाकर उसको भी निर्वासन दण्ड दिया जाना अभीष्ट माना है। कूटसाक्ष्य देने वाले के लिए कात्यायन ने भी निर्वासन के दण्ड को स्वीकारा है।[12]

5. वधदण्ड या मृत्युदण्ड- दण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत जघन्यतम अथवा महापातक अपराध में मृत्युदण्ड अन्तिम उपाय के रूप में ही दिया जाता था, जो आज भी क्रियान्वित है मात्र फांसी के रूप में। भारतीय दण्ड संहिता भाग-302, ऐसे अपराधों के लिए फांसी द्वारा मृत्युदण्ड के लिए आदेश दिया जाता है। भारतीय दण्ड विधान में मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास मात्र सम्भाव्य हत्या दोष में ही रह गया है।[13]

मृत्युदण्ड का विधान प्राचीन वाङ्मय में वैदिक युग से ही दृष्टिगोचर रहा है। स्मृतिकारों एवं धर्मसूत्रकारों ने वध दण्ड को तीन कोटि में वर्गीकृत किया है- 1. पीड़न, 2. अङ्गच्छेदन, 3. प्रमापण (फांसी)।

अतः उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय स्मृतियों एवं धर्मसूत्रकारों के द्वारा प्रतिपादित दण्ड एवं दण्ड विधान के कड़े माध्यम से राज्य शासन की प्रतिष्ठा को किस प्रकार से सुचारू रूप से चलाया जा सकता है इसका वर्णन किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में व्यास जी कहते हैं कि सारा जगत् दण्ड से ही विवश होकर उचित मार्ग पर रहता है, क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना असंभव है। सम्पूर्ण विश्व दण्ड के भय से ही डरा हुआ मर्यादा के पालन के प्रवृत्त होता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी ये सब दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग पर स्थित है।

संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल- saritasktdu@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. वधोऽर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च।
इति दण्डविधानं तैर्दण्डोऽपि त्रिविधः मतः।
का.नी.सा. 17/9
2. निर्भर्त्सनं चापमानोऽनशनं बन्धनं तथा।
ताडनं द्रव्यहरणं पुरान्निर्वासनाटने।
व्यस्तक्षौरमसद्यानमङ्गमच्छेदो वधस्तथा
युद्धमेते ह्युपायाश्च दण्डस्येव प्रभदेकाः।।
शु.नी.सा. 4/1/45-46
3. वि. स्मृति. अध्याय-5
4. का. स्मृति, 963 से 965
5. वागदण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्। मनु. स्मृ. 8/129
6. आ जिह्वया मुरदेवान् रभस्व। अथर्ववेद 3/3/2
7. (i) विद्यात् पणसहस्रं तु दण्ड उत्तमसाहसः।
तदर्धश्च तदर्धश्च मध्यम प्रथमः क्रमात्
(ii) पणानां द्वे शते सार्द्धे प्रथमः साहसः स्मृतः
मध्यमः पञ्चविज्ञेयः सहस्रं त्वथ चोत्तमः।
मनु.स्म. 8/138
8. लोभात्सहसं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्।
कामाद्दशगुणं पूर्णं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्ण बालियाच्छतमेव तु।
मनु.स्मृ. 8/120-121
9. वि. स्म. 5/105
10. न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रजनमक्षतम्। मनु.स्मृ. 6/380
11. गौ. ध.सू. 12/44 तथा का.स्मृ. 483
12. कूटसाक्ष्योऽपि निर्वास्यः। का.स्मृ. 968
13. Whoever commits murder shall be punished with death or imprisonment for life and shall also be liable to fine- I.P.C Section. 302

हिंदी सिनेमा में सांप्रदायिकता

सुनील कुमार

''तक्सीम हुआ मुल्क दिल हो गए टुकड़े
हर सीने में तूफान वहां भी था यहां भी
हर घर में चिता जलती थी लहराते थे सोले
हर शहर में शमशान वहां भी था यहां भी
गीता को कोई सुनता न कुरान की सुनता
हैरान इमान वहां भी था यहां भी''[1]

इसी से 'गर्म हवा' की फिल्म की शुरुआत होती है, भारतीय उपमहाद्वीप का सबसे भयानक मंजर हमारे सामने दिखता था तो चेहरे खौफ से भर जाते थे जिस गंगा-जमुनी तहजीब का यह मुल्क श्मशान बनता जा रहा था। इस विभाजन से मुल्क में यह भौगोलिक विभाजन भयानक विस्थापन और मौत लेकर आया। इसने बहुत सारे लोगों की कीमत पर चंद लोगों को फायदा पहुंचाया। हजारों महिलाऐं बलात्कार की शिकार हुईं। कम से कम दस लाख लोग मारे गए। एक से डेढ़ करोड़ लोगों को मजबूरन घर-बार छोड़ शरणार्थी शिविर में रहना पड़ा। 20वीं सदी की यह घटना उपनिवेशी व्यवस्था से मुक्ति की पहली घटना तो थी ही लेकिन यह अपने आप में सबसे क्रूर वाक्या भी था। पांच नदियों की भूमि जिसको पंजाब कहते थे सबसे विध्वंस हुआ तथा जिस बंगाल में नवजागरण आया वह भी इस आग में सबसे बुरी तरह झुलसा।

दो तीन पार्टियों की आपसी लड़ाई ने इस देश को ऐसे मोड़ पर खड़ा किया जिससे बाहर निकलना मुश्किल था।

किसी देश की संस्कृति जो इतिहास बोध का कार्य करता है। भविष्य में उस मुल्क को आगे बढ़ाने में मदद करती है। साहित्य का लेखन उसके तरह ही मुड़ता है तथा उसमें मिलकर समाज को बेहतर बनाने में मदद करता है।

20वीं सदी के शुरुआत में जब भारत में फ्रांस के लुमए बंधुओं ने जब प्रोजेक्टर पर दृश्य दिखाए तो भारतीय जनता को यकीन नहीं था कि ऐसा भी हो सकता है।

भारतीय लोगों में इसके प्रति बढ़ती दिलचस्पी ने इसे आगे बढ़ने में मदद पहुंचाई। धीरे-धीरे यह समाज पर इसका असर व्यापक रूप से पड़ने लगा जिसके की आम जनता आसानी से खुद को उस फिल्मों के पात्रों में अपना किरदार ढूंढ़ती।

जनता इसकी दीवानी बन गई थी। सिनेमा का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ने के साथ यह सामाजिक और अन्य राजनैतिक कार्यों में इसका हस्तक्षेप बढ़ा। आजादी के समय तक भारतीय सिनेमा का बंबई नगरी जादू की नगरी थी।

किसान, मजदूर, स्त्री आम नागरिक के स्वर को अंग्रेजी राज का विरोध और आजादी के बाद लोकतंत्र में जगह मिले इसके लिए लेखक, साहित्यकार, संगीतकार, शायरी करने वालों ने दिन रात मेहनत की और बुलंदियों पर भी गए, अभिनेता और अभिनेत्री, निर्देशक फिल्मकार, फोटोग्राफर ये सब कलाकार इनके माध्यम से दर्ज होता ये जनता के नजदीक आए। इन आम आदमी के दिलों में बस गए।

आजादी के समय भारतीय हिंदी सिनेमा काफी विस्तार के चुका था लेकिन विभाजन ने इसे झकझोर के रख दिया।

भारतीय सिनेमा में देश के किसानों, मजदूरों, आम जनों की व्यथा पीड़ा और विभाजन के बाद उसके शिकार

हुए लोगों की व्यथा को न सिर्फ दर्ज किया बल्कि देश के लोगों को संबल प्रदान किया।

जो लोग पाकिस्तान से दिल्ली के कैंपों में रह रहे थे उनके कैंपों के बाहर मैदानों में प्रोजेक्टर लगाए गए थे कि उस दु:ख दर्द को कुछ समय के लिए लोग भूल जाए एवं उससे कुछ मानसिक संबल भी मिला।

विभाजन के बाद देश के हिंदी सिनेमा ने अनेकों फिल्मों को बनाया जिससे कि विभाजन के यथार्थ को दिखाया जा जिसमें शहीद (1948), छलिया (1960), धर्मपुत्र (1961), गर्म हवा (1973), गांधी (1982), तमस (1988), ट्रेन टू पाकिस्तान (1998), हे राम (2000), गदर एक प्रेम कथा (2001), पिंजर (2003), वीर जारा (2004) आदि फिल्में प्रमुख हैं जिनके माध्यम से हम सांप्रदायिकता और विभाजन के स्वरूप और उनके मूल कारणों को समझने का प्रयास करते हैं।

सिनेमा की पहुंच आम जनता के बीच सबसे अधिक है इसलिए इन्होंने आम जनता के बीच काफी लोकप्रियता हासिल की समय के साथ बदलते भारतीय सिनेमा में अनेकों आयाम सामने आए जिनमें हम आगे क्रमश: देखते हैं।

हिंदी सिनेमा में कवियों की साहित्यकार का योगदान बहुत योगदान रहा है। इसमें हरिवंश राय बच्चन जी का योगदान काफी रहा है। उनकी सदाबहार कृति 'मधुशाला'। वर्ष 1935 में लिखी गई इस कविता ने न सिर्फ काव्य जगत में एक नया आयाम स्थापित किया वरन् यह आज भी लोगों की जुबान पर चढ़ी है। डॉ. बच्चन ने सरल लेकिन चुभते शब्दों में सांप्रदायिकता, जातिवाद और व्यवस्था के खिलाफ फटकार लगाई है।

शराब को 'जीवन' की उपमा देकर डॉ. बच्चन ने 'मधुशाला' के माध्यम से एकजुटता की सीख दी। कभी उन्होंने हिन्दू और मुसलमान के बीच बढ़ती कटुता पर कहा-

''मुसलमान और हिन्दू हैं दो, एक मगर उनका प्याला,
एक मगर उनका मदिरालय, एक मगर उनकी हाला,
दोनों रहते एक न जब तकमंदिर-मस्जिद में जाते
मंदिर-मस्जिद बैर कराते, मेल कराती मधुशाला।''[2]

धार्मिक कट्टरवाद से उबरने के लिए उनकी सीख थी-

धर्मग्रंथ सब जला चुकी है जिसके अंतर की ज्वाला,
मंदिर, मस्जिद, गिरजे सबको तोड़ चुका जो मतवाला,
पंडित, मोमिन, पादरियों के फंदों को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसी का स्वागत मेरी मधुशाला।[3]

भारतवर्ष की दशा जो आजादी बाद बिगड़ी वो इस बात को भुला दी गई।

कोई भी बड़ी ऐतिहासिक, सामाजिक या सांस्कृतिक बदलाव होता है तो वह हमारे मानस पटल पर अमिट प्रभाव डालता है। भारत की आजादी और देश का बँटवारा तो हमारे इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है जिसने भविष्य की दशा और दिशा बदल दी। इस घटना से ना केवल देश के राजनीति क स्वरूप में बदलाव आया बल्कि यहाँ के आम जनता के मानस पटल पर यह घटना गहरे तक पैठ कर गई। आज की तारीखघ में हम गौर करें तो हमें महज एक ऐसी घटना मात्र के रूप में देश का बँटवारा दिखाई देता है जिसमें कुछ करोड़ लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ा और 15-20 लाख लोगों को अकाल मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। लेकिन यह घटना सिर्फ इतना भर थी या इससे कहीं ज्यादा थी? क्या मुख्य समस्या केवल धर्म के आधार पर दो देश बन जाने भर की थी या फिर ये कि कोई बड़ी त्रासदी आती है तो आम नागरिकों को इसकी एवज में जान-माल का नुकसान उठाना पड़ता है? किसी भी घटना का आकलन करने का यही तो प्रचलित तरीका है। लेकिन यह इससे कहीं ज्यादा था जिसके कई पहलुओं का हम आकलन भी नहीं कर सके हैं।

''15 अगस्त 1947 को एक प्रमुख दक्षिण एशियाई देश का दो अलग-अलग हिस्सों में बँटवारा भूगोल की तरह मस्तिष्क का भी बँटवारा था।''[4]

इस साल हम ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन से अपनी आजादी की 75वीं वर्षगांठ मना रहे हैं। यह 190 साल लंबे और कठिन राज का एक शानदार अंत था, लेकिन इसके साथ ही भारत का अभूतपूर्व विभाजन (विशेष रूप से पाकिस्तान का निर्माण) भी हुआ। जो गरम हवा 1973 फिल्म के माध्यम से विभाजन के सामाजिक निहितार्थों, विशेष रूप से सांप्रदायिकता और राजनीतिक पूर्वाग्रह की 'जलती हवाओं' का विश्लेषण करके परिवार के प्रत्येक सदस्य की दुर्दशा और समस्याओं पर प्रकाश डालती है। इसे भारतीय समानांतर सिनेमा की एक ऐतिहासिक फिल्म भी माना जाता है, यानी ऐसी फिल्में जो व्यावसायिक

सिनेमा का हिस्सा नहीं थीं।

यह फिल्म विभाजन के बाद की दुनिया में फिल्माई गई है, महात्मा गांधी की हत्या के कुछ समय बाद। यह आगरा में रहने वाले एक अमीर मुस्लिम परिवार – मिर्जा के इर्द-गिर्द घूमती है। परिवार के मुखिया और नायक सलीम मिर्जा अपने पिता से विरासत में मिला जूता बनाने का व्यवसाय चलाते हैं, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तर भारत में सबसे अच्छे व्यवसायों में से एक है। उनके बड़े भाई हलीम, एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और अपने पिता की हवेली के मालिक हैं और ऑल इंडिया मुस्लिम लीग के नेता हैं, जिन्होंने मुस्लिम अधिकारों के लिए लड़ने और कभी भारत न छोड़ने की कसम खाई है। सलीम का सबसे बड़ा बेटा बाकर उसे व्यवसाय चलाने में मदद करता है; छोटा बेटा सिकंदर एक छात्र है; और उसकी बेटी अमीना की शादी हलीम के इकलौते बेटे काजिम से होने वाली है। परिवार की अन्य महिलाएँ सलीम की माँ और सलीम की पत्नी जमीला हैं।

परिवार को समाज में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता हैरू टूटे हुए भारत की आर्थिक स्थिति को देखते हुए, बेरोजगारी पहले से ही अधिक थी, जिससे काजिम को अपने धर्म के कारण और भी नुकसान उठाना पड़ा। भारतीय समुदायों के बीच तनाव बढ़ रहा था और हलीम ने बेहतर जीवन की तलाश में पाकिस्तान जाने पर विचार करना शुरू कर दिया – एक राजनीतिक नेता के रूप में उन्होंने जो प्रोत्साहित किया उसके पूर्ण विरोधाभास में। हालांकि, सलीम अपने पूर्वजों की भूमि में रहना चाहता था, और इसने मिर्जा परिवार के लिए शुरुआती टूटने का बिंदु बना दिया। घर के मालिक (हलीम) के देश छोड़ने के कारण, सरकार घर को 'निष्कासित की संपत्ति' के रूप में चिह्नित करेगी, जिससे मिर्जा का उस पर कोई कानूनी अधिकार नहीं रहेगा। निम्नलिखित दृश्यों में, हम सलीम द्वारा सामना किए जाने वाले भेदभाव को देखते हैं, इसके अलावा यह डर भी है कि घरों की तलाश करते समय उन्हें अपना देश छोड़ना पड़ सकता है।

इसके संवाद गहरे रूप से भारतीय मुस्लिम समाज के यथार्थ को बाहर लाते आम भारतीय मुसलमान उपापोह की स्थिति में है इसके पास अपने सुरक्षा और शिक्षा का समस्या है और इसका उपाय वो राजनेताओं के बहकावे में आकर पाकिस्तान में जाने पर इसका हल सोचता है।

इस मूवी में इसका पुरुष पात्र कहता है – BA पास करो या MA इस मुसलमान को कहीं भी नौकरी नहीं मिल सकती,

स्त्री पात्र – कहाँ मिलेगी?

पुरुष पात्र – पाकिस्तान...

व्यापार के मुद्दे भी काफी अहम् है इसका पुरुष पात्र कहता है –

''मैं यहां नहीं रहूंगा मुझे फौरन हवेली, तहखाना बेचकर पाकिस्तान के लिए रवाना होना है, ये सिंधी, पंजाबी इसलिए वहां से भाग आए कि वहां का सारा कारोबार ठप जाए इसलिए हम वहां जाए तो कारखाना भी चल जाए।''[5]

इस तरह समस्या हिंदू और मुसलमान दोनों के साथ दोनों सीमाओं के बाहर घट रही थी पाकिस्तान जाने वाले भारतीय मुसलमान यह सोचते थे कि पाकिस्तान में हम अपना उद्योग धंधे विकसित कर बड़े उद्योगपति बन जाएंगे तो पाकिस्तान से भारत आने वाले व्यापारी वर्ग या सोचता था कि भारत में हम अपने ऊंचाई पर जाएंगे किसी तरह रोक-टोक उत्पन्न नहीं होगी बैंक हमें लोन देंगे उससे रुपए मिलेंगे और हमारा कारोबार बेहतर होगा हमारी पारिवारिक स्थिति बेहतर होगी लेकिन यथार्थ कुछ अलग था यह एक स्वप्न था जिस समय के साथ खत्म हो गया इस गर्म हवा के संवाद के माध्यम से समझा जा सकता है जब पाकिस्तान से भारत आई एक चिट्ठी छोटी बेगम पढ़ती है तो वहां का यथार्थ सामने आता है –

''अच्छे हैं वहां से आकर लीडर छोड़ देनी पड़ी सरकार ने आटा चक्की की मशीन दी है उसी को चलाते है''[6]

इस पर बुजुर्ग स्त्री पात्र कहती है –

''झाड़ू फिरे इतनी बड़ी हवेली, कारखाना छोड़ आटा-चक्की पीसने गए।''[7]

यह संवाद उन व्यापारी किसान के लिए विशेष रूप से की पाक में हम सब अमन शांति और धनी बनकर रहेंगे जो भारत में नहीं कर पा रहे हैं एक दिवा स्वप्न के अलावा कुछ नहीं है।

यह फिल्म एक झाड़ी से फूल तोड़ने जैसा है। फूल मिर्जा परिवार के सदस्य हैं, जो किसी न किसी कारण से एक-एक करके तोड़े जा रहे हैं। इसे एक क्रमिक अवरोहण के रूप में दर्शाया गया है क्योंकि वे अपने अकेलेपन और

असहायता से जूझ रहे हैं। इसे एक प्रमुख दृश्य-रात्रिभोज के माध्यम से दर्शाया गया है। फिल्म की शुरुआत एक पूरे 10 सदस्यों वाले परिवार के खाने और विभाजन की परेशानियों पर चर्चा करने से होती है, और इसे पूरे समय दोहराया जाता है, लेकिन कम से कम सदस्यों के साथ- खूबसूरती से किया गया। कहानी की जड़ गांधी के धर्मनिरपेक्षता और आदर्शवाद में विश्वास में निहित है जो उन लोगों के साथ प्रतिध्वनित होती है।

एक अति महत्वपूर्ण फिल्म 'तमस' जो सन 1974 में भीष्म साहनी द्वारा लिखित उपन्यास पर आधारित है इसका जिक्र न कर हम विभाजन के उन अधूरी दास्तान को छोड़ देते हैं। यह उपन्यास के बाद फिल्म के रूप में 1988 में आती है। इस फिल्म में पाकिस्तान रह रहे भारतीय और सिख परिवारों के साथ हुए सांप्रदायिक दंगों, आम लोगों, मजदूर, किसानों महिलाओं की स्थिति को बखूबी यथार्थवादी तरीकों से दिखाया गया है-

फिल्म में उपस्थित दो पात्र लीजा और रिचर्ड के संवादों से समझने की कोशिश करेंगे-

''बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड. मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इनको आपस में लड़वाते हो। क्यों, ठीक है न?''[8]

ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्ति कभी नहीं चाहती थी देश आजाद हो इसलिए उन्होंने भारतीय समाज के इन दो सबसे बड़े समुदायों के भीतर एक-दूसरे के भय का बीजारोपण करना प्रारंभ किया। यह भय किस चीज का था, यह भय था पहचान का। अपनी अस्मिता के खोने का भय दिखाकर इन दोनों समुदायों के बीच वैमनष्यता का बीज बोया गया। इसके लिए उन्हें माकूल उर्वरक भूमि मिली मुस्लिम लीग और कांग्रेस में। उपन्यास के एक अंश में वो तत्व नजर आते हैं जो पूरी तरह से राजनीति प्रेरित थे। यहाँ एक प्रसंग आता है- नत्थू ने झट से पीछे मुड़कर देखा। तीन आदमी गली के मोड़ पर से सहसा प्रकट हो गये थे और नारे लगाने लगे थे। नत्थू को लगा जैसे गली के बीचोबीच खड़े वो गान मंडली का रास्ता रोके खड़े हैं। इन तीन आदमियों में एक के सर पर रूमी टोपी थी और आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा था। वह आदमी गली के बीचोबीच खड़ा मंडली को ललकारता हुआ सा बोल रहा था -

''कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है।'

इसका जवाब मंडली की ओर से एक बड़ी उम्र के आदमी ने दिया–

'कांग्रेस सबकी जमात है। हिन्दुओं की, सिखों की, मुसलमानों की। आप अच्छी तरह जानते हैं महमूद साहिब, आप भी पहले हमारे साथ ही थे।' और उस वयोवृद्ध ने आगे बढ़कर उस रूमी टोपी वाले को बाँहों में भर लिया। मंडली में से कुछ लोग हंसने लगे। रूमी टोपी वाले ने अपने को बाँहों से अलग करते हुए कहा-

''यह सब हिन्दुओं की चालाकी है, बख्शी जी हम सब जानते हैं। आप चाहे जो कहें कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। कांग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।''[9]

औपनिवेशिक शक्तियां यही चाहती थीं। वे नहीं चाहती थीं कि भारतीय समाज पूंजीवाद के बजाय वर्गभेद के विरुद्ध लड़े। पूरा प्रसंग इस बात कि तस्दीक करता है कि उस समय का राजनीतिक परिदृश्य इन दो दलों में विभाजित था जिसका कहीं न कहीं कारण राजनैतिक महत्वाकांक्षा था। अपनी महत्वाकांक्षा की खातिर इन दोनों दलों ने वर्षों से चली आ रही हिन्दू-मुसलमान की साझी संस्कृति को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया, जिससे बाद में भारत और पाकिस्तान नामक दो भौगोलिक क्षेत्र बनें। आज भी सत्ता और व्यवस्था की ये महत्वाकांक्षा बनी हुई है, आज भी समाज को आपस में लड़ाने की कवायद होती है।

फिल्म को उपनिवेश और जनवादी चेतना के संघर्ष रूप में देखा जाये जिसे राजनैतिक शक्तियां रोकना चाहती थीं और उसके लिए वे क्या कर रही थीं तो उसे इस रूप में देखा जा सकता है। 'तमस (उपनिवेश) से संघर्ष करने वाला दीया (जनवादी चेतना) बाहरी हवा (वित्तीय पूँजी) के झोंका (निवेश) से झपकी लेता (अवरूद्ध होता है) है और नत्थू (जनवादी जमात) इस भ्रम में पड़ जाता है (भ्रम में डाला जाता है) कि उसकी सांस (जीने की शर्त) और दीये की बाती आपस में टकरा रही है। बाह्य और आतंरिक उपनिवेश अर्थात तमस से मुक्ति की चेष्टा अंतर्घात से जूझती रही।''[10]

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि तमस साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास नहीं है बल्कि इसमें

उस पृष्ठभूमि की अभिव्यक्ति भी हुई है जिसकी वजह से साम्प्रदायिकता की आग भड़कती है। आज भी हम उसकी ताप महसूस कर सकते हैं। उन्मुक्त बाजार और बेलगाम पूँजी किस तरह से समाज को तोड़ रही है ये किसी से छुपा नहीं है, साथ ही सत्ता का उससे गठजोड़ भी प्रत्यक्ष है।

फिल्म 'ट्रेन टू पाकिस्तान' खुशवंत सिंह के 1956 में लिखे इसी नाम के चर्चित उपन्यास पर आधारित है, जिसकी कहानी भारत-पाक सीमा पर बसे एक काल्पनिक गांव मनो माजरा पर केंद्रित है। यह एक ऐसा शांत गांव है जहां सिख और मुसलमान बरसों से प्रेम भाव से रहते हैं। वहां सतलुज नदी पर एक रेलवे लाइन भी है।

गांव की ज्यादातर जमीन सिखों की है और मुसलमान वहां मजदूर के रूप में काम करते हैं लेकिन जब देश का बँटवारा होता है तो सांप्रदायिक दंगों का तूफान सब कुछ तहस-नहस कर देता है।

जब पाकिस्तान में रह रहे सिख भारत की सीमा में आ रहे होते हैं, तभी पाकिस्तान से एक ऐसी ट्रेन भारत पहुँचती है, जो सिख, हिंदू पुरुषों, महिलाओं और बच्चों के शवों से भरी होती है।

2001 में रिलीज हुई 'गदर' का निर्माण जी टेली फिल्म्स ने और निर्देशन अनिल शर्मा ने किया था। फिल्म की कहानी विभाजन के दौरान दंगों से शुरू होती है जहां एक सिख युवक तारा सिंह एक मुस्लिम युवती सकीना को दंगाइयों से बचाता है। कभी तारा और सकीना शिमला के कॉलेज में साथ पढ़ते थे। तारा अब अमीना को उसके घर भेजना चाहता है तो पता लगता है कि दंगों में उसके पिता अशरफ अली की मौत हो गयी है तब ये दोनों शादी कर लेते हैं। इनका एक बच्चा भी हो जाता है-जीत।

तभी पता लगता है कि अशरफ जिंदा ही नहीं, वह पाकिस्तान में मेयर बनकर राजनीति में छाया हुआ है। अमीना तब अपने पिता से मिलने लाहौर चली जाती है। लेकिन अशरफ उसे वापस भारत ना भेजकर, वहीं उसकी दूसरी शादी कराने लगता है। तब नाटकीय अंदाज में तारा और जीत भी लाहौर पहुँच जाते हैं और फिर अमीना, तारा और जीत भारत आते हैं।

भारतीय समाज में घटित इन धार्मिक सांप्रदायिक सवालों को लेकर और उन जवाब को तलाश में से संबंधित उसे परिवेश और उसे यथार्थ को प्रस्तुत करती इन हिंदी फिल्मों ने भारतीय समाज को एक नए सिरे से यथार्थ से रूबरू करवाया है। एक और सवाल उपस्थित इन सिनेमा के कलाकार संगीतकार रंगकर्मी उपन्यासकार बड़ी संख्या में विभाजन की त्रासदी को झेल चुकी थी तो उनके सामने असलियत का चेहरा मौजूद था जो भारतीय सिनेमा में मिलता है।

हिंदी सिनेमा ने दिखाया कि यह समस्या मात्र चंद नेताओं के महत्वाकांक्षा के चलते हमारे समाज में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए, अगर भारत एक होता तो दुनिया का सबसे खूबसूरत और ताकतवर मुल्क होता दुनिया में सबसे अधिक मुसलमान यहां रहते तथा यहां जो अर्थ कश्मीर और अन्य सीमाओं पर खर्च होती है वो मुल्क की तामीर में लगता चीन जैसा देश हमारे जमीन को कब्जे में नहीं लेता और हम तरक्की के रास्ते आगे बढ़ गए होते। यह झगड़ा न सिर्फ सिर्फ दो मजहबों के बीच था, न दो सभ्यताओं के बीच था बल्कि यह दो महत्वाकांक्षी नेताओं की आपसी सनक ने इस खूबसूरत मुल्क का बंटवारा कराया। एक तरह लाहौर, इस्लामाबाद जैसा संस्कृति बौद्धिक शहर बर्बाद हो गया तो दूसरी तरफ बंगाल को जी नवजागरण के रूप में जाना जाता था वह भस्म हो गया।

एक संकुचित मुल्क, जो धर्म के नाम उलझा रहा, का निर्माण हुआ। इस भीषण त्रासदी से दोनों मुल्कों के बच्चों युवाओं के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा उसे आज भी हमारे देश के युवा उभर नहीं पाए हैं। हमारे इस लेख में दिखाए गए फिल्मों में यह प्रमुख रूप से सामने आता है। उसका प्रभाव समाज साहित्य और आगे के राजनीतिक पर मिलता है 1992 बाबरी मस्जिद विध्वंस और राम मंदिर आंदोलन के रूप में देश में जो नई राजनीति शुरू हुई उसके चलते सांप्रदायिकता का बढ़ावा मिला एवं जाति-धर्म से संबंधित मुद्दों को प्रमुख दिया जाने लगा एक तरफ कश्मीर के मुद्दे रहे तो दूसरी तरफ पूर्वोत्तर भी इससे अछूता न रहा आज देश में जो सांप्रदायिकता फैली है वह उसके मूल में विभाजन के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। इसका सचित्र यथार्थ रूप हम हिंदी सिनेमा में देखते है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. https://youtu.be/eHfrHDBxCFU?si=qc61iSDsOUTrAbB0
2. http://kavitakosh.org/kk/मधुशाला/हरिवंशराय बच्चन
3. http://kavitakosh.org/kk/मधुशाला/हरिवंशराय बच्चन
4. Page-24 the psychological impact of the partion of india
5 गरम हवा https://youtu.be/eHfrHDBxCFU?si=GBcDO7bUhH2Mrv6z
6. गरम हवा https://youtu.be/eHfrHDBxCFU?si=GBcDO7bUhH2Mrv6z
7. गरम हवा https://youtu.be/eHfrHDBxCFU?si=GBcDO7bUhH2Mrv6z
8. तमस - रिचर्ड लिजा संवाद https://youtu.be/3hee6EMHMAk?si=VGki_Hzoux1GOHvx
9. तमस - बख्शी लीगी संवाद https://youtu.be/3hee6EMHMAk?si=VGki_Hzoux1GOHvx
10. भीष्म साहनी के उपन्यास तमस पर एक नजर - प्रफुल्ल कोलख्यान, सृजन गाथा, 7 जनवरी 2016

महाभोज : राजनीति की विडंबना

डॉ. चित्तरंजन कुमार

शोध सार :

महाभोज में भारतीय राजनीति के समूचे चरित्र और सर्वव्यापी अन्धकार का चित्रण किया गया है। महाभोज का महत्व राजनीतिक यथार्थ को उद्घाटित करने में ही बल्कि उस समूचे यथार्थ को क्रियात्मक स्तर पर चित्रित करने में भी है। 'महाभोज' समकालीन भारतीय राजनीति की सम्पूर्ण सत्ता संरचना व भाषिक अंतरविरोधों को पूरी तलखी के साथ उद्घाटित करता है। 'महाभोज' एक ऐसी राजनीति की अंतर्कथा है जिसने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सपनों व मूल्यों लाश में तब्दील कर दिया है।

बीज शब्द :

महाभोज, देश, राजनीति, मूल्य, सपने, चेतना, गिद्ध, लाश, राजनेता, पुलिस, प्रेस, शरीर, हिंसक, पाशविक, विडंबना, अपराधी, क्रूरता, विकल्प।

मूल लेख :

'महाभोज' हिंदी साहित्य का इकलौता राजनीतिक उपन्यास है। जनतंत्र की विडंबना व राजनीति के प्रतिमानवीय चरित्र को महाभोज उद्घाटित करता है। यह स्वतंत्र भारत की भ्रष्ट, सत्तालोलुप व बंजर राजनीति की प्रतिनिधि कथा है। यह कथा सरोहा गांव के विधानसभा क्षेत्र पर केंद्रित है।

'महाभोज' भारतीय स्वाधीनता के 32 वर्षों बाद लिखा गया उपन्यास है। यह एक विशेष ढंग से हिंदी साहित्य का इकलौता राजनितिक उपन्यास है।

'महाभोज' मन्नू भंडारी का दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास के माध्यम से मन्नू भंडारी ने समाज के प्रति अपने लेखकीय दायित्व के ऋण को चुकाने की कोशिश की है। मन्नू जी मानती है कि लेखकीय नैतिकता का अंतिम प्रमाण व्यवस्था के सच का पर्दाफाश है।

इस उपन्यास की कथा में बिसू की हत्या होती है और उसका निर्दोष मित्र बिंदा हत्यारे के रूप में गिरफ्तार किया जाता है। ये दोनों शोषित दलित जन के प्रतिनिधि हैं। बिसू का अपराध हरिजन टोले में घूमघूम कर उन्हें संगठित व सचेत करता है। बिंदा भी बिसू के रास्ते पर चलता हुआ दिखाई देता है। ये दोनों सच मे जीना चाहते हैं और सिर्फ जीना ही नहीं चाहते बल्कि जीवन को अर्थ भी देना चाहते हैं। लेकिन इन जैसे प्रतिबद्ध, ईमानदार व मूल्यधर्मी लोग स्वतंत्र भारत में सम्मान व सुरक्षा का जीवन जी नहीं सकते। बिंदा के शब्दों में-'जो जिंदा है वे अब जी नहीं सकते इस देश मे मार दिए जाते हैं कुत्ते की मौत। जैसे बिसू को मार दिया गया! सोच-सोचकर दिमाग की नसें फटने लगती हैं।'[1]

लेखिका एक घायल सवाल उठाती है कि क्या इस राजनीति में मूल्यों को धारण करने की कोई संभावना नहीं है? महाभोज इसी प्रश्न के उत्तर की खोज है। यह जनतंत्र की विडंबना है कि सारवान विचार और प्रामाणिक व्यक्ति के लिए उसमें सक्रिय व चरितार्थ होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। उपन्यास में जब लोचन बाबू थोड़ा दिलचस्पी लेने लगते हैं तो मंत्रिमंडल से बाहर कर दिए जाते हैं। सक्सेना, बिंदा-तीनों सत्ता से अनुकूलित होने से इनकार कर देते हैं फलतः इस व्यवस्था में चैन से जीने का अधिकार खो देते हैं।

मन्नू भंडारी अपने पहले उपन्यास 'आपका बंटी' में स्वातंत्र्योत्तर भारत में उभरते हुए मध्यवर्ग की व्यक्तिवादिता जिसके कारण संबंधों में उत्पन्न होनेवाले टकराव व उसकी

त्रासद परिणतियां दिखाई देती है। किंतु अपने दूसरे उपन्यास 'महाभोज' में उन्होंने व्यक्तिवादिता की त्रासदियों से अधिक समाज व इतिहास की त्रासदी को रचना के लिए अधिक मूल्यवान माना। 'महाभोज' की अंतर्वस्तु का चुनाव लेखिका के इसी परिवर्तित रचना मूल्य का परिणाम है। उन्होंने लिखा : अपने व्यक्तिगत दुख-दर्द अंतर्द्वंद्व या आंतरिक नाटक को देखना बहुत सुखद व आश्वस्ति दायक लगता है, मगर जब घर में आग लगी हो तो अपने अन्तर्जगत में बने रहना व उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद व किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता? संभवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो। इसे मैं अपने व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करनेवाले परिवेश के प्रति ऋण-शोध के रूप में देखती हूं।[2]

इस राजनीति के छल और छद्म को लेखिका ने दा साहेब के व्यक्तित्व और उनकी भाषा के माध्यम से उघाड़ कर रख देते हैं। दा साहब की राजनीति, जोरावर की गुंडागर्दी व लखन जैसे अयोग्य को संरक्षण देते हुए बिसू की मानवीयता को मार देने में तनिक नहीं हिचकिचाती। बिंदा के मानवीय व सम्भावनायुक्त क्रोध को हत्या का अपराधी बना देने में अपनी बौद्धिक योग्यता का प्रमाण देती है और सक्सेना के ईमानदार प्रशासनिक अनुशासन को अयोग्य बनाकर खारिज कर देने में जरा भी शर्म नहीं आती। यह राजनीति का एक भयावह चेहरा है और परिवेश भी। महाभोज इस परिवेश को ईमानदार व अर्थवान व्यक्तियों के अकेलेपन व यातना की कथा है। यह अकेलापन सत्ता के क्रूर व चालाक संरचना का परिणाम है। यह अकेलापन न्याय व औचित्य के बुनियादी अधिकार के लिए किए जानेवाले संघर्ष से पैदा हुआ है।

उपन्यास के अंतिम भाग में लेखिका ने लिखा है-''शहर के अलग-अलग भागों में अलग-अलग ढंग से जश्न मनाती व मौज में डूबी इस विशाल बिरादरी से कटे हुए तीन लोग—सक्सेना, लोचन बाबू और बिंदा—पूरी तरह उपेक्षित, परित्यक्त और एक तरफ फेंके हुए!''[3] यह आजादी के बाद का भारत है जिसमें आजादी व मनुष्य के सपनों के हक में लड़ने वाले लोग निर्वासित, उपेक्षित व परित्यक्त हैं। लोचन बाबू के लिये लेखिका ने लिखा है-''लेकिन हजार-हजार प्रश्नों के सलीब पर टंगा हुआ उनका मन हर पल उन्हें मथता रहता है। अपने आस-पास और चारों तरफ जो कुछ हो रहा है, उसे आंख मूंदकर स्वीकारते रहें—एकदम उदासीन और तटस्थ होकर? रह सकता है कोई भी जीवित आदमी इस तरह? नहीं रह सकते थे, तभी तो एक बहुत बड़ी क्रांति के एक छोटे से वाहक बने थे। पर कैसी हुयी यह क्रांति और कौन करेगा उस क्रांति को जो सब कुछ बदल दे? आज तो परिवर्तन का नाम लेनेवाले की आवाज घोंट दी जाती है—उसे काटकर फेंक दिया जाता है। एक तरफ फिंके गिने-चुने आदमियों के घुटे गले और रूँधी आवाजों से क्रांति का स्वर फूट सकेगा अब कभी?''[4]

'महाभोज' राजनीति के चारित्रिक स्खलन और उसकी क्रूरता की ही दास्तान नहीं है बल्कि उसमें इस राजनीति के विकल्प की खोज का तनाव व बेचैनी भी है। उपन्यास का अंत संकेत देता है कि इस राजनीतिक तंत्र का विकल्प विद्यमान है। उपन्यास को पढ़ते हुए एक विकल्पहीनता का अहसास तो होता है। स्वतंत्र भारत में वर्तमान राजनीति को लेकर मध्यवर्गीय निराशावाद की छवि भी दिखाई देती है। लेकिन रेल के सेकंड क्लास के डिब्बे में सक्सेना व रुकमा का अगल-बगल बैठना, सक्सेना की गोद मे रखे ब्रीफकेस में आगजनी और बिसू की मौत से भरी फाइलें रखी होना, रोती हुई रुकमा को सक्सेना का थोड़ी सख्त आवाज में चुप कराना और रुकमा के लिए स्वर का इतना परिचित होना इन सबमें संघर्ष और आशा की किरण दिखाई देती है। यह संघर्ष महज राजनीति के स्तर पर ही नहीं होगा बल्कि इसकी व्याप्ति समाज के संभ्रांत व सतह पर राजनीति से जुड़ाव नहीं रखनेवाले वर्गों के विरुद्ध भी होगा।

मन्नू भंडारी ने राजनीति के पतन को सामाजिक सापेक्षता में चित्रित किया है। समाज व राजनीति में उत्पन्न हुई इस महाभ्रष्टता को 'महाभोज' में लेखिका ने सिन्हा की पार्टी के माध्यम से उद्घाटित किया है जिसमें लेखिका का आक्रोशजनित व्यंग्य बहुत प्रभावशाली है। इस संघर्ष का लक्ष्य क्या होगा? ''लेकिन किसी के दिमाग मे एक क्षण के लिए भी यह बात न आई कि डीआईजी की हैसियत का आदमी इतनी कीमती शराबें कहां से पिला सकता है, कैसे पिला सकता है? किसी बड़े जौहरी की दुकान के शो-केस की शोभा बढ़ानेवाला कम से कम बीस-पच्चीस हजार का हीरों का सेट श्रीमती सिन्हा के शरीर की शोभा बढ़ाने कैसे आ पहुंचा? कहां से आ पहुंचा?''[5] 'महाभोज' इस राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था में आदमी के आक्रोश की संभावना के प्रति अपना नैतिक समर्थन देता है। 'महाभोज' के तीन पात्र बिंदा, सक्सेना व लोचन बाबू का बचे रहना अंधकार से भरी हुई महानिशा में सुबह की उम्मीद का प्रतीक है।

इस उपन्यास के विधान में मन्नू भंडारी ने स्थितियों और पात्रों के वाचकीय कथनों के द्वारा इस राजनीति की कुरूपता को व्यंजित किया है। इस समूची राजनीति का सामान्य जनता के प्रति क्या दृष्टिकोण है उसे कुछ पात्रों के संवाद के माध्यम से लेखिका ने रेखांकित किया है। काशी चम्मच से चीनी हिलाते हुए बोले-''देखो बिहारी भाई, अब इन गांववालों को बहुत कोसने-गलियाने से तो कुछ होगा नहीं। जैसे हैं..हैं! तुमने तो उनके लिए कभी कुछ किया भी नहीं, पर बिसू ने तो जब से होश संभाला, इन्हीं के लिए मरता खपता रहा था। लेकिन पांच साल पहले जब बिना वजह पकड़कर उसे जेल में डाल दिया था तो सब सांस खींचकर बैठ गए। तब तो इमरजेंसी भी नहीं थी, फिर भी किसी ने चूँ तक नहीं की।''[6]

बिहारी और काशी का समूचा संवाद गांव के चरित्र पर राजनीति की टिप्पणी है। इस राजनीति में गांव न तो चुनौती का विषय है न चिंता का। राजनीति के सपनों व लक्ष्यों के भूगोल से बाहर भारत के विराट ग्राम्य समाज का होना भी एक विडम्बना है जिसे मन्नू जी बार-बार इस उपन्यास में रेखांकित करती है।

इस उपन्यास में राजनीति के आपराधिक चरित्र को भी रचना चिंतन में शामिल किया गया है। जोरावर सिंह जनतंत्र की समूची प्रक्रिया के प्रहसनात्मक कार्यवाही का बयान करता है। यह जनतंत्र समाज के शक्तिशाली लोगों के हितों व कृपा से संचालित है। इस जनतंत्र में अपराधी और अपराधियों को संरक्षण देनेवाली राजनीति की भूमिका केंद्रीय है। जोरावर सिंह और दा साहेब के संवाद के माध्यम से लेखिका ने राजनीति व अपराध की अंतरंगता का उद्‌घाटन किया है। दा साहेब-यह सही है कि जब मैं किसी का हाथ पकड़ता हूं तो बीच में नहीं छोड़ता। स्वभाव है मेरा। पर कोई इसे दुर्बलता समझकर नाजायज फायदा उठाना चाहे तो....। अधूरे वाक्य को उन्होंने शब्दों से नहीं नजरों से पूरा कर दिया।[7]

जवाब में जोरावर कहता है-नाजायज फायदा तो आप उठा रहे हैं हमारी दोस्ती का आजकल।[8]

जोरावर आगे कहता है-''बदल रहा होगा जहां बदल रहा होगा जमाना। हमारे रहते सरोहा में नहीं बदल सकता जमाना। इन हरिजनों के बाप-दादे हमारे बाप-दादों के सामने सिर झुकाकर रहते थे। झुके-झुके पीठ कमान की तरह टेढ़ी हो जाती थी। और ये ससुरे सीना तानकर आँख में आँख गाड़कर बात करते हैं -बर्दाश्त नहीं होता यह सब हमसे।''[9]

इस तरह से 'महाभोज' के अपने सम्पूर्ण वस्तु विधान में राजनीति के समूचे चरित्र और सर्वव्यापी अंधकार का चित्रण किया गया है। इस प्रक्रिया में वे मूल्यधर्मी शक्तियों के अकेलेपन व यातना के प्रति गहरी सहानुभूति व संवेदना प्रकट करती है। महाभोज का महत्व महज राजनीतिक यथार्थ को उद्‌घाटित करने में नहीं बल्कि उस समूचे यथार्थ को क्रियात्मक स्तर पर चित्रित करने में भी है। 'अंधेरे में' मुक्तिबोध ने जिस जुलूस का जिक्र किया था वह जुलूस इस उपन्यास में अपनी समूची सक्रियता के साथ दिखाई देता है। ऐसी राजनीति के विकल्प में लेखिका एक वैकल्पिक राजनीति की संभावना को रेखांकित करती है जिसमें समाज के अत्यंत साधारण जनों के प्रति दायित्व का भाव हो। एक ऐसी राजनीति जिसकी भाषा व आचरण में द्वैत न हो, एक ऐसी राजनीति जो राजनीति के मोर्चे पर नहीं बल्कि समाज के मोर्चे पर भी सक्रिय हो। और ऐसी राजनीति की संभावना वे बिन्दा, सक्सेना व लोचन बाबू जैसे चरित्रों में देखती है।

यह उपन्यास अपने सम्पूर्ण प्रभाव में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' के उस वाक्य की याद दिलाता है -वह एक और मन न रहा राम का।' यही मन इतने सघन व भयावह अन्धकार के बावजूद भविष्य के स्वप्न के प्रति हमें आश्वस्त करता है। महाभोज को हम स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज व राजनीति के महापतन की गाथा के साथ मनुष्य के संघर्ष व संभावनाओं के रूप में पढ़ सकते हैं। सक्सेना की गोद में पड़ी फाइल संघर्ष का बीज है और लेखिका इस बीज के अंकुरित होने का संकेत देती है।

'महाभोज' की सार्थकता इस बिंदु पर भी है कि यह समकालीन भारतीय राजनीति की सम्पूर्ण सत्ता संरचना व भाषिक अंतरविरोधों को पूरी तलखी के साथ उद्‌घाटित करता है। 'महाभोज' एक जीवित देश को नोचे जानेवाले गिद्धों की अंतर्कथा है। एक ऐसी राजनीति की अंतर्कथा जिसने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सपनों व मूल्यों को लाश में तब्दील कर दिया है। यह समूचा देश ही राजनीति के लिए 'महाभोज' है। यह महाभोज राजनीति की पाशविकता, क्रूरता का पर्याय है। महाभोज एक ऐसी राजनीति की व्यंजना करता है जिसमें 'खाना' ही उसकी मुख्य क्रिया है। इस राजनीति में न तो कोई स्वप्न है, न कोई दायित्व चेतना, न कोई मूल्य। इनको खोकर यह राजनीति एक गिद्ध में परिवर्तित हो गयी है और देश की विराट संभावनाओं को लाश बनाकर खा रही है। इस महाभोज

में शामिल होनेवाले लोगों में राजनेता, पुलिस, प्रेस व सामन्तवादी शक्तियां हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राजनेता, पुलिस, प्रेस, व सामंत की सहकारिता पर आधारित यह राजनीति गीता व गांधीवाद की खाल ओढ़कर न्याय व समता की पक्षधर शक्ति का शिकार करती है।'महाभोज' नाम उपन्यास की अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में अत्यंत सटीक व व्यंजनाधर्मी है। इस महाभोज में गिद्धों के लिए समाज मात्र एक शरीर है। यह समूची समाज के शरीर को सम्बोधित करती है उसके आम तत्व को नहीं। राजनीति के नितांत स्थूल हो जाने व क्षुद्र हो जाने की विडंबना को भी महाभोज शीर्षक से लेखिका ने व्यंजित किया है। महाभोज से राजनीति के हिंसक, अपराधी व पाशविक हो जाने के अर्थ की व्यंजना होती है। इस उपन्यास में राजनीति नितांत स्थूल और क्षुद्र हो गयी है जो एक राजनीतिक विडम्बना बन गयी है। यह उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन में मूल्यभक्षी राजनीति की कथा है।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : chittaranjan.kumar2009@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. महाभोज, पृष्ठ-117
2. भूमिका, महाभोज
3. महाभोज, पृष्ठ-155-156
4. वही, पृष्ठ-157-158
5. वही, पृष्ठ-151
6. वही, पृष्ठ-74-75
7. वही, पृष्ठ-139
8. वही, पृष्ठ-139
9. वही, पृष्ठ-139-140

मनोज रूपड़ा की कहानियों में बाजारवाद एवं हाशिए का स्वर

प्रेमनन्दन वत्स

20वीं सदी का अंतिम दशक भारतीय समाज में कई महत्वपूर्ण बदलावों का गवाह है, जिसकी पृष्ठभूमि उदारीकरण, बाबरी मस्जिद-विध्वंस और मंडल कमीशन का लागू होना माना जाना चाहिए। परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक ताना-बाना काफी हद तक बदल गया। इन बदलावों को हिंदी कहानी में लक्षित करने का प्रयास युवा होती पीढ़ी के कहानीकारों ने अपनी रचना के माध्यम से किया। मनोज रूपड़ा इस पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार हैं। नव-उपनिवेशवादी अपसंस्कृति, बाजारवाद, उपभोक्ता में तब्दील होता मनुष्य, समाज से खत्म होती मनुष्यता, सामाजिक रिश्तों में क्षरण, हाशिए का समाज आदि मनोज रूपड़ा की कहानियों का मुख्य स्वर है।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विकास अवश्यम्भावी है। निस्संदेह यह हमारी राहें आसान करता है। मगर विडंबना यह है कि इससे प्राप्त शक्ति का इस्तेमाल लोक-कल्याण के लिए न होकर आम-जन के शोषण के लिए होता आया है। बकौल विश्वनाथ त्रिपाठी-''दुर्भाग्य यह है कि हर वैज्ञानिक खोज से उत्पन्न तकनीक की बढ़ोतरी से शोषक की शोषण-शक्ति बढ़ जाती है।'' मनोज रूपड़ा अपनी कहानियों में आधुनिकता अथवा विकास के खिलाफ नहीं है बल्कि वह इससे उत्पन्न समस्या का प्रतिपक्ष रचते हैं। समकालीन युवा पीढ़ी आधुनिकता के माध्यम से सशक्त होने के बजाय बाजार द्वारा संचालित एक उपभोक्ता मात्र बनकर रह गई है। नए उभरते वैश्विक बाजार ने नए तरह के रोजगार तो उत्पन्न किए किन्तु साथ ही तथाकथित रोजगारों से नए ढंग का शोषण भी हमारे सामने आता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रगति से आज हमारी राहें आसान हुई लेकिन हमारा जीवन जटिल होता गया। इसकी पुष्टि करते हुए कथालोचक राकेश बिहारी लिखते हैं-''इसमें संदेह नहीं कि हमारी राहें आज आसान हुई हैं लेकिन जिंदगी जटिल।'' इस जटिल ताने-बाने के कई सिरों को हम मनोज रूपड़ा की कहानियों में देख-पहचान सकते हैं। उनकी चर्चित एवं महत्वपूर्ण कहानी है 'साज-नासाज'। कला, कलाकार और कलाकार का आधुनिक समाज से जुड़ाव विषय पर यह एक मार्मिक कहानी है। कहानी का मुख्य पात्र एक कलाकार है जो सेक्सोफोन का उस्ताद है। बाजार में सिंथेसाइजर के आने से न केवल वह बल्कि उसके सभी साथी कलाकार किसी स्वाभाविक क्रिया की तरह बेरोजगार हो जाते हैं। यहाँ यह रेखांकित कर देना जरूरी है कि आज हम इसे स्वाभाविक क्रिया कह पा रहे हैं क्योंकि आज बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर है। बेरोजगारी के साथ-साथ इन कलाकारों को उपेक्षा भी मिलती है। मनोज रूपड़ा बड़ी बारीकी से कला में खोए एक कलाकार का दुख उजागर करते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि यहाँ दुश्मन तो ज्ञात ही नहीं है। इसलिए किसी पर दोषारोपण भी नहीं किया जा सकता-''व्यतीत द्वारा वंचित कलाकार किसको दोष दे- जब इतिहास ही खलनायक हो तब वह किसी पर दोषारोपण करने, शत्रु को अलग-थलग करने की भी स्थिति में नहीं रहता।'' वस्तुतः यह कहानी आदर्शवाद बनाम समझौते की है। कलाकार अपनी कला को आदर्श अथवा क्लासिक ढंग से बरतने की जिद पर है, इसीलिए वह समझौतेवादी म्यूजिक-इंडस्ट्री से बाहर फेंक दिया जाता है। अगर वह समझौतावादी रवैया अपनाता तो वापस शीर्ष पर पहुँच सकता था, मगर एक कलाकार

का समर्पण ही तो उसे सामान्य से विशेष बनाता है। इसीलिए सीधे तौर पर कहें तो वह बाजार में टिकने में असफल होता है। कहानी में समस्या के साथ-साथ समाधान भी ढूँढ़ा गया है। प्रश्न है- ''क्या उस दु:ख को तुम सैक्सोफोन के स्वरों के साथ सब्लीमेट (उदात्तीकरण) नहीं कर सकते?'' इसका समाधान है-''मैं देखना चाहता हूँ कि तुम सैक्सोफोन बजा सकते हो कि नहीं। अभी तक तो वह तुम्हें बजा रहा था।'' यह बाजार में वापस आकर टिकने की चुनौती है। यह लड़ाई कलाकार की खुद के व्यक्तित्व से है। लेकिन आज हम कह सकते हैं कि यह समाधान आदर्शवादी है क्योंकि बाजार का चेहरा अत्यंत क्रूर है।

हमारे समय में मनुष्य की नियति जानवरों से भी बदतर होती जा रही है। इस स्थिति को कहानी 'आग और राख के बीच' में मनोज रूपड़ा ने बड़ी बारीकी से उकेरा है। नायक की पत्नी आर्थिक तंगी से परेशान होकर समूचे परिवार के साथ आत्मदाह करने का प्रयास करती है, जिसमें केवल नायक बचता है। पत्नी और दो बच्चे जलकर राख हो जाते हैं। इस आत्मदाह की सच्चाई को उजागर करते हुए कथाकार हमारे समय की संवेदनहीनता, स्वार्थपरकता, शहर की चमक के बीच एक विक्षिप्त की स्थिति आदि सच हमारे सामने लाता है। शहर में गरीब रोगी की हालत एवं अस्पतालों की असंवेदनशीलता के बीच लेखक मनुष्यता एवं सत्ता पर बड़े व्यंग्यात्मक तरीके से सवाल दागता है-''मौजूदा समय में मनुष्य की स्थिति जैसी बातों पर चिंतन करने का तो सवाल ही नहीं उठाता! उसके दिमाग में यह ख्याल भी नहीं आता कि इतने गहरे घाव में कोई ऐसी बात भी हो सकती है, जिसे व्यवस्था के सामने एक सवाल की तरह पेश किया जा सके।''

कहानी 'प्रेत-छाया' आज के समय का विद्रूप सच उजागर करती है। एक व्यक्ति किन परिस्थितियों मे अमानवीय व्यवहार कर बैठता है-इस बात को बड़े सिनेमैटिक ढंग से मनोज रूपड़ा इस कहानी में रचते हैं। यह चिर-परिचित बात है कि मनुष्य के अंदर स्वाभाविक रूप से अच्छे और बुरे दोनों तरह के गुण विद्यमान होते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य के विवेक के ऊपर होता है कि वह अपने अंदर की अच्छाइयों को बढ़ावा देता है या बुराइयों को। इस कहानी में कथा-नायक ऐन वक्त पर बुराई के हाथों संचालित हो जाता है और अमानवीय हरकत कर बैठता है-''बेशक वे सारे कारनामे मेरे हाथों हुए लेकिन उन हाथों को संचालित करने वाला कोई और था।'' यह कोई और दूसरा व्यक्ति नहीं बल्कि उसी के अंदर का स्वार्थ है। कहानी का नायक उस उच्च वर्ग का प्रतिनिधि है जो सरकार और व्यवस्था के बीच बिचौलिया बनकर मालामाल हो रहा है। यह वर्ग उदारवाद के बाद बहुत तेजी से फला-फूला। उसका काम था-''सिर्फ चतुराई, सूझबूझ और तालमेल के जरिए राजनेताओं, अधिकारियों और ठेकेदारों की सुनिश्चित भागीदारी वाली नई अर्थव्यवस्था को उपयोगी बनाया जा रहा था, जिसमें कहीं कोई उद्यम नहीं था, सिर्फ आँकड़ों की जटिल हेरा-फेरी थी। यह वह समय था जब बहुत तेजी से अपराधियों का राजनीतिकरण हो रहा था और बहुत सारे आपराधिक दल क्षेत्रीय राजनीतिक दलों में बदल गए थे।'' साथ ही यह वर्ग भ्रामक जन-आंदोलन चलाकर सत्ता पक्ष को सहयोग करता है- ''... भ्रामक जन आंदोलन चलाया करते थे। यह जन आंदोलन ऊपरी तौर पर बहुत रेडिकल दिखाई देते थे, लेकिन उनका वास्तविक उद्देश्य 'धन' था और वह एक ऐसी चीज थी, जिसे सब अधिक से अधिक हासिल करना चाहते थे।'' मनोज रूपड़ा व्यवस्था में गहरे पैठकर 'धन के बहाव' को समझते हैं और हमारे सामने उजागर करते हैं। मूलत: यह कहानी आधुनिक समाज में अमानवीय होते उन मनुष्यों की है जिसका इलाज मनोज रूपड़ा प्रेम एवं भावात्मक लगाव में देखते हैं।

कहानी 'टॉवर ऑफ साइलेंस' का मुख्य पात्र टेम्पटन दस्तूर और उसके पिता रोमिंगटन दस्तूर के बहाने कहानी एक तरफ पारसी समाज की अंतर्कथा को उद्घाटित करती है तो दूसरी ओर इसी के समानांतर एक बंद हो चुकी मिल के बहाने नब्बे के दशक में नई आर्थिक नीतियों के नाम पर इस देश में लागू हुई नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था के बहुआयामी दुष्प्रभावों को भी बारीकी से दिखाती है। शेयर मार्केट की उड़ान और तेंदुलकर के कीर्तिमान के बीच वह चिमनी के मलबे में ईंट और चूने के पलस्तर के साथ मानव शरीर के कंकाल को भी देख पाते हैं। इस कहानी में कथाकार का उठाया गया प्रश्न आज बड़ा प्रासंगिक है-''मशीन जब चलन से बाहर हो जाती है तो उसके कल-पुर्जे अलग कर दिए जाते हैं, उन्हें तपाकर गलाया जा सकता है, और दूसरा रूप भी दिया जा सकता है, लेकिन मनुष्य और उसका जीवन?'' आज यह प्रश्न वाकई हमारे सामने आ खड़ा हुआ है कि भारत में

एक आम मनुष्य और उसके जीवन का क्या महत्व है? क्या आज एक आम-आदमी सत्ता के सामने किसी कीड़े-मकोड़े से ज्यादा की हैसियत रखता है? शायद नहीं!

'मुस्कुराहट' कहानी महानगर में प्रेम की परिणति और तय नियति के लिए अभिशप्त युवाओं की कहानी है। दरअसल आज हम जो जीवन जी रहे हैं वह भीड़ द्वारा संचालित है। भीड़ का कोई विवेक नहीं होता। परंतु स्वयं की इच्छानुसार चयन कर पाना हमारे बस में नहीं रहा है। हम सब यथास्थिति में फँसे हुए हैं। इसे मनोज रूपड़ा 'ट्रैफिक जाम सिंड्रोम' कहते हैं और यही कहानी का मूल भी है-''पहली बार मुझे मालूम हुआ कि सिर्फ इस चौराहे का नहीं हमारे पूरे आधुनिक जीवन का यही हाल है। हम जिस विकास बिंदु पर पहुँच गए हैं वहाँ इस 'ट्रैफिक जाम सिंड्रोम' से बचना मुमकिन नहीं है। मामला चाहे कैरियर का हो, प्रेम का हो या विवाह हर जगह यही मुश्किल है।''

मनोज रूपड़ा की एक सशक्त और महत्वपूर्ण कहानी है 'दृश्य-अदृश्य'। नव-उदारवाद ने गाँव से मजदूरों के पलायन को बेतहाशा बढ़ा दिया है। एक मजदूर गाँव से शहर आता है और उसे कारखाने में मशीन के साथ उसी रफ्तार से काम करवाया जाता है जितनी मशीन की रफ्तार होती है। मशीन की रफ्तार से तुक मिलाता मजदूर हमारे सामने दृश्य है, मगर धीरे-धीरे वह घुटता जाता है और बीमार होता जाता है-यह अदृश्य है। इस अदृश्य को मनोज रुपड़ा बारीकी से हमारे सामने लाते हैं। कहानी का मजदूर अत्याधुनिक कारखाने का आदर्श मजदूर है- ''उसके साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि वह बिल्कुल विचार विहीन था और जीवन के लिए जरूरी चीजों के मामले में वह बस इतना ही जानता था जितना एक बैल, एक घोड़ा या एक गधा या खच्चर ऐसा कोई प्राणी जिसे कुदरत ने नुकीले पंजे और धारदार दाँत नहीं दिए सिर्फ मजबूत पाँव और पीठ दी है।''

आधुनिकता मशीनों पर सवार होकर आई है। यह आधुनिकता अपने समूचे परिवेश में अत्यंत क्रूर और अमानवीय है-''मशीन की बड़ी से बड़ी गलती माफ थी लेकिन मानवीय भूल-चूक के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था।'' वस्तुत: यहाँ मनुष्य आदमी रह ही नहीं गया है। वह मशीन में तब्दील होने को अभिशप्त है, वरना उसे उठाकर बाहर फेंकने के लिए कहानी के 'फोरमैन' की तरह हमेशा कोई तैयार रहता है। वस्तुत: यही हाल आज समूचे समाज का है जहाँ असहमति अथवा सवाल का कोई स्थान नहीं रह गया है। यहाँ प्रत्येक मनुष्य मशीन बनने को शापित है।

इधर के समय में छद्म बौद्धिक लोगों का जमावड़ा लग रहा है। अपने को वेन केवल बौद्धिक मानते हैं बल्कि इसे सिद्ध करने का वह लगातार ढोंग भी करते रहते हैं। 'आत्मग्रस्त' के डॉक्टर दवे और प्रोफेसर शर्मा ऐसे ही दो ढोंगी बौद्धिक हैं। इनके अंदर मनुष्य के प्रतिवेदना ना होकर खुद के प्रति अहंकार और घमंड की भावना भरी रहती है। सड़क पर ठंड में ठिठुरते हुए एक नग्न बीमार व्यक्ति की दोनों के सामने ही मृत्यु हो जाती है परंतु डॉक्टर दवे उस लावारिस लाश का संस्कार मुस्कुराते हुए करते हैं-''उनके चेहरे पर वही वक्र मुस्कुराहट थी जो केवल तब उभरती है जब उनका अहंकार तुष्ट होता था या उन्हें अपनी किसी चाल के कामयाब होने पर एक तरह का विकृत आनंद मिलता था।'' इस तरह का विकृत आनंद लेने वाले अनेक बौद्धिक आज हमारे बीच मौजूद हैं।

अपनी कहानियों से मनोज रूपड़ा समकालीन यथार्थ से सीधे मुठभेड़ करते दिखाई पड़ते हैं। उनके यहाँ सूचनाओं का सार्थक प्रयोग है। इन सूचनाओं से वह हमारे समय के विद्रूप सच को सामने लाने का प्रयास करते हैं-''लेकिन सूचनाओं का प्रयोग यहाँ बेतुका या आडंबरयुक्त न होकर अपने कथावस्तु के समानांतर अपने कथा समय के अंतर्विरोधों को रेखांकित करने के लिए हुआ है।'' हिंदी कहानी में पहले-पहल सूचना और जानकारियों का प्रयोग उदय प्रकाश ने किया। बाद के लगभग सभी कथाकारों ने इसे बरतना शुरू कर दिया। इसलिए विश्वनाथ त्रिपाठी आज इसे शिल्पगत रूढ़ि कहते हैं-''उदय प्रकाश के यहाँ भूमंडलीय जानकारी और समाचारों की सारणी भी कथानक रूढ़ि बन गई है। इस शिल्प को रूढ़ि बनाने में उदय प्रकाश से अधिक श्रेय परवर्ती कथाकारों को है।'' मनोज रूपड़ा कहानी में सूचनाओं के उपयोग में उस्ताद हैं। खासतौर पर बाजारवादी शक्तियों के चित्रण और शोषण के तरीकों को दिखाने में वे इसका प्रयोग सटीक रूप में करते हैं। लेकिन बाजार केवल डेटा अथवा सूचनाओं के सहारे हमारे ऊपर कब्जा नहीं करता। वह तो हमारी संवेदनाओं के सहारे अपना काम करता है-''भावना और संवेदना के बहाने बाजारवादी शक्तियाँ इस कदर हमारे

संपूर्ण वजूद पर कब्जा कर लेती हैं कि होंठ तो हमारे हिले लेकिन शब्द उनके हो, निर्णय हमारा दिखे लेकिन उसकी डोर उनके हाथों में हों।'' इस तरह हम बाजार के उपभोक्ता होते जाते हैं और गुलाम में तब्दील हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इसका प्रतिरोध नहीं होता। हम प्रतिरोध अवश्य करते हैं मगर मजबूत अनुकूलन होने से वापस प्रतिस्पर्धा में खो जाते हैं। इस प्रकार अभाव के न होने के बावजूद हम अतृप्त महसूस करते हैं-''अभावग्रस्त की तृप्ति स्वप्न बनाकर मन में रहती है-रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा आदि के रूप में। अघाये आदमी की तृप्ति-अतृप्ति के रूप में रहती है।''

मनोज रूपड़ा का यह कौशल है कि अरुंधती रॉय, मेधा पाटेकर, वरवर राव जैसे वास्तविक चरित्र कहानी के पात्र बन जाते हैं जिससे कहानी विश्वसनीय हो जाती है। समकालीन यथार्थ जटिल है। इसे व्यक्त करने के लिए इस पीढ़ी के रचनाकारों ने फैंटेसी का प्रचुर इस्तेमाल किया है-''युवा कहानीकारों ने सत्ता के चमकीले कुहासे के परत में लिपटी सामाजिक विद्रूपताओं को उजागर करने में फैंटेसी शैली का कुशल इस्तेमाल किया है।'' मनोज रूपड़ा फैंटेसी के सिद्धहस्त कहानीकार हैं।

मनोज रूपड़ा की कहानियाँ अपने समय के अंतर्विरोधों को उजागर करती हैं। हम उनके यहाँ हिंदी कहानी के नए प्रस्थान बिंदुओं की तलाश कर सकते हैं। बाजारू अपसंस्कृति और उससे उपजी अति-संवेदनहीनता उनकी कहानियों का मूल स्वर है। वे समस्या का प्रतिपक्ष रचते हैं न कि आधुनिकता अथवा विकास के खिलाफ हैं। उनकी कहानियों में इस पक्ष के सकारात्मक पहलुओं को भी चित्रित किया गया है। अत: कहा जा सकता है कि 21वीं सदी में बाजारवाद एवं हाशिए के समाज को समझने के लिए मनोज रूपड़ा की कहानियों से गुजरना अत्यंत आवश्यक है।

शोधार्थी
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कहानी के साथ-साथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-30
2. बिहारी, राकेश, केंद्र में कहानी, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या-22
3. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कहानी के साथ-साथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-29
4. रूपड़ा, मनोज, साज-नासाज, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण, 2020, पृष्ठ संख्या-33
5. वही, पृष्ठ संख्या-44
6. रूपड़ा, मनोज, आमाजगाह, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-115
7. रूपड़ा, मनोज, साज-नासाज, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण, 2020, पृष्ठ संख्या-47
8. वही, पृष्ठ संख्या-53
9. वही, पृष्ठ संख्या-54
10. रूपड़ा, मनोज, टॉवर ऑफ साइलेंस, आधार प्रकाशन, हरियाणा
11. रूपड़ा, मनोज, साज-नासाज, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण, 2020, पृष्ठ संख्या-91
12. वही, पृष्ठ संख्या-99
13. वही, पृष्ठ संख्या-101
14. वही, पृष्ठ संख्या-128
15. बिहारी, राकेश, केंद्र में कहानी, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या-25
16. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कहानी के साथ-साथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-21
17. बिहारी, राकेश, केंद्र में कहानी, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या-24
18. त्रिपाठी, विश्वनाथ, कहानी के साथ-साथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-24

शोध-पत्र

प्राचीन भारतीय जनपदों एवं यूनान के नगर-राज्यों का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. स्वाती रंजन चौधरी

सारांश :

प्राचीन काल में समस्त भारत राजनीतिक रूप से संगठित नहीं था। परंतु धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यहाँ एकता विद्यमान थी तथा राजनीतिक रूप से यह देश अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, जिसमें अलग-अलग प्रकार की शासन संस्थाओं की सत्ता विद्यमान थी। वैदिक युग के आर्य अनेक 'जनों' (कबीलों) में संगठित थे। शुरू में ये जन व्यवस्थित नहीं थे। जब ये स्थाई रूप से किसी स्थान पर बस गए, तो ग्रामों और जनपदों का विकास हुआ। इन 'जनपदों' का स्वरूप प्राय: वैसा ही था, जैसा की प्राचीन यूनान के 'पोलिस' का था। इतिहासकारों ने इस 'नगर राज्य' (सिटी स्टेट) की संज्ञा दी है। भारत के प्राचीन जनपद भी नगर-राज्यों के रूप में ही थे। इन जनपदों में हमेशा एक ही प्रकार की शासन-पद्धति कायम नहीं रही। अनेक ऐसे जनपदों में, जिनमें पहले गणशासन था, बाद में राजतंत्र शासन स्थापित हो गया, और अनेक राजतंत्र जनपदों में बाद में गणतंत्र शासन की स्थापना हो गई। इस प्रकार से भारत का प्राचीन इतिहास, प्राचीन यूनान के इतिहास के समान है।

मुख्य शब्द :

शासन संस्थाओं, जन, जनपद, पोलिस, नगर राज्य, गणशासन, ग्राम-संस्थाएँ, राजनीतिक इकाई, सामुदायिक जीवन

उद्देश्य :

इस लेख का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि प्राचीन भारतीय जनपदों एवं यूनान के नगर राज्यों के स्वरूप में क्या-क्या समानताएं थीं?

मूल लेख :

भारतीय इतिहास का स्वरूप बहुत कुछ सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व के अंतिम चरण में निखरने लगा था। उस समय उत्तरी भारत में कोई वृहद सार्वभौम शक्तिशाली राज्य नहीं था, पूरा देश अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभाजित था जिसे महाजनपद कहा जाता था। इन जनपदों की शासन-पद्धति एक समान नहीं थी। कुछ जनपदों का संविधान एकतंत्री था तो कुछ जनपदों का लोकतंत्री और कुछ का उच्च कुलतंत्री था। वैदिक साहित्य से हमें जनपद राज्यों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताओं, पूर्ववर्ती ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के अध्ययन से विभिन्न जनों के जीवन तथा संगठन, जन से जनपद के विकास की प्रक्रिया तथा प्रारंभिक अवस्थाओं में जनपदीय जीवन की झांकी मिलती है।

गंगा घाटी के निवासियों के जीवन में जैसे-जैसे स्थायित्व आता गया वैसे-वैसे छोटे-छोटे कबीले 'राज्य' बनते गए। छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक पहुंचते-पहुंचते 'जन' रूपांतरित होकर जनपदों का रूप ग्रहण कर लिया। कुछ जनों या कबीलों ने अकेले ही जनपद की अवस्था प्राप्त कर ली तो कुछ जनों में पहले संयोग हुआ और उसके पश्चात जनपद के रूप में विकसित हुए और कुछ जन अधिक शक्तिशाली जनों के द्वारा विजित होने के बाद उन्हीं में मिला लिए गए।

प्राचीन यूनान के नगर-राज्य अनेक ग्रामों का समूह था। इन ग्रामों का निर्माण निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर किया गया था-

1. यह माना जाता था, कि ग्राम के सब निवासी

सजात है। उनकी उत्पत्ति एक ही मूलपुरुष से हुई है। रक्त की एकता उनमें एक होने की भावना को उत्पन्न करती थी। ग्राम का निर्माण अनेक परिवारों, कुलों या गोत्रों से मिलकर होता था, जो सब अपने को 'सजात' समझते थे।[1]

2. ग्राम का शासन एक ऐसी सभा के अधीन रहता था, जिसमें ग्राम के अंतर्गत विविध परिवारों के मुखिया या 'कुलमुख्य' सम्मिलित होते थे। संपूर्ण ग्राम का प्रधान इन्हीं कुल-मुख्यों में से एक होता था, जो सभा के अधिवेशनों को संचालित करता था।

3. यह समझा जाता था, कि ग्राम की संपूर्ण भूमि ग्राम की संपत्ति है। भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता था। इसलिए जो किसान उस भूमि पर खेती करता था, वह अपनी उपज का एक भाग लगान के रूप में ग्राम संस्था को प्रदान किया करता था।

4. प्रत्येक ग्राम के अपने अलग-अलग देवता होते थे और उनकी अपनी पूजा विधि भी होती थी।

एक कबीले या जन की जो विविध ग्राम-संस्थाएँ थीं, उन्होंने अपनी सुरक्षा और सुविधा के दृष्टिकोण से अपना निवास प्रायः ऊंची पर्वतीय चट्टानों पर बनाया और सघन बस्तियों का गाँव बसाया। यही नगर-दुर्ग आगे चलकर 'एक्रोपोलिस' अर्थात् उच्च पर्वतीय भाग पर स्थित नगर कहलाया। एक्रोपोलिस के ऐसे ही स्थलों पर अपने-अपने राज्यों में यूनानियों ने सार्वजनिक भवनों और मंदिरों का निर्माण किया जहां वे सामुदायिक जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श करते थे। एक्रोपोलिस के समीप निचले खुले क्षेत्र पर एगोरा अर्थात् सभा स्थल और बाजार के चौराहे पर जनसाधारण के लोग चर्चा में भाग लेते रहते थे।[2] यही प्रधान नगर एवं ग्रामीण क्षेत्र युक्त आत्मकेंद्रित, छोटी, संप्रभु राजनीतिक इकाई 'नगर-राज्य' कहलाई जिसमें प्रभुसत्ता स्वतंत्र नगर के स्वतंत्र नागरिकों में निहित होती थी।

नगर शासन की इकाई ही नहीं था, वह क्लब भी था। वह राजनीतिक दृष्टि से ही स्वशासी नहीं था। उसमें सामाजिक विचार-विनिमय की भी पूर्ण स्वायत्तता थी। यूनानी के लिए घर का महत्व उतना नहीं था जितना चौक के खुले जीवन का महत्व था। क्योंकि यहाँ पर सभी वर्गों के मनुष्य आपसी संसर्गो के लिए मिलते थे और एक-दूसरे से बातचीत करते थे। इस वातावरण ने यूनान में समानता और स्वतंत्रता के लोकतंत्रात्मक आदर्शों को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यूनान में प्रतिदिन विचारगोष्ठियाँ और वार्ता-मंडलियाँ चलती रहती थी। सार्वजनिक वार्ता और खुले वाद-विवादों में समुदाय के कार्य व्यापार के संबंध में स्वाभाविक रूप से चर्चा हुआ करती थी।[3] मनुष्य एक-दूसरे को निकट से जानते थे। यही समाज यूनानी दार्शनिकों के सिद्धांत की पृष्ठभूमि है और यही उनका आधार है। जब अरस्तु यह कहता है कि समाज में पद योग्यता के अनुसार प्राप्त होने चाहिए, तो वह ऐसे समाज की ही चर्चा करता है, क्योंकि, ''नागरिकों के लिए एक-दूसरे के चरित्र की जानकारी जरूरी है-न्याय संबंधी प्रश्नों के बारे में निर्णय करने के लिए भी और योग्यतानुसार पदों के बंटवारे के लिए भी।''[4] जब अरस्तु यह कहते हैं कि राजनीतिक शक्ति में जन-साधारण का हिस्सा होना चाहिए, तब उनके ध्यान में ऐसा ही समाज है, क्योंकि उनके अनुसार, ''थोड़े व्यक्तियों की अपेक्षा जनता में निर्णय करने की अधिक प्रतिभा होती है। इसका कारण यह है कि कोई किसी पहलू को देखता है और कोई किसी पहलू को, लेकिन सब मिलकर हर एक पहलू को देख लेते हैं।''[5]

इस प्रकार इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि लोगों का संपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन इसी नगर केंद्र से संचालित होता था। इसका मतलब यह नहीं था कि ग्राम और ग्रामीण जीवन 'नगर-राज्य' से बाहर था। वास्तविकता यह थी कि यह नगर-राज्य होते हुए भी उसमें ग्रामीण सौरभ की जीवंतता थी।[6] एथेंस, स्पार्टा, कोरिंथ आदि यूनान के प्रमुख नगर-राज्यों का विकास इसी ढंग से हुआ। ये सब नगर एक-एक नगर-राज्य के राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन के केंद्र थे। इन नगरों व नगर-राज्यों के नाम पर उन कबीलों या जनों के नाम पर ही पड़े थे, जिनका उनमें निवास था। एथेंस एथेनियन जन का केंद्र था, और स्पार्टा स्पार्टनजन का। प्राचीन यूनान के सब नगर-राज्य आकार में एक समान नहीं थे। उनकी राजनीतिक संस्थाएँ व शासन-प्रणालियाँ भी एक समान नहीं थी। पर उनमें ये सब विशेषताएँ समान रूप से विद्यमान थी।[7]

यूनान के नगर-राज्यों की ये सब विशेषताएँ भारत के प्राचीन जनपदों में भी पाई जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटिल्य अर्थशास्त्र और अन्य नीति-साहित्य से इस बात को प्रमाणित किया जाता है। पाणिनि के सूत्र 'जनपदे लुप'

की टीका करते हुए कशिका में जनपद के विषय में यह कहा गया है कि- जनपद ग्रामों के समूह को कहते हैं।[8] उदाहरण स्वरूप इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ यह भी कहा गया है, कि यहाँ पंचालों का निवास हो, वह पंचाल जनपद है। इसी प्रकार कुरु, मत्स्य, अंग, बंग, मगध, पुण्ड्र आदि जनपद यहाँ निवास करने वाले जनों के नाम पर ही उनके जनपदों का नाम पड़ा।

पोलिस के आकार-प्रकार, क्षेत्र, जनसंख्या और विस्तार के रूपों के विषय में हमें पर्याप्त सूचनाएँ उपलब्ध है। जनसंख्या की दृष्टि से प्लेटो पाँच हजार नागरिकों से युक्त 'पोलिस' राज्य को आदर्श मानता है। एक विशेषज्ञ की तरह पोलिस की जनसंख्या पर विचार करते हुए अरस्तु लिखते हैं कि 10 नागरिकों से युक्त पोलिस बनाना असंभव है, क्योंकि इतना छोटा 'पोलिस' अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। उसी प्रकार एक लाख नागरिकों से युक्त पोलिस को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इतने बड़े पोलिस पर नियंत्रण करना संभव नहीं है। जब हम प्लेटों के पाँच हजार अथवा अरस्तु के एक लाख नागरिकों की संख्या का उल्लेख करते हैं तो इसमें स्त्री, बच्चों, विदेशी तथा दासों की जनसंख्या सम्मिलित नहीं की जाती है। पोलिस राज्य में इन्हें नागरिक के अधिकार प्राप्त नहीं थे। प्रत्येक नागरिक के साथ पत्नी, चार बच्चे, दासों और विदेशियों की संख्या में तो अरस्तु का एक लाख बढ़कर वास्तविक जनसंख्या में लगभग दस लाख होगा। इतनी बड़ी आबादी पर पोलिस व्यवस्था में काबू नहीं पाया जा सकता। प्लेटो और अरस्तू दार्शनिक थे। दार्शनिकों के स्थान पर यदि हम एक व्यवहारिक व्यक्ति इतपोदोमोस के कथन को ले तो दस हजार नागरिकों का 'पोलिस' एक 'आदर्श पोलिस' माना जाएगा- अर्थात कुल आबादी लगभग एक लाख।[9]

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार जनपद का निर्माण प्रायः 800 ग्रामों से मिलकर होता था, और एक ग्राम में विद्यमान कुलों की संख्या 100 से लेकर 500 तक होती थी, प्रत्येक जनपद में किसी केंद्रीय स्थान पर एक पुर या दुर्ग होता था, जिसे 'स्थानीय' कहते थे। जनपद की राजधानी इसे ही माना जाता था, और इसे ही 'नगर' भी कहते थे।[10] अर्थशास्त्र की एक प्राचीन टीका के अनुसार 'नगर' में व्यापारियों के निगमों और वणिकों की आबादी होती थी, और उनसे कोई कर नहीं लिया जाता था।

जनपदों के अंतर्गत ग्रामों के मुखियाओं को ग्रामणी कहते थे। जनपदों के राजनीतिक जीवन में ग्रामणी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना जाता था। वह न केवल जनपद की सभा व समिति में सम्मिलित होता था, अपितु वैदिक युग के 'रत्नियों' या बाद के 'राजकर्तारः' में भी उसे गिना जाता था।[11] जनपद के राजा को चुनने का कार्य इन रत्नियों या राजकर्ताओं के ही अधिकार में था। वैदिक युग के राष्ट्र का शासन राजा अकेला नहीं करता था, अपितु उसकी सहायता के लिए सभा और समिति नाम की दो संस्थाएं अस्तित्व में थी। समिति संपूर्ण विशः की संस्था थी। यूनान के प्राचीन नगर-राज्यों में से अनेक ऐसे थे जिनके सब व्यस्क नागरिक नगर-राज्य की समिति में एकत्र होकर अपने राज्य के लिए कानून बनाते थे और राजकीय नीति का निर्धारण करते थे। एथेंस की 'एक्लेसिया' इसी प्रकार की संस्था थी।[12] वैदिक युग की समिति भी इस प्रकार की संस्था थी, जिसमें संपूर्ण विशः या उसके व्यस्क नागरिक एकत्र होते थे। इस बात की भी संभावना है कि अनेक राष्ट्रों की समितियों में सब वयस्क नागरिक सम्मिलित नहीं होते हो, और उनका एक विशिष्ट वर्ग ही उसमें शामिल होता हो।

जनपद के अंतर्गत ग्रामों के अपने परंपरागत नियम और कानून होते थे, जिनका पालन करना प्रत्येक ग्रामवासी के लिए आवश्यक था। इसीलिए कौटिल्य ने अपनी विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है, कि वह ग्रामसंघों के परंपरागत चरित्र और कानूनों का अतिक्रमण न करें। ग्राम का शासन एक ऐसी सभा के अधीन था, जिसमें ग्राम के अंतर्गत विभिन्न परिवारों या कुलों के मुखिया सम्मिलित होते थे। संभवतः इसी ग्राम सभा को कौटिल्य ने 'ग्रामसंघ' कहा है। ग्रामसंघ का प्रधान ग्रामणी होता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इन्हीं कुल-मुख्यों, कुलवृद्धों को 'गोत्रापत्य' कहा गया है।[13] परिवार के अन्य सब सदस्य 'युवापत्य' कहलाते थे।

प्राचीन भारत के उत्तर वैदिक काल में विविध राष्ट्रों, जनराज्यों या जनपदों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। इन सबमें एक ही प्रकार का शासन विद्यमान नहीं था। धीरे-धीरे अनेक प्रकार की शासन पद्धतियां भारत के जनपदों में प्रचलित हुई। उनमें से कुछ राज्य राजतंत्र थे और अन्य गणतंत्र। गणतंत्र राज्यों में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। जनता

स्वयं ही अपना शासन करती थी। गणराज्यों की कार्यवाहियाँ संथागार नामक भवनों से संचालित होती थी। इन भवनों में राज्य के वयोवृद्धों के सम्मेलन होते थे। वे सब मिलकर एवं वाद-विवाद कर अधिनियम पारित करते थे। संथागारों में पारित अधिनियमों को ही राजा एवं मंत्रिमंडल क्रियान्वित करता था। सभी प्रकार के मामले, चाहे उनका संबंध देश की शांति से हो, युद्ध से हो, नागरिकता से हो, आर्थिक समस्या से हो, इस सभा में उपस्थित होते थे। प्रस्तावों पर बहस होती थी और बहुमत का निर्णय सबको मान्य होता था। तर्कसंगत सम्मतियाँ देना उनका मुख्य कर्तव्य था। चूलकलिंग जातक में यह स्पष्ट निर्दिष्ट है कि लिच्छवी राज्य के समस्त राजा तर्क एवं विवाद में अग्रणी थे।[14] इस नगर में राज्य को संचालित करने के लिए 7,707 राजा थे। संथागार के सदस्यों को भी 'राजा' कहकर संबोधित किया जाता था। इस प्रकार इस उपाधि से यही प्रतीत होता है कि इन सदस्यों को भी पर्याप्त सम्मानजनक स्थान प्राप्त था।

यूनान के नगर-राज्यों में भी लोकतंत्र का विकास काफी तीव्र गति से हुआ। विशेषकर एथेंस में सोलोन ने जो सुधार कार्य आरंभ किए वह पेरिक्लीज के समय तक जारी रहा। परंतु स्पार्टा एक अपवाद के रूप में उभरा।

स्पार्टा ने कभी लोकतंत्र की ओर संक्रमण नहीं किया। वह कुलीन तांत्रिक शासन प्रणाली से चिपटा रहा। दरअसल वहां राजा भी हुए। स्पार्टा में एक विचित्र तरह की राजशाही, एक 'दोहरा' राजतंत्र था। यह कहा जा सकता है कि स्पार्टा में कुछ हद तक असामान्य सरकार थी जिसमें राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र का सम्मिश्रण था। वहां की सरकार का चरित्र कुल मिलाकर कुलीन तांत्रिक था। स्पार्टा में नागरिक पोलिस के कुल निवासियों की तुलना में एक बहुत छोटा समूह थे। क्लासिकी काल की शुरुआत में स्पार्टा में करीब 8000 नागरिकों के होने की रिपोर्ट है और एक सदी के अंदर इस संख्या में खासी गिरावट आई। एथेंस के विपरीत स्पार्टा में अपने राजनीतिक ढाँचा में कभी नए समूहों को जगह नहीं दी।[15] उसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि एकदम शुरू से ही सरकार में सभी नागरिकों के लिए भूमिका थी। सिद्धांत: सभी नागरिकों को बराबरी हासिल की।

स्पार्टा की परिषद एक शक्तिशाली कुलीन तांत्रिक निकाय थी जिसे गेरोउसिया कहते थे। गेरोउसिया में तीस सदस्य थे। उसके दो सदस्य स्पार्टा के राजा होते थे। स्पार्टा में दो राजा एक साथ राज करते थे। बाकी अट्ठाइस सदस्य कुलीन परिवार से होते थे। ये अट्ठाइस सदस्य जेरोन्टेस कहलाते थे। वे साठ साल या उससे ज्यादा उम्र के होते थे। इनकी सदस्यता आजीवन होती थी। लेकिन बाद में उसे वार्षिक कर दिया गया। राज्य के मुख्य अधिकारी एफोर्स कहलाते थे। वहां पांच एफोर्स होते थे। स्पार्टा के एफोर्स मजिस्ट्रेट होते थे जिनके पास कार्यपालिका, न्यायपालिका और पुलिस संबंधी विविध शक्तियाँ होती थीं।

एथेंस में सोलोन के द्वारा आरंभ किए गए सुधार कार्यों के बाद एथेंस की लोकतांत्रिक प्रणाली दिन-प्रतिदिन विकसित होती गई। सोलोन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार था-कर्ज बंधुआगिरी के प्रावधान का खात्मा। दूसरे, सोलोन ने संविधानिक तब्दीलियाँ लाई जिसके तहत तमाम एथेंसवासियों को राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सा लेने का अधिकार मिला। एथेंस में लोकतंत्र की बुनियाद सोलोन और पीसिसट्रेटस ने रखी और क्लीस्थेनीज ने एथेनियाई लोकतंत्र की इमारत खड़ी की। सोलोन ने संपत्ति के आधार पर एथेंस के नागरिकों को चार वर्गों में बांटा। पहले तीन वर्गों के लोग ब्यूल की सदस्यता ग्रहण कर सकते थे। हरेक कबीला ब्यूल में एक सौ सदस्य भेजता था। परिषद के सदस्यों और विभिन्न पदों के उम्मीदवारों का चयन आमतौर पर लक्कटरी निकालकर किया जाता था।

क्लीस्थेनीज ने जो लोकतांत्रिक ढांचा स्थापित किया था उसकी प्राथमिक इकाई डीम थी। सभी नागरिक किसी न किसी डीम के सदस्य थे। डीम सबसे छोटी भौगोलिक इकाई थी जिसमें राजनीतिक उद्देश्य से एथेंस का पोलिस विभाजित किया गया था।[16] इन डीमों पर नागरिकों की सूची रखने की जिम्मेदारी थी। उनकी अपनी निर्वाचित सरकारें थी जिसमें सभा और अधिकारी शामिल थे। स्थानीय सरकारों का नेतृत्व डिमारकोस या डीम का प्रमुख करता था। अब ब्यूल की सदस्यता चारों वर्गों के नागरिकों के लिए खोल दी गई। तीस साल से ज्यादा आयु वाला कोई भी नागरिक ब्यूल का सदस्य बन सकता था। सदस्यों का कार्यकाल एक साल का था। ब्यूल को अपने कामकाज के लिए रोजाना बैठकें करनी पड़ती थीं। ब्यूल कर-वसूली, वैदेशिक संबंधों और जहाजों तथा बंदरगाहों की देखभाल करता था और व्यापार का नियमन करता था। ब्यूल सभा की बैठकों का मार्गदर्शन करता था। एथेनियाई

सभा एक्लेसिया के सत्र ब्यूल द्वारा बुलाए जाते थे जो उन बैठकों की कार्य सूची भी तय करता था।एक्लेसिया की कार्यवाहियों का संचालन ब्यूल का मौजूदा पीठासीन अधिकारी करता था। करीब 450 ईसा पूर्व तक पेरिक्लीज एथेनियाई राजनीति की एक प्रमुख हस्ती के रूप में उभरा।

निष्कर्ष:

सम्राट फिलिप द्वितीय (338 ई. पू.) के नेतृत्व में केरोनिया पर मकदूनियाई जीत ने यूनानी राज्यों की स्वतंत्रता खत्म कर दी। 338 ईसा पूर्व के बाद एक राजनीतिक इकाई के रूप में पोलिस का वजूद खत्म हो गया। यूनानी राज्य मकदूनियाई साम्राज्य में समाहित कर लिए गए। पाश्चात्य संसार के प्राचीन इतिहास में मकदूनिया की प्राय: वही स्थिति थी, जो प्राचीन भारतीय इतिहास में मगध की थी। जिस प्रकार मगध के प्रतापी राजाओं ने अपने पड़ोस में स्थित वज्जि, मल्ल आदि गणराज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया था, वैसे ही मकदूनिया के राजाओं ने यूनान नगर-राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। मगध के राजा महापद्मनंद के समान मकदूनिया का राजा सिकंदर भी 'सर्वक्षत्रांतकृत' व 'अतिबल' था।

एसोसिएट प्रोफेसर
इतिहास विभाग, विवेकानंद कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु, प्राचीन भारत के शासन-संस्थाएं और राजनीतिक विचार, श्री सरस्वती सदन, मसूरी, 1975, पृ. 120.
2. तिवारी, गंगासागर, विश्व सभ्यता का वैज्ञानिक इतिहास- प्रागैतिहासिक युग से 322 ई. पू. तक, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, पृ. 176.
3. बार्कर, सर अर्नेस्ट, यूनानी राजनीतिक सिद्धांत - प्लूटो और उसके पूर्ववर्ती, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988, पृ. 28.
4. वही, पृ. 28.
5. वही, पृ. 28.
6. तिवारी, पृ. 176.
7. विद्यालंकार, वही, पृ. 121.
8. वही, पृ. 121.
9. अरोड़ा, उदय प्रकाश, प्राचीन यूनान इतिहास और संस्कृति, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ. 132.
10. विद्यालंकार, वही, पृ. 121.
11. वही, पृ. 122.
12. वही, पृ. 40.
13. वहीं, पृ. 122.
14. नाहर, रतिभानु सिंह, प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, किताब महल, इलाहाबाद, 1976, पृ. 117-118.
15. फारूकी, अमर, प्राचीन और मध्यकालीन सामाजिक संरचनाएँ और संस्कृतियाँ, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2003, पृ. 150.
16. वही, पृ. 148.

Avinish Prakash Singh

lkfgfR;d&i=kdkfjrk ds lUnHkZ esa ^eqvutksnM+ks* ;k=kk&o`Ùkkar dh Hkk"kk

साहित्यिक-पत्रकारिता में ओम थानवी का नाम विशिष्ट है। उन्होंने जनसत्ता को लम्बे समय तक अपनी सेवाएँ दी हैं, साथ ही निजत्व के साथ 'साहित्यिक समय' भी रचते रहे हैं। दोनों में उनका बराबर दखल रहा है। मात्रा के आधार पर वे पत्रकार ज़्यादा हैं। बतौर साहित्यकार उन्होंने कम लिखा है। यूँ भी, कम लिखने और गुणात्मक लिखने में बहुत फर्क है। बिहारी ने एक ही सतसई लिखी है। सरदार पूर्ण सिंह ने कुछ ही निबन्ध लिखे हैं। आज के बहुतेरे लेखक 'थोक' में लिख रहे हैं। वे तो 'ऑन डिमांड' भी लिखने की महान् प्रतिभा रखते हैं। मगर इस सब का क्या कोई प्रयोजन जान पड़ता है! ओम थानवी ने अपनी सम्पादकीय व्यस्तता से जब-तब निकलकर अपने जानते 'गुणात्मक' लिखने की ही कोशिश की है, परिणामस्वरूप मात्रा 'अल्प' ही रह गई है लेकिन 'गुणवत्ता' नहीं। ओम थानवी गुणात्मक लेखन में 'लुप्तप्राय' श्रेणी के लेखक हैं। ऐसी जिसके लेखक बहुत कम रह गए हैं।

प्रत्येक रचनाकार की अपनी निजी शैली होती है। जिसके द्वारा उसके कृतित्व, विचार एवं सौन्दर्यबोधी प्रवृत्ति का आभास पाया जाता है। प्राय: शैली को 'स्टाइल' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। स्टाइल या शैली ही रचनाकार के कृतित्व-विशेष की परिचायक होती है। 'यों कहने योग्य बात तो सभी के पास होती है किन्तु विरले ही ऐसे होते हैं जो अपना जादू पाठकों/श्रोताओं पर डाल पाते है। दूसरी बात यह है कि शैली ही वस्तु है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अलग कर सकने में समर्थ है। लेखक अपनी बात अपने ढँग से पाठकों के सामने रखता है। लेखक का यह ढंग ही शैली का नामधारण करता है।'

ओम थानवी की शिल्प-शैली में सत्याभास है और यथार्थगत विवेचना भी। यात्रा-वृत्तांत में वांछित शैली की जो कलात्मकता एवं वैचारिक तीक्ष्णता थानवी जी ने प्रदान की है वह पूर्ववर्ती कथेतर गद्य-साहित्य लेखकों से विशिष्ट बन पड़ी है। ओम थानवी ने 'आध्यात्मिक पथ पर बुद्ध के मध्यम-मार्ग' की तरह 'साहित्यिक पथ पर शैली के मध्यम-मार्ग' को अपनाया है। 'मुअनजोदड़ो' में उनका निरीक्षण गहरा है, संवेदनशीलता मार्मिक है और पर्यवेक्षण में वे तटस्थता की भूमिका में रहते हैं। ओम थानवी की भाषा में गजब की पर्यवेक्षण क्षमता परिलक्षित होती है। वे सूक्ष्मता में स्थलों, स्थित-परिस्थिति, व्यक्ति, देशकाल के बारीक-से-बारीक रेशे को पकड़ने में सफल रहे हैं।

ओम थानवी सिन्ध के लोगों के पहनावे की विशिष्टता को इन शब्दों में इंगित करते हैं- ''सिन्ध के बाशिन्दे को आप पैरहन से भी पहचान सकते हैं। लम्बी क़मीज, कन्धे पर जामुनी छाप वाला मोटा कपड़ा 'अजरक़'। सिर पर काँच-जड़ी रंग-बिरंगी गोल टोपी : ललाट पर एक कतरन से दो हिस्सों में बँटती हुई-सी और पाँवों में कशीदेवाली चोंचदार जूतियाँ। औरतें चटख़ रंग का कढ़ाईदार घाघरा और काँच की जरदोजी वाली कुर्ती पहनती हैं। उस पर ओढ़नी, लाख के कंगन और चाँदी के गहने। सरहद के दूसरी तरफ सिन्ध से सटे हमारे राजस्थान में भी यही वेशभूषा है।''[1] दरअसल पुरातात्विक विषयों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति में पर्यवेक्षण बहुत ही महत्वपूर्ण 'भाषिक औजार' है।

गहरे पर्यवेक्षण के आधार पर ही पर्यवेक्षणकर्ता लेखन में न्याय कर पाता है और पाठक भी समझ-समृद्ध हो पाता

है। एक बानगी देखिए ''ढँकी हुई नालियाँ मुख्य सड़क के दोनों तरफ सामानांतर दिखाई देती हैं। बस्ती के भीतर भी इनका यही रूप है। हर घर में एक स्नानघर है। घरों के भीतर से पानी या मैले की नालियाँ बाहर हौदी तक आती हैं और फिर नालियों के जाल से जुड़ जाती हैं। कहीं-कहीं वे खुली हैं, पर ज़्यादातर बन्द हैं। स्वास्थ्य के प्रति मुअनजोदड़ो वासियों के सरोकार की यह उम्दा मिसाल है।''[2] और भी ''स्तूप वाले चबूतरे ते पीछे 'गढ़' है और ठीक सामने 'उच्च' वर्ग की बस्ती। उसके पीछे पाँच किलोमीटर दूर सिन्धु नदी बहती है। पूरब की इस बस्ती से दक्षिण की तरफ नजर दौड़ाते हुए पूरा पीछे घूम जाएँ तो आपको मुअनजोदड़ो के खंडहर हर जगह दिखाई देंगे। दक्षिण में जो टूटे-फूटे घरों का जमघट है, वह कामगारों की बस्ती है।''[3] ओम थानवी के उपरोक्त लेखन से स्पष्ट होता है कि पर्यवेक्षण शैली अपनी पूरी संभावनाओं के साथ मौजूद है। वस्तुतः पुरातात्विक स्थल का लेखन पर्यवेक्षण शैली के बगैर प्रामाणिक नहीं ठहर सकता।

'व्यंग्य' रचनाकार की व्यंजनागत प्रतिभा का प्रमाण होता है। व्यंग्य की उपस्थिति गहरे जीवन-बोध से उपजती है। व्यंग्यात्मक शैली में शब्दों के अर्थ केवल अभिधामूलक नहीं होते, उनके अर्थों में ही व्यंग्य भरा रहता है। ओम थानवी ने 'मुअनजोदड़ो' में छोटे-छोटों वाक्यों में चुटीले व्यंग्य का सहज प्रयोग किया है। गौरतलब है कि 'मुअनजोदड़ो' कृति का पहला ही वाक्य अपने-आप में व्यंग्य की पूर किताब है- डाकू भारत में भी हैं। दरअसल, ओम थानवी ने आगे के पैराग्राफों में पाकिस्तान के कराची से मुअनजोदड़ो तक की यात्रा के बीच डाकुओं के ख़ौफ का जिक्र किया है। होता यह है कि कुछ संकीर्ण प्रतिक्रियावादी ताक़तें इस तरह के वर्णन को किया ख़ास देश-समाज की बदतर हालत का अकाट्य प्रमाण मान लेती हैं। फिर अपने देश या समाज के बारे में 'फील गुड' का अहसास लिए तोंदें फुलाती रहती हैं। ओम थानवी यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि चोर-डाकू जैसी असामाजिक और अनचाही स्थितियाँ केवल पाकिस्तान में ही नहीं हैं, वरन् भारत और अन्य देशों में भी हैं। एक अन्य घटना के वर्णन में वे लिखते हैं कि ''यह बस या रेल के सफर में ही मुमकिन है कि बिना किसी परिचय के साथ का मुसाफिर बरसों के परिचित की तरह पेश आए। उन चिकने 'परिचय-पत्रों' का आदान-प्रदान किए बगैर, जो चतुर-सुजानों के बटुओं में नोटों के बीच ठुँसे रहते हैं। विमान के मुसाफिर तो आँखों में भी नहीं मुस्कुराते, अगर सामने अजनबी खड़ा हो। हवा में उड़ने और जमीन पर चलने का यह बड़ा फर्क़ है।''[4] गौर कीजिए कि, ओम थानवी वर्तमान समय में 'गैप बिटवीन हैव्स एंड हैव्स नॉट' को कितनी गम्भीरता से महसूस कर रहे हैं!

हमें मालूम है कि मानव-सभ्यता आदिम क़बीलाई जीवन से निकलकर सामंतवादी रूप में आई। फिर राजतंत्र से होते हुए आधुनिक लोकतंत्र तक आ पहुँची है। इस बीच पूँजीवाद के 'भेदभावमूलक' व्यवहार के विरोध में 'साम्यवाद' ने समानता की महान् सभ्यता का विकल्प प्रस्तुत किया। लेकिन वस्तुस्थिति जस-की-तस बनी हुई है। पूँजीवाद ने 'उदारवादी-कल्याणकारी पूँजीवाद' का चोला पहनकर 'बाजारवाद-उपभोक्तावाद' रूपी भूखा अजगर पूरी मानव सभ्यता के समक्ष ला खड़ा कर दिया है। इस गैर-बराबरीवाद, उपभोक्तावाद के दौरे-हाजिर में सारे सम्बन्ध सिर्फ 'धन' पर आधृत हो गए हैं। ऐसी स्थिति में ओम थानवी द्वारा प्रकारांतर से 'हवा में उड़ने और जमीन पर चलने' में आने वाले फर्क़ को महसूस करना बहुत सारगर्भित है।

ओम थानवी के व्यंग्य की ख़ासियत 'जोर का झटका धीरे से लगे' की उक्ति को चरितार्थ करती है। पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था की ख़स्ता-हालत का अंदाजा उन्हीं के शब्दों में ''एक लीटर साफ पानी पच्चीस रूपए का। मुल्क की अर्थव्यवस्था डाँवाडोल होने की यह अच्छी मिसाल थी।''[5] कथेतर गद्य साहित्य में भाव-प्रधान विवेचनात्मक शैली प्रभावोत्पादक होती है। इसमें भावों की तीव्र निबिड़ता और विवेचना की रोचकता व्याप्त रहती है। मुअनजोदड़ो का विषय ही ऐसा है कि उसमें यह शैली सहज ही आगमित हो जाती है।

सांस्कृतिक अतीत किसी भी मनुष्य के लिए 'नॉस्टेल्जिक' होता है, जिससे वो दूर होता है लेकिन फिर भी उसे पाने की चाह बरक़रार रहती है। वस्तुतः यह 'नॉस्टेल्जिक' भाव ही ओम थानवी की लेखनी को सिन्धु घाटी सभ्यता के सन्दर्भ में प्रामाणिक बना पाया है। 'मुअनजोदड़ो' में जगह-जगह ऐसे प्रसंग आए हैं। एक बानगी देखिए; ''मैं जा क्यों रहा हूँ, खंडहरों के बीच? रखा क्या है अतीत की इस भटकन में! उतर जाएँ। फिर कभी देखा जाएगा। लगा कि दिल डूब रहा है। थकान थी या बैचेनी? या अवसाद! पता नहीं। पर कभी-कभी अपने को

सँभालना पड़ता है। नहीं, यह अतीत की नहीं, अपनी जड़ों की पड़ताल है। कुछ अपनी आँख से देखने की चाह। यह तीर्थयात्रा है। अपनी सभ्यता के सबसे बड़े तीर्थ की। मौक़ा है और दस्तूर भी। चल निकले हैं तो पहुँच भी जाएँगे।''[6] सभ्यता के तीर्थ का नॉस्टेल्जिया ही थानवी जी को बार-बार विवश करता है। अपने अतीत से मिलने की जिजीविषा कितनी तीव्रता से उभर कर आई है।

मुअनजोदड़ो के खंडहरों में जाकर वे 'मस्तिष्क-शून्य' वाली स्थिति में पहुँच जाते हैं। सरसरी तौर पर तो लगता है कि थानवी जी मात्र खंडहरों का विवरण दे रहे हैं लेकिन! ये मात्र विवरण नहीं हैं। सांस्कृतिक धरोहर और अपने अतीत से हिज्र की पूरी 'धारावाहिकी-टीस' हर्फ-हर्फ में विद्यमान है- ''मुअनजोदड़ो की खूबी यह है कि इस आदिम शहर की आदिम सड़कों और गलियों में आप आज भी घूम सकते हैं। यहाँ की संस्कृति का सामान चाहे अजायबघरों की शोभा बढ़ा रहा हो, शहर जहाँ था अब भी वहीं है। आप इसकी दीवार पर पीठ टिका कर सुस्ता सकते हैं। वह कोई खंडहर क्यों न हो, किसी घर की देहरी पर पाँव रख कर सहसा सहम जा सकते हैं, जैसे भीतर कोई अब भी रहता हो। रसोई की खिड़की पर खड़े होकर उसकी गंध महसूस कर सकते हैं। शहर के किसी सुनसान मार्ग पर कान देकर उस बैलगाड़ी की रुनझुन भी सुन सकते हैं जिसे आपने पुरातत्व की तस्वीरों में मिट्टी के रंग में देखा है। यह सच है कि किसी आँगन की टूटी-फूटी सीढ़ियाँ अब आपके कहीं नहीं ले जातीं हैं। लेकिन उन अधूरे पायदानों पर खड़े होकर अनुभव किया जा सकता है कि आप दुनिया की छत पर खड़े हैं; वहाँ से आप इतिहास को नहीं, उसके पार झाँक रहे हैं।''[7] 'क्षोभ' का एक पूरा महाकाव्य उपरोक्त पंक्तियों में उतरता नजर आता है, एक फाँस की चुभन है जो व्यक्त हो रही है, एक 'अनकहा' है जो बेलौस 'बोल' रहा है; गोकि ओम थानवी ने अतीत की इस कहिन में अपनी पूरा ताक़त लगा दी हो।

एक अन्य पैराग्राफ में थानवी जी लेखन अपने श्रेष्ठ प्रभाव में मौजूद है। जीवनानुभव का संचय, भाषागत चारूता, संवेदनशीलता, मुअनजोदड़ो की यात्रा के साथ एक श्रेष्ठ मानव-सभ्यता का वंशज होने-इन सब का प्रतिफलन गोया एक ही पैराग्राफ में देखना-दिखाना चाहते हों- ''मुअनजोदड़ो में उस रोज हवा बहुत तेज बह रही थी। किसी बस्ती के टूटे-फूटे घर में दरवाजे या खिड़की के सामने से हम गुजरते तो साँय-साँय की ध्वनि में हवा की लय साफ पकड़ में आती थी। वैसे ही जैसे सड़क पर किसी वाहन से गुजरते हुए किनारे की पटरी के अंतरालों में रह-रहकर हवा के लयबद्ध थपेड़े सुनाई पड़ते हैं। सूने-घरों में हवा और ज़्यादा गूँजती है। इतनी कि कोनों का अँधियारा भी सुनाई पड़े। यहाँ एक घर से दूसरे घर में जाने के लिए आपको वापस बाहर नहीं आना पड़ता। आख़िर सब खंडहर हैं। अब कोई घर जुदा नहीं है। एक घर दूसरे में खुलता है। दूसरा तीसरे में। जैसे पूरी बस्ती एक बड़ा घर हो।''[8] और भी कि ''लेकिन घर एक नक़्शा ही नहीं होता। उसका एक चेहरा और संस्कार होता है। भले ही वह पाँच हजार साल पुराना घर क्यों न हो। हम में हर कोई वहाँ पाँव आहिस्ता उठाते हुए एक घर से दूसरे घर में बहुत धीमी गति से दाख़िल होता था। मानो मन में अतीत को टटोलने की जिज्ञासा ही न हो, किसी अजनबी घर में अनधिकार चहल-क़दमी का अपराध-बोध भी हो। सब जानते थे यहाँ अब कोई बसने नहीं आएगा।''[9]

सिन्धु घाटी सभ्यता के अवसान के जिक्र में ओम थानवी जी की शैली विचारात्मक रूप ले लेती है। वे विचार करते हैं कि ''क्या सिन्धु की बाढ़ सिन्ध, पंजाब और गुजरात पर एक साथ मार कर सकती है? यह कहा जाता है कि बाढ़ नहीं आई, सूखा पड़ा होगा। प्राकृतिक कारणों से उलट अमेरिकी पुरातत्ववेत्ता फेयरसर्विस की यह कल्पना बहुत चर्चा में रही कि सिन्धुवासियों ने भूमि का दोहन ज़्यादा किया, पशुओं की बेइंतेहां चराई की और अंधाधुंध जंगल काटे। इस क़यास को इरफान हबीब ने एक हिसाब लगाकर नकारा है। उनके मुताबिक़ सिन्धु आबादी का घनत्व एक वर्ग किलोमीटर में छह लोगों से ज़्यादा नहीं था। इतनी कम आबादी प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल बर्बादी की हद तक कैसे कर सकती है?''[10] आर्य-अनार्य और आर्य-आक्रमण सम्बन्धी समस्या पर विचार करते हुए थानवी जी लिखते हैं कि ''क्या आर्य आक्रान्ता थे जिन्होंने हड़प्पा संस्कृति चौपट कर दी? या सिन्धुवासी द्रविड़ थे जिन्हें आर्यों ने दक्षिण में धकेल दिया?''[11]

पत्रकार होने के नाते उनकी एक शैली 'सूचना-समृद्ध' शैली भी रही है। मुअनजोदड़ो जाते समय के दृश्य, उसकी उत्पत्ति, विशेषताएँ और अवसान से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर उनका सूचना-समृद्ध पत्रकार स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। बँटवारे से पहले के हालात को नासिर खान के हवाले से

लिखते हैं-''नासिर खान बोले कि पाकिस्तान में सबसे ज़्यादा हिन्दू-कोई पचीस लाख-सिन्ध में रहते हैं। बँटवारे से पहले यह तादाद ज़्यादा थी। यह बात इसलिये अहम् है कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में मुस्लिम राज सबसे पहले सिन्ध में कायम हुआ, इस्लाम की स्थापना के थोड़े समय बाद। सत्तरह साल के अरब शहजादे मोहम्मद बिन क़ासिम ने सन् 711 में सिन्ध के राजा दाहिर पर धावा बोला था। बाद में इस इलाक़े पर बगदाद के ख़लीफाओं ने राज किया। उन्नीसवीं सदी तक मुगलों समेत सात राजवंश यहाँ अपनी धाक जमा चुके थे मगर हिन्दू-मुस्लिम फसाद यहाँ कभी नहीं हुए। बँटवारे के वक़्त भी नहीं।''[12]

पाकिस्तान के राजनीतिक मसाइल के बाबत ओम थानवी का पत्रकार मन समसामयिक परिवेश की विसंगति को उभारते हुए लिखता है कि ''सिन्ध की राजनीतिक और प्रशासनिक फिजा पर मुहाजिर और पंजाबी समुदाय के छा जाने की एक वजह शायद यह भी थी कि उनमें शिक्षा ज़्यादा थी। आज पाकिस्तान के तीन करोड़ मुहाजिरों में सवा दो करोड़ केवल सिन्ध में हैं। बहरहाल, जातीय अस्मिता की इस कश्मकश में सिन्ध में 'सिन्धु देस' के लिए 'जिए सिन्ध' आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उधर मुत्ताहिदा क़ौमी मूवमेंट है जो मुहाजिरों की असरदार पार्टी है। दोनों में कई बार असरदार झड़पें हो चुकी हैं। सैकड़ों लोग मारे गए हैं। कराची में सेना तक बुलानी पड़ी है।''[13]

गंभीर विषयों के अतिरिक्त हल्के-फुल्के क्षण भी उनकी लेखनी में जगह बनाते हैं, ''एक मालिश वाले पर शायद सबकी नजर ठहरी होगी। वह सधे नृत्य की मुद्रा में, बदन हिलोर लेकर, उँगलियाँ हवा में नचाता और तड़ाक से लेटे ग्राहक की पीठ जड़ देता। प्यार से। तय करना मुश्किल था कि वह मालिश कर रहा था या कोई नृत्याभ्यास।''[14] इसी क्रम में संस्मरणात्मक शैली का पुट भी दिखाई देता है। मालिश करने वाले को देखकर उन्हें सहसा दिल्ली का एक दृश्य याद आ जाता है, ''उसे देखकर मुझे कई बरस पहले दिल्ली में राजपथ पर साउथ ब्लॉक क्रॉसिंग पर तैनात सिपाही की याद हो आई। वह यातायात नियन्त्रण के इशारे नृत्य-या-अर्द्धनृत्य-की मुद्राओं में अदा करता था। तब लाल-हरी स्वचालित बत्ती वहाँ नहीं थी। वह सिपाही इतना लोकप्रिय हुआ कि फ्रांस वाले उसे अच्छी-ख़ासी नौकरी देकर पेरिस ले गए।''[15] वस्तुत: ओम थानवी की भाषा बातचीत करती चलती भाषा है। भाषा की प्रकृति ऐसी है जैसे सुनने वाला सामने बैठा हो और ओम थानवी कहते जा रहे हों।

एक अच्छी भाषा के लिए कहीं छोटे-छोटे वाक्य तो कहीं लम्बे वाक्य, कारक और योजक चिह्नों का उचित प्रयोग, सामासिक शब्दावली आदि को जरूरी माना गया है। हालाँकि इन सबका सहज रूप से आगमित होना भी एक शर्त है। ओम थानवी ने कुछ लम्बे वाक्यों के साथ छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग बहुतायत में किया है। जैसे, पृष्ठ सत्रह पर, ''नए सिम से मेरे फोन में जान आई। दिल्ली में घर बात की। फिर गाँव में।'' पृष्ठ अट्ठारह पर, ''भीतर हाल बुरा था। अजीब सी गंध। फटी सीटें। इनी-गिनी सवारियाँ।'' पृष्ठ तैंतीस पर ''मैंने सिर उठाया। शहबाज क़लन्दर की दरगाह की ओर देखा। आँखें बन्द कीं। पूरी अक़ीदत के साथ।'' पृष्ठ सत्तावन पर, ''लोहा तब नहीं था। पर पत्थर और ताँबे की बहुतायत थी। पत्थर सिन्ध में था। ताँबे की खाने राजस्थान की तरफ थीं।'' पृष्ठ एक सौ आठ पर, ''लेकिन लौटना होगा। हजार दुविधाएँ लेकर सिन्ध में क़दम रखा था। मुअनजोदड़ो की तफरीह ने मन में कई गाँठें खोल दीं। हड़प्पा हो आने का भी मन था। पर दूरी ने हतोत्साहित किया।'' उपरोक्त उदाहरणों से यह मानने में दिक्क़त नहीं होती कि ऐसे 'बोनसाई' वाक्य भाषा के विशिष्ट 'टूल्स' होते हैं। भाषा को अलहदा अंदाज प्रदान करते हैं। लेखक माधव हांडा लिखते हैं कि ''विवेचन-विश्लेषण और विचार के लिए हिन्दी में इस्तेमाल किए जाने वाले भारी-भरकम और जलेबीदार वाक्यों वाले गद्य से एकदम अलग, यह छोटे-छोटे वाक्यों वाला, बोलचाल की नाटकीयता से भरपूर बहता हुआ गद्य है।''[16] लेकिन ऐसे वाक्यों का एक 'ड्रॉ बैक' भी है। छोटे-छोटे वाक्यों के सायास प्रयोग से भाषा की गति, रवानी प्रभावित होती है। भाषा की सहजता हाँफने लगती है। वस्तुत: छोटे-छोटे वाक्यों की सायासता इतनी ठहर-ठहर के बात करती है कि उससे पाठक का तालमेल मुश्किल हो जाता है।

गद्य हो या पद्य, लेखन में शब्द-सामर्थ्य का अन्यतम महत्व है। शब्द ही अर्थ के संवाहक घटक हैं। भाषा का सौष्ठव शब्दों के चयन मात्र पर निर्भर नहीं होता अपितु 'शब्दों की सटीकता' पर अधिक निर्भर होता है। कुछ शब्द तार्किक नहीं प्रतीत होते। थानवी जी ने 'तफरीह' शब्द का प्रयोग किया है। नि:सन्देह अच्छा शब्द है। लेकिन 'तफरीह' शब्द हिन्दी में 'रूढ़' हो गया है। यहाँ इसका निकटतम

अर्थ मौज-मस्ती, बिना किसी उद्देश्य के कोई यात्रा-प्रक्रम-सा कुछ करना है। लेकिन विषय के अंतरराष्ट्रीय महत्व और ओम थानवी जी की गम्भीर प्रामाणिक विवेचना इस बात को क़तई स्वीकर नहीं कर सकती कि यह मात्र 'मुअनजोदड़ो की तफरीह' है।

एक और शब्द खटकता है- अजायबघर। यह सही है कि जिसकी भाषा का पर्यायवाची पक्ष मजबूत होगा, नि:सन्देह भाषा पर उसका असाधारण अधिकार होगा। किन्तु बिना 'सटीक प्रयोग' के यह सामर्थ्य ज़्यादा असरदार नहीं। 'अजायबघर' शब्द सुनते ही हमारे मन में कुछ 'अजूबे' टाइप की चीजों का तसव्वुर हो उठता है। यक़ीनन, मुअनजोदड़ो से प्राप्त स्थल और वस्तुएँ भी एक 'अजूबा' हैं। लेकिन सनद रहे कि 'अजूबा' हमेशा सकारात्मक नहीं हो सकता। उसमें नकारात्मकता की भी गुंजाइश है। 'अजूबा' हम उन्हें भी कहते हैं जो समाज से सर्वथा अलग हैं, भिन्न हैं। यह भिन्नता हर-हाल में 'विशिष्टता' की द्योतक नहीं हो सकती। वह त्याज्य और हानिकारक भी हो सकती है।

तस्दीक़ करें कि मुअनजोदड़ो की खोदाई में प्राप्त वस्तुएँ किसी भी सूरत में त्याज्य और हानिकारक नहीं हो सकतीं। क्योंकि खुद ओम थानवी के शब्दों में, मुअनजदड़ो तो जड़ों की तलाश है, सभ्यता का तीर्थ है, हमारा साझा अतीत है, कला का आदि पर्व है, बुजुर्गों के मन में दूर चला गया इलाक़ा है, पुराना घर है।

तात्पर्य है कि शब्दों की सटीकता भाव-सम्प्रेषण में बहुत मायने रखती है। शब्दों की सटीकता 'सम्प्रेषण-पथ' के 'मीडियम' में 'नॉइस' रूपी अवरोध को दूर करके प्रभावी 'सम्प्रेषण' को संभव बनाती है। कवि मदन कश्यप को दिए एक साक्षात्कार में आलोचक नामवर सिंह कहते हैं कि 'मुअनजेदड़ो' में ओम थानवी की भाषा बहुत अच्छी है। उन्होंने साहित्यिक-कलात्मक दृष्टि से लिखा है। लेकिन नामवर सिंह नोट करते हैं कि कहीं-कहीं कुछ शब्द खटकते हैं। जैसे उन्होंने 'पुरातत्वज्ञ' के लिए 'पुरातत्वी' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मदन कश्यप[17] का कहना है कि ओम थानवी जी का बराबर ये प्रयास रहा है कि कुछ ऐसे नए शब्द गढ़े जाएँ जो सरल हों। 'अजायबघर' शब्द को ध्यान दिलाते हुए नामवर सिंह इसे भी सटीक नहीं मानते। हालाँकि उनका कहना है कि ओम जी ने कवि हृदय लेकर इस वृत्तांत की रचना की है जो हिंदी के यात्रा-वृत्तांतों के लिए एक उपलब्धि है।

पत्रकारिता की भाषा का उद्देश्य शब्दों का परिष्कृत रूप नहीं हैं बल्कि यहाँ पाठक की समझ मायने रखती है। ऐसा स्थिति में किसी भाषा का शुद्धतम रूप नहीं चल सकता। आम जनता की भाषा तो 'भाखा बहता नीर' का मानिन्द होती है। ओम थानवी ने 'मुअनजोदड़ो' में शब्द-सामर्थ्य के विभिन्न रूपों- तत्सम तथा तत्सम स्रोत से निर्मित शब्द, तद्भव और देशज शब्द, अरबी-फारसी (उर्दू) तथा अंग्रेजी शब्द, मुहावरे-लोकोक्ति आदि का बखूबी प्रयोग किया है।

तत्सम तथा तत्सम स्रोत से निर्मित कुछ उल्लेखनीय शब्द हैं : चेतावनी दुविधा पर्यटन-स्थल मार्गदर्शिका आशंका आत्मसंयम अवसाद पड़ताल तीर्थयात्रा मधुर सात्विक बोध तिरोहित अनुकूलित वायु केन्द्रशासित घोषित स्वर संयत स्वचालित अंकित सुरूचिपूर्ण संप्रेषण झंकृत आख्यान लोकमानस भंगिमा प्रतीक सतत वृषभ समकक्ष परिष्कृत समृद्ध केश-विन्यास वेणी मृत अपूर्व परवर्ती ताम्र उत्कृष्ट साक्ष्य जीर्ण-शीर्ण सर्पिल नागर वृत्तचित्र अवस्थित वास्तुकौशल अनुष्ठान पार्श्व निर्मूल चेतन-अवचेतन उद्यम लयबद्ध उपासना केन्द्र नृशास्त्री कालान्तर भूगर्भ आगन्तुक मार्मिक विशद सांस्कृतिक भव्य-राजप्रासाद मूर्ति-शिल्प लघुता महत्ता परिवेश उद्गम अस्मीभूत भस्मीभूत भूकम्प आक्रान्ता लुप्त संकीर्ण अपुष्ट प्रौढ़ अध्येता आविष्ट अद्वितीय ध्वन्यात्मक निहितार्थ नितांत उद्भव पाषाण कोप परिश्रमजन्य परिशिष्ट अक्षुण्ण चिरंतन क्रान्ति सानिध्य आदि।

तद्भव और देशज शब्दों में उल्लेखनीय हैं : ठसक हवा झोले पराई इनी-गिनी भटकन उधेड़बुन चुकती धीरज बटुआ ठहराव डाँवाडोल अचरज नचाता तड़ाक बत्ती फ्रांसुआ घड़ी चिप्पियों बेल-बूटे अटपटे तारना सुभीता कामचलाऊ बतियाते गमछा उजाड़ रसिया ढेले खोंमचे जुते देहरी भाण्डों भूरी लटकन होंठ अँगुल तुरत-फुरत चलन पली-पुसी पसर भीतर आँगन भान टीबे फिरानी बनावट विकसने रिस चिरोड़ी गारा धूसर कोठार तर हौदी चाव छज्जों साँय-साँय थपेड़े बरतना उतारू-पहिए ऊँटगाड़े सिरपेंच अनबूझ सुगढ़ दोगला खेतिहर चौपट जतन झमेला निरा गड्डमड्ड आदि।

इसी तरह अरबी-फारसी (उर्दू) के उल्लेखनीय शब्द हैं : सफर अख़बार सफे तफरीह संजीदा अगवा ताईद फितरत मौक़ा-दस्तूर खलासी कातर नजर मुदर्रिस जद्दोजहद सरसब्ज तादाद फसाद वजूह मुहाजिर मुल्क हर्फ वजीर

आजम तलब तरहीज फिक्र फन मन्क़बत मरहूम सजदा महज तब्दील असबाब मसलन बरक्स इसरार राब्ता जेहन जुमले कमोबेश हलक़े शहतीर दिलचस्प क़ायदा तकरार कशीदाकारी अजरक अगरचे जमींदोज दफ़्न फेहरिस्त बेशुमार दस्तावेज इबारत फेहरिस्त दुरुस्त पेसोपेश हू-ब-हू दर्ज पुख़्ता लाजिमी तहजीब मुख़्तसर आदि।

अँग्रेजी भाषा के उल्लेखनीय शब्द हैं : हॉकर स्टीरियो मूवमेंट स्टॉप साउथ ब्लॉक क्रॉसिंग पोर्ट्रेट हेडलाइट ओवरटेक पोलिथिन पैक टूरिस्ट गाइड लैंडस्केप ग्रीड प्लान सेक्टर स्वीमिंग-पूल लो-प्रोफाइल आदि। साथ ही यत्र-तत्र मुहावरे-लोकोक्तियों का सहज प्रयोग भी हुआ है। कुछ नए मुहावरों को गढ़ने की कोशिश दिलचस्प कोशिश भी ओम थानवी ने की है। यथा, कान खड़े कर दिए, दुनिया की छत, भेंट चढ़ना, परिभाषा लाँघना, देखना अपनी आँख से है बाक़ी तो सब आँख का झपकना है, यात्रा अपने पाँव चलना है, कविता से कविता निकलती है, दिल बैठना, आँखें दिखाना, दूध और पानी आप ही अलग हो गए, इतिहास की गाड़ी कल्पना के घोड़े, कोरा हौवा आदि महत्वपूर्ण प्रयोग हैं।

इस तरह, ओम थानवी विभिन्न भाषाओं के शब्द अपनाते हैं। इन शब्दों की ध्वनि पाठक सहज ही सुन सकता है जो मन पर गहरा असर करते हैं। लेखक ने शब्द चयन किसी सामान्य गद्य-लेखक की तरह नहीं किया है बल्कि, नामवर सिंह के शब्दों में- 'काव्य' की तरह किया है। कुँवर नारायण[18] को इस किताब का शिल्प 'डिटेक्टिव' लगता है। वे कहते हैं कि औराहन पामुक ने इसी तरह से 'डिटेक्टिव टेक्नीक' को अपने उपन्यासों में गम्भीर मानवीय संवेदना के साथ 'स्टैब्लिश' करने के लिए इस्तेमाल किया है। कहानीकार उदय प्रकाश[19] की नजर में ये यात्रा-संस्मरण क़िस्सागोई के अंदाज में, जिसे पढ़ कर लगता है कि और पढ़ा जाना चाहिए था। कवि-पत्रकार प्रियदर्शन के मुताबिक ''ओम थानवी सुरूचिसम्पन्न संपादक ही नहीं, एक सजग लेखक भी हैं। उनका बेहद नपा-तुला गद्य सिर्फ अपने विन्यास के लालित्य की वजह से नहीं, अपनी विषयवस्तु की सघनता के सहारे भी अपना एक बहुत गहरा और बहुस्तरीय ठाठ और पाठ बनाता है।''[20] ओम थानवी ने जितना कम लिख के अपने लेखन का लोहा मनवाया है वह और लेखकों के लिए रश्क का विषय है। वस्तुत: ओम थानवी ने भाषा के निराले गठन में अपनी क्षमताओं और अनुभव विस्तार का पूरा प्रयोग किया है जो कि बहुत सुंदर और सोद्देश्यपूर्ण बन पड़ा है। ओम थानवी उन विरले लोगों में से हैं जिन्होंने अपने दोनों क्षेत्रों में भरपूर प्रातिभ-न्याय किया है। ओम थानवी ने 'मुअनजोदड़ो' के माध्यम से 'साहित्यिक पत्रकारिता' की परम्परा से जितना कुछ लिया है उससे ज़्यादा देने का सफल प्रयास किया है। वस्तुत: उन्होंने साहित्यिक पत्रकारिता के समक्ष नए नभ का विस्तार किया है। पत्रकारिता और साहित्य में परस्पर आवाजाही और तालमेल को बहुत ही सुरूचिपूर्ण, सार्थक और समर्थ बनाने का आग्रह उनकी लेखनी में आद्यंत बना रहा है।

avinishkidaak@gmail.com

---

lUnHkZ lwph

1. ओम थानवी, मुअनजोदड़ो ; पृष्ठ संख्या 22
2. वही, पृष्ठ संख्या 63
3. वही, पृष्ठ संख्या 63
4. वही, पृष्ठ संख्या 21
5. वही, पृष्ठ संख्या 27
6. वही, पृष्ठ संख्या 8
7. वही, पृष्ठ संख्या 49-50
8. वही, पृष्ठ संख्या
9. वही, पृष्ठ संख्या 69-70
10. वही, पृष्ठ संख्या 72-73
11. वही, पृष्ठ संख्या 83
12. वही, पृष्ठ संख्या 23
13. वही, पृष्ठ संख्या 25
14. वही, पृष्ठ संख्या 27
15. वही, पृष्ठ संख्या 28
16. माधव हांडा, मुअनजोदड़ो : विवादों की गर्त, कल्पना की दलदल और इतिहास की गाड़ी, samalochna-blogspot.in
17. मदन कश्यप : नामवर सिंह, 'नामवर सिंह ऑन ओम थानवीज बुक' (साक्षात्कार), दूरदर्शन, 03/05/2011
18. कुंवर नारायण, साहित्य और इतिहास के बीच का संवाद है 'मुअनजोदड़ो', आईआईसी एनेक्सी, दिल्ली, mohallalive.com, 6-3-11
19. उदय प्रकाश, हिंदीवादी-जातिवादी आग्रहों पर चोट करती है 'मुअनजोदड़ो', आईआईसी एनेक्सी, दिल्ली, mohalla-live.com, 2011
20. प्रियदर्शन, सभ्यता की सुबह में इतिहास की सैर, jankipul.com, 13 मार्च 2011

डॉ. ज्योति शर्मा

मृदुला गर्ग के उपन्यासों में स्त्री विमर्श का अन्वेषण

शोध सारांश- मृदुला गर्ग के सभी उपन्यासों में नारी अंतर्मन के अनसुने स्वरों की भावात्मक अभिव्यक्ति मिलती है। उनके नारी पात्र नारीत्व के सभी भावों को समेटे हुए भी अपने सशक्त व्यक्तित्व और बौद्धिकता का असर समाज पर छोड़ती हैं।

बीज शब्द : स्त्री, विमर्श, सशक्त आदि।

प्रस्तावना : प्राचीनकाल से भारतीय समाज पितृसत्तात्मक रहा है, जहाँ समाज के सभी शक्ति प्रदान करने वाले साधनों पर पुरुषों का वर्चस्व रहा है। स्त्री को सभी प्रकार के बंधनों, उत्पीड़न एवं शोषण से मुक्ति देने का नाम स्त्री विमर्श है। जहाँ स्त्री पुरुषों के साथ बराबरी का अधिकार चाहती है। स्त्री-विमर्श स्त्री से संबंधित सभी प्रश्नों को उठाकर उनके समाधान प्रस्तुत करने का नाम है, जहाँ स्त्री वस्तु न होकर व्यक्ति विशेष का पर्याय है।

मृदुला गर्ग के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हैं। मृदुला गर्ग के 'अनित्य' उपन्यास पर स्त्री-विमर्श की छाया दिखती है। इस उपन्यास में स्त्री को शरीर एवं वस्तु समझने वाली सोच का विरोध एवं स्त्री के व्यक्तित्व को महत्त्व प्रदान किया गया है। उपन्यास में अविजित, काजल की जगह श्यामा से विवाह करता है, ऐसे में उसके मन में प्रश्न का बीजारोपण होता है क्या उसकी दृष्टि में औरत सिर्फ एक शरीर है-

''नहीं मैंने औरत को महज जिस्म नहीं समझा....कभी नहीं....।''[1]

अनित्य में लेखिका ने इस बात को बखूबी बताया है कि स्त्री कोई उपभोग की वस्तु नहीं वह भी पुरुष के समान व्यक्ति है-

''औरत कोई कालीन है या मूर्ति या फूलों का गुलदस्ता कि उसकी खूबसूरती देखकर आप उसे हासिल करने को बेचैन हो जायें?''[2]

उपर्युक्त उपन्यास में प्रभा, शुभा, काजल एवं संगीता जैसी सशक्त स्त्रियाँ हैं ये स्वतंत्र एवं स्वनिर्णय लेने की क्षमता से युक्त हैं।

'कठगुलाब' विविध स्त्रियों की पीड़ा की दर्दभरी दास्तान है। विभिन्न धर्म, परिवेश से संबंधित स्त्रियों की मार्मिक दशा एक सी है। उनके संघर्ष एवं पीड़ा एक सी हैं समाज में वह अन्तर्विरोधों का सामना करती हैं। संपन्न घरानों की स्त्रियाँ बाहर से सन्तुष्ट भले ही लगें पर आन्तरिक स्तर पर वह अपमान पीड़ा से ग्रसित होती हैं -

''एम.एस. करते ही मुझे प्रताड़ित औरतों को राहत पहुँचाने वाली, इस स्थानीय संस्था में नौकरी मिल गई। इरादा तो औरों को राहत पहुँचाने का था पर आज मैं खुद पिट-पिटाकर वहाँ जा पहुँची थी। एब्यूज्ड विमेन! कैसा तो लगता है।''[3]

'कठगुलाब' में भारतीय और यूरोपीय स्त्रियों के जीवन को दर्शाया गया है। उनकी पीड़ाओं की समान अनुभूति को स्वर दिया गया है एवं उनकी प्रताड़ित छवि का सजीव अंकन है 'कठगुलाब'।

''अंतर्मन को भीतर तक मथ देने वाली मानवीय पीड़ा के साथ...उसने समझा कि आज की तथाकथित स्वतंत्र और व्यक्तिनिष्ठ स्त्री और समाज की अपेक्षाओं पर मर मिटनेवाली उन औरतों के बीच, कोई बुनियादी फर्क नहीं था। पता नहीं, मारियान की अंतश्चेतना उन औरतों का सृजन कर रही थी या उन औरतों की जिंदगी मरियान की

चेतना का पुनर्निर्माण कर रही थी।''[4]

'उसके हिस्से की धूप' की नायिका 'मनीषा' कल्पनाशील व भावुक नारी है। सभी सुख सुविधाओं से संपन्न नारी परन्तु फिर भी उसके जीवन में रिक्तता है, खालीपन है-

''उसका मस्तिष्क खुराक की माँग करता, उसी खोज में इधर-उधर भटकने पर अधिक परिश्रम नहीं किया। जो रास्ता सबसे पहले दिखाई दिया उसे थाम लिया, कॉलेज में नौकरी कर ली। रास्ता सुगम था पर अनुकूल नहीं। वह पढ़ाती जरूर रही, पर हरदम यही अहसास लिए कि वह सिर्फ खाली समय को भरने के लिए पढ़ा रही है।''[5]

उसके जीवन का खालीपन जीवन में 'प्रेम के अभाववश है। पति जितेन अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं जिस कारण मनीषा की तरफ ध्यान नहीं दे पाते तो इस कारण वह मधुकर की ओर आकर्षित होती है, जितेन से त्याग और मधुकर से विवाह भी उसके जीवन के खालीपन को भरने के लिए पर्याप्त नहीं होता। बच्चे के जन्म लेने के पहले ही उसका गर्भपात हो जाता है, जीवन में जितेन के अचानक आ जाने से वह पुनः उसके पास वापिस जाने का स्वप्न देखने लगती है, पर जितेन उसे वापिस नहीं बुलाते। मनीषा फिर अकेली, रिक्त एवं खाली हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह आत्ममंथन कर पाती है कि वह अपनी खुशियों की तलाश क्यों जितेन और मधुकर में खोज रही है? क्यों नहीं वह सम्पूर्ण खुशी को अपने अंदर खोजने का प्रयास करती-

''वह समझ गई, अपने जीवन की सार्थकता उसे अपने भीतर खोजनी होगी।''[6]

'कर्म ही व्यक्ति के अस्तित्व को सम्पूर्णता' प्रदान कर सकता है उपन्यास का ध्येय है। अपना परिचय स्वं पहचान ही व्यक्ति को आत्मतुष्टि प्रदान कर सकती है-

''मैं बहुत व्यस्त हूँ'' कहकर मनुष्य जिस संतोष का अनुभव करता है, ''मैं प्रेम करता हूँ'' कहकर कभी नहीं कर सकता।''[7]

'चित्तकोबरा' उपन्यास के केन्द्र में प्रेम है, 'उदात्त प्रेम' उपन्यास में रिचर्ड और मनु का प्रेम इसी प्रकार का उत्कृष्ट प्रेम है जहाँ शारीरिक संरचना गौण और प्रेम भाव प्रमुख और उदात्त आत्मोन्मुख होकर समाजोन्मुख होकर प्रकट होता है। ''जो भी मुझसे हो सकेगा। उनमें से कितने बीमार होंगे, उनकी दवा-दारू, सेवा-सुश्रुषा करूंगा। कितने भूखे होंगे, उनके लिए सरहद के पार चोरी से रसद पहुँचवाने का इतंजाम करने की कोशिश करूँगा। हो सका तो ठीक। न हो सका, कुछ भी न हो सका तो बस उनके साथ रहूँगा। बच्चों को कहानियाँ सुना दूँगा। मुझे बहुत-सी याद है।''[8]

यह उपन्यास स्त्री-विमर्श को केन्द्र में रखता है। स्त्री-पुरुष की स्वतंत्रता समानता एवं बराबरी की बात करता है। मनु स्वतंत्र, आधुनिक एवं प्रगतिशील स्त्री है। वह लेखिका, माँ, गृहिणी, पत्नी, प्रेमिका होने के साथ एक प्रखर आत्मनिर्भर, स्वतंत्र निर्णय लेने वाले व्यक्तित्व की स्वामिनी-

''हम एक हैं, पर एक-दूसरे के नहीं। हम अलग हैं, पर अपन मर्जी से...।''[9]

मृदुला गर्ग कृत ''मैं और मैं'' उपन्यास पर स्त्री-विमर्श का प्रभाव है। उपन्यास की नायिका मनु शिक्षित बौद्धिक क्षमता से पूर्ण आत्मनिर्भर स्त्री है। न्याय में विश्वास रखने वाली अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वयं लेती है-

''बात न्याय संगत है और माधवी को अपनी न्यायबुद्धि पर गर्व है।''[10]

मृदुला गर्ग के उपन्यासों में अधिकांश स्त्री-पात्र अभिजात्य वर्ग के हैं यथा 'अनित्य' की नायिका श्यामा, काजल आदि। 'कठगुलाब' की स्मिता समाज से प्रताड़ित है, उसके माता-पिता गुजर चुके हैं, बहन के साथ रहती है। 'चित्रकोबरा' की नायिका अंतर्मुखी है। 'वंशज' उपन्यास के स्त्री पात्र रेवा-सविता की सामाजिक स्थिति अच्छी है। 'कठगुलाब' की स्मिता की आर्थिक स्थिति आरंभ में परिस्थितियों के कारण खराब है परन्तु स्कॉलरशिप मिलने पर उसकी स्थिति में सुधार आता है-

''मैं अकेली तो थी पर खाली नहीं। इसलिए पैसे की किल्लत कभी नहीं हुई। यूँ अकेले रहने की मुझे आदत थी, मेहनत करने की तरह।''[11]

मृदुला गर्ग के उपन्यासों की नायिकाएँ राजनीतिक चेतना सम्पन्न है, यद्यपि वे प्रत्यक्षतः राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय नहीं है, परन्तु फिर भी 'अनित्य' उपन्यास की काजल देश में समाजवाद लाना चाहती है। भगतसिंह के विचारों से प्रेरित है-

''इतिहास को दोहराना चाहती हूँ। जो अधूरा रह गया उसे पूरा करना चाहती हूँ।'' काजल के हाथ में किताब की पांडुलिपि अब भी थी। धीरे-धीरे उस पर हाथ फेर रही थी जैसे अपने किसी अजीज का सिर सहला रही हूँ।''[12]

मृदुला गर्ग के अनित्य में काजल, संगीता, प्रभा, शुभा

आदि पात्रों अपने-अपने हिस्से के संघर्ष से दोचार हो रही हैं। शुभा कुशल अभिनेत्री बनने के लिए संघर्ष कर रही है। संगीता कुशल डाक्टर बनना चाहती है तो प्रभा आम लड़कियों से अलग कुछ करना चाहती है। 'मैं और मैं'' की नायिका अच्छी लेखिका बनने का संघर्ष कर रही है।

मृदुला गर्ग के स्त्री पात्रों में अदम्य जिजीविषा है। जिजीविषा भी ऐसी कि जिसमें निरन्तर गतिशीलता हो। 'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास की नायिका में जीवन को पूर्ण रूप रूप से जीने की अदम्य लालसा है-

''वह कुछ नहीं चाहती थी सिवा इसके कि वह दौड़ती जाये' दौड़ती जाये, तब तक जब तक, क्षितिज को भेद कर आकाश में लुप्त न हो जाए।''[13]

मृदुला गर्ग के उपन्यासों की नायिकाएँ दबंगता लिए हुए हैं। कठगुलाब की नायिका स्मिता की दबंगता वहाँ प्रकट होती है जब वह पति द्वारा पीटे जाने पर बैठी नहीं रहती बल्कि वह उसकी पिटाई भी करती है। ''उसने जिम को पटकनी देकर जमीन पर गिरा दिया। उसकी बेल्ट छीन ली, और अच्छी तरह उसकी धुनाई करके रख दी।''[14]

निष्कर्ष: मृदुला गर्ग के उपन्यासों में स्त्री जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित हैं। कहीं स्त्री की पीड़ा गाथा दृष्टिगत होती है तो कहीं गौरव गाथा। स्त्री जीवन का संघर्ष उनके उपन्यासों में सजीव रूप से चित्रित है। उनके उपन्यासों की स्त्री अपने जीवन एक के एकाकीपन, शोषण, पीड़ा को दरकिनार कर अपनी सजगता, स्वतंत्रता, अदम्य जिजीविषा, अपनी प्रतिभा एवं कौशल को उभारकर अन्य स्त्रियों को अपनी शक्ति को पहचान कर अपनी विशिष्ट पहचान बनाने की प्रेरणा प्रदान कर रही हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
दौलत राम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
drsharma.jyoti2008@gmail.com

---

lUnHkZ lwph

1- अनित्य, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2012, पृष्ठ XI
2. पृ. 61
3. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, 2013, पृ. 52
4. वही, पृ. 76
5. उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2019, पृ. 119
6. वही, पृ. 118, 119
7. वही, पृ. 121
8. चितकोबरा, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2013, पृ. 51
9. वही, पृ. 64
10. मैं और मैं, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2016, पृ. 95
11. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, 2013, पृ. 25
12. अनित्य, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2012, पृ. 201
13. उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग, राजकमल प्रकाशन, 2019, पृ. 68
14. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, 2013, पृ. 52

शोध-पत्र

डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक चिंतन एवं धर्मदर्शन

नीतिका शर्मा

सार-संक्षेप

भारतवर्ष प्राचीनकाल से ही मनीषियों, ऋषियों एवं चिंतकों की भूमि रहा है एवं इसी क्रम में बीसवीं सदी में समाज को एक नई दिशा देने में डॉ. भीमराव अंबेडकर का नाम आता है। वे एक समतावादी विचारक थे। जिसके मूल में समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व जैसे मूल्यों का समावेश था। उनके सामाजिक चिंतन में अस्पृश्यों, दलितों व शोषितों के उत्थान का दर्शन है, वहीं उनके धर्म संबंधी दृष्टिकोण में पुरातनपंथी कट्टर विचारों के प्रति रोष दिखता है। वे मानते थे कि समाज में धर्म के भौतिक एवं बाह्य स्वरूप की अपेक्षा उसके लौकिक स्वरूप पर बल दिया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में धर्म मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास हेतु नितांत आवश्यक है एवं इसे नैतिकता, समानता जैसे मूल्यों के साथ होना चाहिए। समसामयिक मुद्दों के साथ देखने पर डॉ. अंबेडकर के सामाजिक एवं धार्मिक चिंतन की प्रासंगिकता और भी जीवंत हो उठती है।

संकेताक्षर :

समानता, स्वतंत्रता, न्याय, शोषण, अस्पृश्यता, दलितोद्धार, मानवीय दृष्टिकोण

भारत रत्न डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवन पर्यंत समाज के आखिरी पायदान पर संघर्षरत व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबा साहब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरुक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है। बाबा साहब साहब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रान्ति की शौर्यगाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश ना हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबा साहब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्ण व्यवस्था से डॉ. भीमराव अंबेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अंबेडकर में ऐसा जज्बा पैदा हुआ जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया। समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन-मनन किया। शोषितों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्वपूर्ण संदेश दिए, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण हेतु अनिवार्य दस्तावेज है। बाबा साहब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज, राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं।

डॉ. भीमराव अंबेडकर का जन्म 14, अप्रैल 1891 को इंदौर की मऊ छावनी में हुआ। इनके पिता रामजी सतपाल व माता भीमाबाई थी। इनका परिवार सैन्य पृष्ठभूमि से संबंध रखता था एवं ये सभी धार्मिक रूप से कबीर पंथी थे। इनकी माता की मृत्यु आरंभिक काल में ही हुई अतः इनका लालन-पालन बुआ मीराबाई द्वारा किया गया।

उनकी प्राथमिक शिक्षा सतारा में एवं हाईस्कूल तक की शिक्षा एलफिंस्टन में हुई। ये आरंभ से ही मेधावी छात्र थे अत: बडौदा नरेश श्रीमंत गायकवाड़ द्वारा शैक्षिक छात्रवृत्ति प्रदान की गयी और एलफिंस्टन कॉलेज में प्रवेश भी मिला। ये अपनी महाविद्यालयी शिक्षा के दौरान ही अस्पृश्यों के उद्धार हेतु चलाये जा रहे आंदोलनों से जुड़ गए। डॉ. अंबेडकर ने 1913-1917 के मध्य संयुक्त राज्य अमेरिका से एवं 1920 से 1923 तक ब्रिटेन से विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त की। इसका प्रभाव उनके आरंभिक जीवन पर ही वहाँ प्रचलित मूल्यों, लोकतांत्रिक परंपराओं, समता व संविधानवाद के रूप में पड़ा।[1]

भीमराव अंबेडकर ने महिला शिक्षा व अधिकारों के लिए ज्योतिराव फूले एवं सावित्री बाई फूले द्वारा प्रारंभ किए गए प्रयासों को पूर्णता प्रदान की। उन्होंने महिलाओं हेतु सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ उनके सर्वांगीण विकास हेतु विधिक उपबंधों का निर्माण भी किया। डॉ. अंबेडकर ने भारतीय समाज में दलितों व महिलाओं के साथ हो रहे अत्याचार को निजी स्तर पर देखा व इसमें उन्मूलन हेतु प्रयास किये। उनके द्वारा महिलाओं के साथ जुड़ी कुरीतियों जैसे-सती-प्रथा, बाल-विवाह के उन्मूलन हेतु ना केवल सामाजिक स्तर पर प्रचार-प्रसार किया बल्कि इसके निराकरण के लिए कानूनी प्रावधान भी किए। विदेश में शिक्षा प्राप्ति के दौरान उन्होंने नारी अधिकार संबंधी मुद्दों के साथ ही प्रगतिशील जनतांत्रिक विचारों संबंधी गहरी समझ विकसित की। बीसवीं सदी के इन्हीं आरंभिक दशकों में ब्रिटेन व अमेरिका में महिला मताधिकार संबंधी मांगें उठीं एवं उनकी प्राप्ति भी हुई। इसके साथ ही डॉ. अंबेडकर ने महसूस किया कि यदि शुद्र व अस्पृश्य जातियों के साथ ही इतना भेदभाव किया जाता है तो इन वर्गों की महिलाओं की दशा कितनी दयनीय होगी। उन्होंने जब अस्पृश्य एवं दलितोद्धार हेतु प्रयास शुरू किये तो आरंभ से ही महिलाओं को जागरूक किया व उनमें आत्मसम्मान की भावना जगायी। अस्पृश्य वर्ग की महिलाओं को अन्य वर्गों की महिलाओं के समान स्तर पर लाने के लिए स्वच्छता एवं आहार संबंधी व्यवहार में उन्नतता लाने का आह्वान किया। महिला-पुरुष समानता के विषय में उन पर महात्मा बुद्ध के विचारों एवं बौद्ध संघ के नियमों का भी प्रभाव था। वे मानते थे कि समाज की आधी आबादी का सर्वांगीण विकास हुए बिना समाज व राष्ट्र प्रगतिशील नहीं हो सकते। अत: उन्होंने महिला समूह के निर्माण द्वारा जागृति का लक्ष्य बनाया। इस हेतु जनवरी, 1928 में बोम्बे में महिला संघ की स्थापना की गई एवं 1930 में नागपुर में दलित वर्गों के सम्मेलन के साथ महिलाओं के लिए भी एक पृथक सम्मेलन का आयोजन किया गया।[2]

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने दलित वर्ग के उत्थान हेतु तीन दशकों से अधिक संघर्ष किया जिसे हम सुविधा के तौर पर चार चरणों में बांट सकते हैं। प्रथम चरण 1917-1930, इसमें उन्होंने जनजागरण का कार्य किया व दलितों के सामाजिक-धार्मिक अधिकारों के लिए संघर्ष चलाया। दूसरा चरण 1930-1940, तक चला जिसमें उन्होंने अनुसूचित जाति के राजनीतिक, सामाजिक एवं मानवीय अधिकारों की मांग को पुरजोर तरीके से उठाया। तीसरा चरण 1940-1950, तक चला इसमें दलितों की मुक्ति के आंदोलन को मजबूत किया गया व डॉ. अंबेडकर ने नवस्वतंत्र हुए देश के लिए संविधान निर्माण में मुख्य शिल्पी की भूमिका निभाई। इसी चरण में उन्होंने दलित वर्ग के संरक्षण हेतु संविधान में विशेष प्रावधान किए। चौथे व अंतिम चरण में उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकारा एवं प्राचीन भारत की महान बौद्ध परंपरा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया।[3]

डॉ. अम्बेडकर ने दलित एवं अस्पृश्य वर्ग की समस्याओं के कारणों के बारे में वर्ष 1944 में आयोजित हुए अखिल भारतीय अछूत वर्ग संघ सम्मेलन में बताया। इसमें तीन प्रमुख बातें उभरकर सामने आईं पहली अनुसूचित जाति के कष्टों का कारण हिंदू धर्म को मानना। दूसरी उन्होंने अनुसूचित जाति वर्ग की शक्ति सामर्थ्य में वृद्धि हेतु समस्त दलित वर्ग में संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। तीसरी उन्होंने यह भी माना कि स्वयं अनुसूचित जातियां भी कई वर्गों में बंटी है व इनमें भी पर्याप्त भेदभाव व असमानता है। कालांतर में भारत की स्वतंत्रता के उपरांत डॉ. अंबेडकर ने 12 जून, 1951 बम्बई में दलित वर्ग की सभा में एक भाषण दिया। इसमें उन्होंने दलित वर्ग से राजनीतिक अलगाव को छोड़ राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल होने का आह्वान किया। वस्तुत: यह डॉ. अंबेडकर के विचारों में बदलाव का द्योतक था। इस बदलाव का कारण था कि अब भारत स्वतंत्र हो चुका था एवं नवस्वतंत्र हुए राष्ट्र के लिए निर्मित संविधान में बाबा

साहब का अमूल्य योगदान था।[4]

हिंदू धर्म में प्राचीन काल से चली आ रही वर्ण व्यवस्था के बारे में डॉ. बी.आर. अंबेडकर मानते थे कि यह आरंभ में गुण आधारित व्यवस्था थी एवं कलांतर में जन्म आधारित हो गई जिससे समाज शोषक एवं शोषित वर्ग में परिवर्तित हुआ। इस स्थिति में वे इस दलित एवं असहाय वर्ग की मुक्ति हेतु सामाजिक संघर्ष की धार को पैना करना चाहते थे। जिसके लिए गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने राजकीय सेवाओं व राजनीति के क्षेत्र में इस वर्ग के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखने की मांग उठाई। वे मानते थे कि धर्म किसी समाज के उत्थान की नींव रखता है, बिना धर्म के समाज व मानव ही गति संभव नहीं है। वे धर्म को रुढि व अंधविश्वास से मुक्त और मानवीय दृष्टिकोण सेवा, प्रेम, परमार्थ आदि गुणों से युक्त करना चाहते थे। वे चाहते थे कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को पूर्वाग्रह से ग्रस्त शास्त्रों से मुक्ति मिले। उन्होंने दलित वर्ग के साथ ही सदियों से शोषित नारी समाज की शोषण से मुक्ति के लिए भी प्रयास किए, इसी क्रम में हिंदू कोड बिल एक प्रमुख विधिक प्रयास था। इसके लिए उन्हें उदारवादियों की नाराजगी का भी सामना करना पड़ा और अंततः उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र भी दिया। कालांतर में इस बिल की भावना के अनुरूप ही महिलाओं के हितों एवं उनको स्वायत्तता प्रदान करने हेतु अनेक कानून लाए गए।[5]

डॉ. भीमराव अंबेडकर मानते थे कि दलित वर्ग अपनी दयनीय स्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार है एवं इससे निपटने हेतु उसे बुरी आदतों का त्याग करना होगा। उन्होंने दलित स्त्रियों को आह्वान किया कि वे स्वयं पढ़े एवं अपने बच्चों को भी शिक्षित करें इसी विषय में उनका त्रेयी सिद्धांत भी महत्वपूर्ण है ''शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो''। वे मानते थे कि विद्या में बल होता है एवं विद्याहीन मनुष्य बलहीन होता है। वे दलितों की शिक्षा हेतु ऐसी शिक्षण पद्धति के पक्षधर थे जिससे समता निर्माण हो सके। उन्होंने तात्कालिक शिक्षा पद्धतियों की कमियों को उजागर करते हुए कहा कि यह पद्धति दलितों में आत्मसम्मान की भावना जाग्रत नहीं होने देगी। इसके निराकरण हेतु शिक्षा में अनिवार्यता एवं एकरूपता होनी जरूरी है। वे शील और सदाचार युक्त शिक्षा के पक्षधर थे। वे आर्थिक शोषण के विरुद्ध थे वहीं मार्क्स की हिंसा और अनैतिक माध्यम को अपनाने वाली शिक्षा के भी विरुद्ध थे।[6]

डॉ. अंबेडकर ने विश्व के प्रमुख धर्मों के मूल सिद्धांतों का अध्ययन किया और तात्कालिक भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप उनकी समीक्षा की। उन्होंने धर्म को सामाजिक आचार संहिता के रूप में माना जो व्यक्तियों के मध्य संतुलित संबंधों की स्थापना में सहायक होता है। डॉ. अंबेडकर ने समस्त धर्मों में तीन मूल तत्वों की पहचान की, पहला परमात्मा का अस्तित्व, दूसरा परमात्मा द्वारा जगत की दैविक व्यवस्था, तीसरा परमात्मा द्वारा मानव जाति के नैतिक व्यवस्था। भीमराव अंबेडकर के अनुसार धर्म-दर्शन उनके लिए मात्र वर्णनात्मक विज्ञान नहीं था बल्कि वह वर्णनात्मक एवं नियामक दोनों स्वरूपों में था। जब किसी धर्म दर्शन की शिक्षाओं का विवरण प्रस्तुत किया जाता है तो वर्णनात्मक विज्ञान बनता है वहीं जब उस धर्म दर्शन की शिक्षाओं पर निर्णय देते समय तार्किक बुद्धि का प्रयोग किया जाता है तो वह धर्म-दर्शन नियामक स्वरूप का हो जाता है।[7]

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने धर्म के कर्मकांडीय एवं भौतिक स्वरूप की अपेक्षा उसके लोककल्याणकारी पक्ष पर बल दिया। धर्म के विषय में वे मानते थे कि धर्म मनुष्य के लिए है ना कि मनुष्य धर्म के लिए अर्थात् धर्म मनुष्य के लिए साधन मात्र है साध्य नहीं। वे मानते थे कि धर्म का उद्देश्य समतामूलक व्यवस्था का निर्माण करना होता है, वहीं भेदभावपूर्ण व्यवस्था की स्थापना करने वाला धर्म वास्तविक धर्म नहीं हो सकता। धर्म की कसौटी के रूप में उनका मानना था कि जो धर्म आपको मानव के रूप में न स्वीकारें और उन्नति की मुख्यधारा में आने का आह्वान न करें वह धर्म नहीं हो सकता।[8] डॉ. भीमराव अंबेडकर मानते थे कि जिस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के लिए जल एवं वायु आवश्यक है उसी तरह धर्म भी नितांत आवश्यक है। वे ईश्वर को धर्म के एक तत्व के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त धार्मिक व्यवस्थाओं के रूप में प्रचलित कर्मकांडों, प्रार्थनाओं, तीर्थ स्थानों को भी धर्म का आवश्यक अंग नहीं मानते बल्कि उनके अनुसार धर्म का मूल तत्व नैतिकता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर धर्मों के आधार पर बनी सामाजिक व्यवस्थाओं को पूर्व निर्धारित एवं अकाट्य नहीं मानते। ज्यादातर धर्मों ने अपनी-अपनी स्थिति-परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग नियमों का निर्माण किया, अंबेडकर इसके बजाय यह मानते थे कि धर्म के मूल में नियमों की अपेक्षा

आदर्श होने चाहिए। डॉ. अंबेडकर के अनुसार धर्म की उपयोगिता की जांच के लिए न्याय के मानदंडों को लागू करना चाहिए और ये मानदंड समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के आदर्श है।[9]

डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों की एवं उनके कार्यों की वर्तमान में प्रासंगिकता जानने से पूर्व हमें उन मूल्यों व संघर्षों को देखना होगा जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया। वे लोकतांत्रिक व संवैधानिक मूल्यों, समतामूलक समाज, मानवाधिकार, दलित व पिछड़े वर्ग के हक एवं नारी मुक्ति के लिए आजीवन संघर्षरत रहे। वर्तमान समय में हो रहे राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन के चलते ऐसे हालात पैदा हो गए हैं कि डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचार अधिक प्रासंगिक नजर आते हैं। वर्तमान परिदृश्य में संवैधानिक मूल्यों का हो रहा निरंतर पतन, धर्मनिरपेक्ष देश में हिंदू राष्ट्र की मांग, लोकतांत्रिक मूल्यों के लिये संघर्षरत कार्यकर्ताओं को देशद्रोही करार दिया जाना, सांप्रदायिक तत्वों को बढ़ावा मिलना, मॉबलिंचिंग की बढ़ती घटनाएं एवं जातिगत अत्याचारों व भेदभाव का बढ़ना आदि घटनाओं का सामने आना एक प्रमुख चुनौती के रूप में है। ऐसे में इन समस्याओं के निराकरण के लिए बाबा साहब की मानवतावादी विचारधारा और भी जरूरी हो जाती है।[10]

शोधार्थी, इतिहास विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर
ईमेल : neetikasharma649@gmail.com

---

lUnHkZ lwph

1. डॉ. अंबेडकर और पंडित दीनदयाल, प्रीति पांडे, ए. बी.डी. पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2021, पृष्ठ संख्या 1-8
2. डॉ. भीमराव अंबेडकर : भीम से बाबा साहब तक का प्रेरक जीवन दर्शन, डॉ. प्रेमलता परसोया, बाबा पब्लिकेशन्स, जयपुर, संस्करण, 2021, पृष्ठ संख्या 160-164
3. बाबा साहब डॉ. बी.आर. अंबेडकर जीवन और संघर्ष, डॉ. पूरण मल, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ संख्या 53-54
4. बाबा साहब डॉ. बी.आर. अंबेडकर जीवन और संघर्ष, डॉ. पूरण मल, आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ संख्या 68-69
5. डॉ. अंबेडकर एक प्रखर विद्रोही, डॉ. डी. आर. जाटव, ए.बी.डी. पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2004, पृष्ठ संख्या 31-32
6. डॉ. अंबेडकर एक प्रखर विद्रोही, डॉ. डी. आर. जाटव, ए.बी.डी. पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2004, पृष्ठ संख्या 78
7. बीसवी सदी के महानायक बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर (1891-1956), डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृष्ठ संख्या 154-157
8. बीसवीं सदी के महानायक बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर (1891-1956), डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृष्ठ संख्या 174-176
9. डॉ. बी. आर. अंबेडकर के विचार, डॉ. फूल चंद कुलदीप, बूकमेन एसोसिएट्स, संस्करण, 2023, पृष्ठ संख्या 187
10. दलित, अंबेडकर और राजनैतिक चेतना, डॉ. पूरण मल, पॉइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2022, पृष्ठ संख्या 99-100

शोध-पत्र

ऋग्वेदे नदीनांवर्णनं महत्वञ्च

निशान्तमिश्रः

भूमिका -

ऋग्वेदे नदीनां वर्णनं भारतीयसंस्कृते:धर्मस्यजीवनस्य च विषये अत्यन्तं महत्वपूर्णम् अस्ति। ऋग्वेदः प्राचीनः संस्कृतग्रन्थः अस्ति, यस्मिन् देवतानां, ऋषीणां, मन्त्राणां, विविधैः धार्मिकविषयैः च गहनं वर्णनं कृतम् अस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे नदीनां वर्णनं अद्भुतपवित्र - दृष्टिकोणेन कृतम् अस्ति। नद्यः केवलं प्राकृतिकसंसाधनरूपेण न, अपितु आध्यात्मिक-धार्मिकदृष्ट्या अपि अत्यन्तं महत्वपूर्णाः सन्ति। अस्मिन् लेखे वयं ऋग्वेदे नदीनां वर्णनं, तासां महत्वं, सांस्कृतिकपरिप्रेक्ष्ये च विचारयिष्यामः।

मुख्यप्रतिपाद्याविषयः

ऋग्वेदे नद्यः केवलं स्वाभाविकजलप्रवाहरूपेण न दृश्यन्ते, अपि तु दिव्यपवित्ररूपेण प्रतिष्ठिताः सन्ति। एताः नद्यः देवतारूपेण उपास्यन्ते। नद्यः पवित्रतायाः, जीवनसमृद्धेः च प्रतीकाः सन्ति। ऋग्वेदस्य दशममण्डले पञ्चसप्ततितमे सूक्ते अनेकनदीनामुल्लेखो दृश्यते। ऋग्वेदे उक्तम् -

''इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि
स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये
शृणुह्या सुषोमया॥''[1]

अस्मिन् मन्त्रे गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकीया, सुषोमा इत्येते नद्यः उल्लिखिताः सन्ति।

ऋग्वेदे बहुसु स्थानेषु 'सप्त सिन्धवः' इत्यस्य उल्लेखो दृश्यते।[2] ताः सर्वाः सप्त नद्यः सिन्धुं प्रति प्रवहन्ति।

यथैव हि अथर्ववेदे उक्तं यत् - **हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गम**[3] इति। तासु सप्तसु नदिषु पंजाबराज्यस्य शुतुद्री, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता, सिन्धु, सरस्वती च गृहीताः सन्ति।

सिन्धु नदी

सिन्धु नदी ऋग्वेदे प्रमुखरूपेण उल्लिखितास्ति। एषा नदी 'सिन्धु' इति नाम्ना विख्याता आसीत्, तथा च एनां देवतस्वरूपा मन्यन्ते। ऋग्वेदे सिन्धुनद्याः महिमा अतीव वर्णिता अस्ति, यथा सा जीवनस्य स्रोतः इति दृष्टा। एषा केवलं जलस्य स्रोतः न आसीत्, अपितु भारतीयसभ्यतायाः प्राचीनतमकेंद्रेषु अन्यतमा आसीत्। ऋग्वेदस्य नदीसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रे सिन्धुनद्याः सहायकनदीनामप्युल्लेखो वर्तते।

यथा ऋग्वेदे उक्तम् -

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः
सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं
क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥[4]

अस्मिन् मन्त्रे सिन्धुनद्याः पश्चिमसहायकनदीनांसंज्ञा निर्दिष्टाः सन्ति - तृष्टामा, सुसर्तुः, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती, क्रुमुः, मेहत्नुः इत्यादयः। एताभ्यः अपराः अपि कतिपयाः नद्यः ऋग्वेदे उल्लिख्यन्ते, यथा - सुवास्तु, सरयू, विपाशा, आपया, दृषद्वती, सदानीरा, अंशुमती इत्यादयः। ऋग्वेदस्य अनेकमन्त्रेषु गङ्गा, यमुना, सरस्वती नद्यः अपि स्तूयन्ते।

गङ्गा -

गङ्गा शब्दस्य निर्वचनं निरुक्तशास्त्रे उक्तम्-**यतः सा**

विशिष्टं स्थानं गच्छति गमयति वा तस्मात् गङ्गा[5] इति। गङ्गानद्याः स्पष्टः उल्लेखः ऋग्वेदे न दृश्यते, किन्तु गङ्गायाः महिमा महत्त्वं च संकेतरूपेण दृष्टुं शक्यते। गङ्गानदी **'इन्द्रपद'** रूपेण अपि प्रस्तुता अस्ति।

गङ्गायाः धार्मिकमहत्त्वं कालेन सह वर्धितम्, अपिच वेदानन्तरं अन्येषु ग्रन्थेषु गङ्गा देवी रूपेण पूजिता। वेदेषु गङ्गा प्रतीकत्वेनउल्लिखिता आसीत्, अपिच भविष्ये भारतस्य जीवने रेखारूपेण स्वीकृता जाता।

यमुना -

यमुना शब्दस्य निर्वचनम् - **यस्मादियं स्वमुदकमन्याभिः नदीभिः प्रयुवती मिश्रयती गच्छति ततो यमुना इत्युच्यते।**[6] यमुना नद्याः उल्लेखः ऋग्वेदे अपि दृश्यते। इयमेका महत्वपूर्णा नदी। यमुना प्रेमस्वरूपा जीवनदायिनी च इत्युपासिता। यद्यपि यमुनायाः उल्लेखःप्रमुखरूपेण वेदेषु पुराणेषु च दृश्यन्ते।

सरस्वती -

निरुक्तशास्त्रे सरस्वती शब्द का निर्वचनमस्ति - **सरसा उदकेन तद्वती भवति सरस्वती।**[7]

ऋग्वेदे सरस्वती इति नद्याः उल्लेखः अनेकेषु स्थानेषु कृतः। सा नदी 'दिव्या नदी' इति महिम्ना विख्याता। ऋग्वेदे सरस्वती नद्याः उल्लेखः विद्यायाः, सङ्गीतस्य, ज्ञानस्य च देव्या सह सम्बद्धा इति अभिप्रेतम्। सा 'सप्तसिन्धुषु' एकस्याः प्रमुखनद्याः रूपेण वर्णिता अस्ति। एषा नदी ऋग्वेदस्य प्राचीनतमकाले एका विशालसमृद्धा च नदी आसीत्, या अधुना शुष्कत्वं प्राप्ता। एकस्मिन्नेव मन्त्रे देवी सरस्वती मातृषु, नदिषु, देविषु च श्रेष्ठा इति ऋग्वेदे उक्तम्।

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।।[8]

नदीनां महत्वम् -

ऋग्वेदे नद्यः केवलं जलस्रोतस्वरूपेण न दृश्यन्ते, अपि तु धार्मिकसांस्कृतिकाध्यात्मिक महिम्ना च वर्णिता। वेदेषु नद्यः देवतारूपेण पूजिताः, तासां च जलं पवित्रं मन्यते। नदीनां महत्वं निम्नलिखितेषु पक्षेषु द्रष्टुं शक्यते।

पवित्रतायाः प्रतीकम् -

ऋग्वेदे नद्यः पवित्राः मान्याः सन्ति। ताः देवतानाम् आशीर्वादं प्राप्नुवन्ति।

नदीजलं पवित्रतायाः प्रतीकरूपेण दृष्टं, तेन च आत्मशुद्धेः प्रक्रिया सम्बद्धा आसीत्।

वेदेषु वर्णिताः याः नद्यः जीवनाय आवश्यकं जलं वहन्ति, ताः ब्रह्मणः प्रतीकरूपेण दृष्टाः।

आस्थापूजायाश्च माध्यमम् -

नद्यः पूजनीयाः आसन्, तेषां पूजायां विशेषमन्त्राणामोच्चारणं क्रियते स्म।

ऋग्वेदे नद्यः देवतारूपेण प्रतिष्ठिताः सन्ति। नदीजलं शुद्धं जीवनदायि च इत्यभिप्रेतम्।

नद्याः तटे यज्ञाः अन्यैः धार्मिकैः अनुष्ठानैः सह आयोज्यन्ते स्म। नदीनां पूजा धार्मिकोत्सवेषु एकः प्रमुखः भागः आसीत्, अपि च ताः जीवनमरणस्य चक्रात् मोक्षमार्गरूपेण संस्थिता इति जनाः मन्यते।

जीवनस्य स्रोतः -

नद्यः जीवनस्य स्रोतः इति मन्यन्ते। तासां जलं कृषिकार्याय अत्यन्तं महत्वपूर्णमासीत्, तथा च समृद्धेः चिह्नरूपेण अपि गृहीतम्। वेदेषु नद्याः जलेन मनुष्याणां पशूनां च जीवनरक्षा वर्णिता अस्ति। नद्यः सर्वस्य समाजस्य समृद्धेः शान्तेः च कारणरूपेण अपि मान्याः आसन्।

सांस्कृतिकं च भौगोलिकं च महत्त्वम् -

ऋग्वेदे नद्यः केवलं धार्मिकदृष्ट्या न, अपि तु भौगोलिकसांस्कृतिकदृष्ट्या अपि महत्वपूर्णाः सन्ति। नद्यः प्राचीनभारतीयसभ्यतायाः जीवनस्यकेन्द्रभूताः आसन्।

सिन्धुघाटीसभ्यतायाः विकासः सिन्धुनद्याः तटे अभवत्, तस्मात् तया सह सम्बन्धितानां सभ्यतानां संस्कृतेः च उत्थानः जातः। नद्याः जलं, मृत्तिका, जलवायुश्च एतेषां सर्वेषां गम्भीरो सम्बन्धः आसीत्।

आध्यात्मिकः पक्षः -

ऋग्वेदे नद्यः आध्यात्मिकोन्नतेः प्रतीकरूपेण मान्याः आसन्। नद्यः आत्मनः शुद्धिकरणाय अपि उपयोगिन्यः इत्यभिप्रेतम्। विशेषतः सरस्वतीनदी ज्ञानस्य, विद्यायाः, आध्यात्मिकशुद्धेः च प्रतीकत्वेन पूजिता आसीत्।

नदीनां संरक्षणं च सांस्कृतिकसंरक्षणञ्च -

ऋग्वेदे नदीनां महत्त्वं केवलं धार्मिकं न, अपि तु

पर्यावरणदृष्ट्याऽपि अत्यधिकं प्रमुखम् आसीत्। नद्यः भारतीयसंस्कृतेः सभ्यतायाः च अभिन्नः अंशः आसन्। प्राचीनकाले नद्यः कृषेः, जलवायोः, जीवने च आवश्यकसंसाधनरूपेण मान्याः। अद्यापि नद्यः भारतीयसंस्कृतेः विरासत् इति मन्यन्ते, तासां संरक्षणं अत्यावश्यकम् अस्ति।

निष्कर्षः

ऋग्वेदे नद्यः केवलं जलस्रोतः न आसन्, अपि तु तासां धार्मिकं, सांस्कृतिकं, आध्यात्मिकं महत्त्वञ्च अत्यधिकम् आसीत्। नद्यः देवतारूपेण पूजिताः, किञ्च च तासां जलं जीवनाय आवश्यकम् आसीत्। एतासां नदीनां महत्त्वं भारतीयसमाजे, संस्कृतौ, सभ्यतायां च अतिगम्भीरं दृश्यते। ऋग्वेदे यत् नदीनां वर्णनं कृतं, तत् अद्यापि अस्मान् नदीनां महत्त्वं बोधयति, अपि च तासां संरक्षणाय प्रेरयति च।

सहायकप्राध्यापकः
शास्त्रविद्यागुरुकुलम्
कविकुलगुरुकालिदाससंस्कृतविश्वविद्यालयः
रामटेकम्

सन्दर्भसूची :

1. ऋग. 10/75/5
2. ऋग. 1/35/8
3. अथर्व. 6/24/1
4. ऋग. 10/75/5
5. निरुक्तम् 9/20
6. निरुक्तम् 9/20
7. निरुक्तम् 9/20
8. ऋग. 2/41/16

सन्दर्भग्रन्थसूची :-

1. ऋग्वेदः सायणभाष्यम्
2. यास्कमुनिप्रणीतम् निरुक्तम्
3. अथर्ववेद सायणभाष्यम्
4. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति

मोनिका

भारतीय ज्ञान परम्परा और आधुनिक चिंतन

भारतीय ज्ञान परम्परा का इतिहास, भारतीय परम्परा की ही तरह हजारों वर्ष पुराना है। हजारों वर्षों के अविरल प्रवाह में ये परम्पराएँ विकसित होती रही हैं। इस परम्परा में अनेक चिंतन पथ, अनेक परम्पराएँ, अनेक दृष्टियों ने समय-समय पर अपना योगदान दिया है। भारतीय परम्परा में अनेक परम्पराएँ रही हैं। किन्तु भारतीय परम्परा को वेद, पुराण और शास्त्रों से जोड़ने की प्रवृत्ति सशक्त रही है और हम आज भी उसके सम्मोहन से मुक्त नहीं हो सके हैं। इन महान ग्रंथों को हम मानव-सभ्यता की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ मानते हैं, जो वे नि:संदेह हैं। ''क्या वे ही भारतीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं? भारतीय परम्परा के विकास में अनेक स्वतन्त्र, जनजातीय परम्पराओं का भी योगदान रहा है।''[1] आज यह बताना आसान नहीं रहा है कि किन-किन परम्पराओं के मिश्रण से भारतीय परम्परा बनी। आज भी इस परम्परा की अनेक परम्पराएँ स्थानीय और जातीय रूप में ही मिलती हैं। किन्तु यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा, समाज और संस्कृति को वास्तविक रूप देने का कार्य अनेक परम्पराओं ने मिल जुलकर किया है। 'किसको नमन करूँ मैं' कविता में रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं,

'भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ, भारत जीवित भास्वर है।'[2]

सवाल यह उठता है कि भूमंडल के शील इस भारत की ज्ञान परम्परा में क्या-क्या शामिल रहा है? भारत, भारतीयता और भारतीय संस्कृति से संबन्धित सवाल लगातार उठ रहे हैं, ऐसे में हमें विविधता में एकता कहने से ही काम नहीं चल सकता। हमारे 'भारत को जोड़ने वाले तत्त्वों की खोज करते समय हमें भौतिक संस्कृति के उपादानों पर भी गंभीर रूप से विचार करना चाहिए।... राष्ट्रीय और राजकीय सीमाएँ भले ही अलग रही हों, भारत का सांस्कृतिक-धार्मिक भूगोल एक भारतीयता की ओर इशारा करता है। भारत की भूमि, पर्वतों और नदियों का उल्लेख हमें बार-बार धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथों में मिलते हैं।...भारतीय संस्कृति विश्रृंखलित हो जाती, यदि वह लौकिक संस्कृतियों की स्वतन्त्र छवि को नष्ट करने का दुराग्रह करती।...भारतीय संस्कृति को बचाये रखने में उसके प्रश्न, शंका, असहमति, विरोध, सुधार और विद्रोह की परम्पराओं का बड़ा हाथ रहा है। भारत के अनेक संत कवियों ने सामाजिक विक्षोभ की अभिव्यक्ति और अन्याय से लड़ने का एक नया मुहावरा विकसित किया। परम्परा को प्रकट रूप से बिना अस्वीकार किये उन्होंने पैने प्रश्न पूछे, गंभीर शंकाएँ व्यक्त कीं, अपनी असहमति को शब्द दिये, विरोध को वाणी दी, सुधार की योजनाएँ सुझायीं और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोह का समर्थन किया। इन परम्पराओं ने एक ओर सामाजिक तनावों को दूर या कम किया तो दूसरी ओर सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करने में भी सहायता दी।''[3]

भारत में ज्ञान की अनेक धाराएं रहीं। दर्शन, अध्यात्म, चिकित्सा, योग, आयुर्वेद, भाषा और भक्ति से जुड़ी इन धाराओं ने मनुष्य जीवन के लक्ष्य को पाने हेतु अलग-अलग रास्ते बताएं किन्तु इन सबका लक्ष्य एक ही रहा। एक का अनेक में बँटना और फिर अनेकत्व में एकता का दर्शन

भारतीय परम्परा के लिए सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। नासदीय सूत्र इसी से आरम्भ होता है कि कोई एक था, और उस एक के संधान की विभिन्न धाराएं हुई, जिनके मूल में कोई एकत्व छिपा होता है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 'नासदीय सूक्त' में भारतीय परम्परा के बीज खोजे जा सकते हैं, ''नासदीय सूक्त 'नासदासीन्नो सदासात्तदानीं' से आरम्भ होता है जिसका अर्थ है–'उस समय (अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पहले) असत् नहीं था और सत् भी नहीं था।' आगे इस सूक्त में आश्चर्य और जिज्ञासा प्रकट की गयी है कि ब्रह्माण्ड कब, क्यों और किसके द्वारा अस्तित्व में आया। विशेष बात यह है कि इस सूक्त में इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया गया है बल्कि यह कहा गया है कि इसका उत्तर सम्भवतः देवता भी नहीं जानते होंगे क्योंकि वे भी सृष्टि की उत्पत्ति के बाद उत्पन्न हुए।''[4] आज विज्ञान ने यह साबित कर दिया कि वस्तु के छोटे से छोटे अंश को भी पूर्णतः जानना सम्भव नहीं है तब यह सिद्ध हो गया है कि विज्ञान और अध्यात्म मनुष्य और प्रकृति को जानने के विपरीत रास्ते नहीं है।

पतंजलि द्वारा दी गई योग की परिभाषा भारतीय परम्परा में ज्ञान के महत्त्व को समझाने में सक्षम है। 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' चित्त की वृत्ति का निरोध, मन का संयम भारतीय दर्शन, सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति को समझने के लिए मूल शब्द है। भारतीय परम्परा ने उपभोक्तावाद और भोग को कभी प्रश्रय नहीं दिया। मन का संयम पतंजलि के लिए ही नहीं, बुद्ध द्वारा दुःख का कारण बतायी गई तृष्णा से बचने का उपाय भी है। विवेकानंद जब अमेरिका गये तो वहाँ की समृद्धि देखकर अभिभूत हो गए थे, किन्तु फिर उन्होंने जाना कि इन तृष्णाओं का कोई अन्त नहीं है। महर्षि अरविन्द हो या गाँधी सबने मानव जीवन में शान्ति के लिए इसी संयम को आवश्यक बताया। त्याग और सेवा से ही मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है। अहिंसा का सिद्धांत भारतीय परम्परा से ही निकल सकता था। भारतीय परम्परा में अन्तर्सम्बन्धों का बहुत महत्त्व रहा। मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और मनुष्य के बीच के सहज संबंधों से ही इस संस्कृति का तन्तु विन्यास बना है। इसलिए ''भारत में दृष्टि की समग्रता को तर्कबुद्धि द्वारा हासिल करने का दुस्साहस कभी नहीं किया गया बल्कि चीजों के अन्तर्सम्बन्धों के बीच ही उसे खोजा गया। दृष्टि मुक्ति का साधन ही नहीं, उसका स्रोत भी थी।''[5]

भारतीय परम्परा में ज्ञान का उद्देश्य कभी भी व्यावसायिकता या धनार्जन नहीं रहा। यहाँ ज्ञान व्यवहार से अलग एक अकादमिक विषय की तरह भी न देखा गया। ज्ञान धर्म का, संस्कृति का अंग रहा, इसीलिए भारत में संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य सब घुलेमिले हैं, ''तथापि आदिकाल से ही, अत्यंत प्राचीन वैदिक विचार-युग से ही, भारतीय मन ने यह जान लिया था कि आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक सत्ता में एक ही सर्वमान्य नियम एवं शक्तियाँ कार्य करती हैं। उसने 'सभी चीजों में प्राण की विद्यमानता' का सिद्धांत भी खोज निकाला था, प्रकृति में वनस्पति और पशु के रूप में मनुष्य के रूप की और आत्मा के विकास की प्रस्थापना की थी, दार्शनिक अन्तर्ज्ञान और आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक अनुभव के आधार पर उन सब अनेक सत्यों का प्रतिपादन किया था जिन्हें आधुनिक विज्ञान ज्ञान-प्राप्ति के अपने निजी दृष्टिकोण से पुनः प्रस्थापित कर रहा है।''[6]

राधावल्लभ त्रिपाठी भारतीय ज्ञान परम्पराओं के विकास के चार चरण बताते हैं। हालाँकि इनका समय तथ्यात्मक नहीं मान सकते किन्तु समझने की दृष्टि से इस विभाजन को ले सकते हैं। 5000 विक्रम पूर्व से 1000 विक्रम पूर्व को मंत्रकाल या उद्भव काल कहा जा सकता है। इस समय में परम्पराएँ उद्भुत हुई, मंत्रों के रूप में ज्ञान का विकास हुआ। 1000 विक्रम पूर्व से विक्रमाविर्भाव तक को सूत्रकाल या उन्मेषकाल कह सकते हैं। इस समय में सूत्रों की रचना हुई, ज्ञान का विकास हुआ। प्रथम शती से दसवीं शती तक के काल को भाष्यकाल या विकासकाल कहते हैं। सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि वेदों, उपनिषदों आदि के बाद सर्जन नहीं हुआ, केवल भाष्य लिखे गए या टीकाएँ रची गई, किन्तु भाष्य करना भी सर्जनात्मक कार्य है। टीका कोई व्याख्या करना नहीं, यह ठीक आलोचना जैसा कार्य है। जैसे आलोचक का कार्य भी सर्जनात्मक कार्य है ठीक उसी तरह टीका रचना सर्जन है। कुछ मूल पुस्तकों से ज्यादा उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हुई, कई मूल पुस्तकों की पहचान ही उन पर टीका लिखे जाने के बाद बनी। एक समय तो भारतीय ज्ञान परम्परा में ज्ञानी प्रमाणित होने के लिए 'प्रस्थान-त्रय' पर टीका लिखना अनिवार्य ही हो गया। ग्यारहवीं शती से अब तक के समय को विस्तार काल कहा जा सकता है। औपनिवेशिक

शासकों ने भारतीय ज्ञान के प्रति यह धारणा बनायी कि जो भी कुछ था, जो उपलब्धियाँ थीं, वे सब अतीत हो गईं, उन्होंने अतीत और वर्तमान को जोड़ने वाले सेतुओं को नष्ट किया, और यूरोपीय शिक्षा के माध्यम से भारत के भविष्य को यूरोप के अनुकरण के तुच्छ प्रयास से सम्बन्धित कर दिया। आज भी हम उनकी बनायी धारणाओं से मुक्त नहीं हुए हैं। भारतीय ज्ञान की परम्परा सतत् चलती रही है आज भी अनेक लोग उसमें अपनी आहुति दे रहे हैं किन्तु हम इस तरफ ध्यान ही नहीं देना चाहते। हमने अपनी भाषाओं को भुला दिया इसी के साथ हम अपने लिए ही अजनबी बन गएं। इससे बड़ा दुर्भाग्य भारत के लिए क्या होगा कि भारतीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत की पुस्तकें आज अंग्रेजी अनुवाद में पढ़ी-पढ़ायी जाती हैं।

गाँधीजी कहते हैं कि विस्मृति में हम अपना अतीत भूल गए हैं। औपनिवेशिक काल के वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ कि भारतीय अपने ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से अलग हो गए। स्मृति सभ्यता की बुनियादी इकाई होती है, हम अपने अस्तित्व की बुनियाद से अलग होकर एक तरह अपनी चेतना से विलग हो गए। भारतीय अपने से अधिक पश्चिम के बारे में जानने लगे, ''यहाँ अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया है–जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं–जो अपने मुल्क और उसके लम्बे अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है–यूनानियों के वक्त से लगा कर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में–जहाँ हमारे दिमाग की ढलाई होती है–यही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें हर आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं। भारतीय सभ्यता का या शायद किसी भी अन्य पश्चिमेत्तर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान भी है? हमारे यहाँ अगर कुछ है जिसमें हम थोड़ी बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह सिर्फ अध्यात्म, धर्म या विज्डम, जो भी कह लें। हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिल्कुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और गुजर कर ही यहाँ पहुँचे हैं। हमारी स्मृति-भ्रष्ट बदहाली का यह हाल उस शिक्षा-पद्धति की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे 'अपार्थीड' में हुई है। एक तरफ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'मॉडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद या संप्रेषण की गुंजाइश ही नहीं बची है। चूँकि ये मॉडर्न ही देश के सत्ताधारी 'एलीट' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आप को पाँच हजार वर्षों–उथल-पुथल से भरे वर्षों–में भी निरंतर कायम और सक्रिय रूप से रचनाशील बनाये रखा है–उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का खतरा उपस्थित है।''[7]

हममें जो बहुत कुछ जीवित है हम उसकी चिन्ता भी नहीं करते हैं, ''उसमें बहुत कुछ है/जो जीवित है/जीवन दायक है/जैसे भी हो/ध्वंस से बचा रखने लायक है

पानी का छिछला होकर/समतल में दौड़ना/यह क्रांति का नाम है/लेकिन घाट बांध कर/पानी को गहरा बनाना/यह परम्परा का नाम है

परम्परा और क्रांति में/संघर्ष चलने दो/आग लगी है, तो/सूखी डालों को जलने दो

मगर जो डालें/आज भी हरी हैं/उन पर तो तरस खाओ/मेरी एक बात तुम मान लो

लोगों की आस्था के आधार/टूट जाते है/उखड़े हुए पेड़ो के समान/वे अपनी जड़ों से छूट जाते है

परम्परा जब लुप्त होती है/सभ्यता अकेलेपन के/दर्द मे मरती है/कलमें लगना जानते हो/ तो जरुर लगाओ/मगर ऐसी कि फलो में/अपनी मिट्टी का स्वाद रहे

और ये बात याद रहे/परम्परा चीनी नहीं मधु है/वह न तो हिन्दू है, ना मुस्लिम।''[8]

अपनी जातीय स्मृति और परम्परा से कटकर अर्जित की हुई यूरोपीय आधुनिकता ने भारतीय मानस को आत्म-विभाजित कर दिया। आजादी के बाद शिक्षित भारतीयों ने इस आत्म-उन्मूलन की पड़ताल करते हुए औपनिवेशिकता

के प्रभाव का विश्लेषण समय-समय पर किया है, निर्मल वर्मा ऐसे ही विचारक है। वे भारतीय व्यक्ति के पारिवारिक संस्कार और उसकी शिक्षा के बीच की खाई को भी दिखाते हैं। वे कहते हैं, ''बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में एक मुझ-जैसे भारतीय को कभी-कभी यह लगता है कि मैं एक ऐसे ऐतिहासिक नाटक का गूँगा दर्शक हूँ—या उससे भी बदतर उसका दयनीय शिकार हूँ जिसकी स्क्रिप्ट किसी दूसरे ने लिखी है और उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। मैं एक ऐसी आधुनिकता से आक्रांत हूँ जिसकी संकट की भाषा और प्रगति का कर्मकाण्ड दोनों ही मेरे लिए अजनबी हैं, लेकिन एक विचित्र और रहस्यमय ढंग से मैं भी इसी आधुनिक सभ्यता की नियति से कहीं गहरे में अपने को संलग्न और सम्बन्धित पाता हूँ।''[9]

अनेक विचारक हैं जिन्होंने अपनी परम्परा को समझने-समझाने का कार्य किया है, उन्होंने निरंतर भारत, भारतीय संस्कृति, परम्परा और भारतीयता को लेकर लिखा है। भारतीय मानस अपने आत्म को कैसे हासिल करे, उसका विऔपनिवेशीकरण कैसे हो, इस पर विचार किया है। यशदेव शल्य, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, के.सी.भट्टाचार्य, वासुदेवशरण अग्रवाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, भगवत शरण उपाध्याय, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, राधावल्लभ त्रिपाठी आदि ऐसे ही विचारक हैं। गाँधी भारतीय परम्परा को जीवन में प्रतिफलित करने वाले व्यक्ति हैं। उनकी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज' के दर्शन को 1909 में कोई न समझ सका, आज उन्हीं गाँधी को पहला उत्तर आधुनिक विचारक कहकर भविष्यदर्शी बताया जा रहा है। उनकी भारतीय परम्परा में पगी अपनी अंतश्चेतना से ही यह सम्भव हो सका कि वे पश्चिमी सभ्यता और मनुष्य के यंत्रीकरण का विरोध इतनी सरल भाषा में कर सके।

भारतीय परम्परा आज भी हमारे रक्त में है, और अधिकांश लोग उसे निभाए भी जा रहे हैं, किन्तु औपनिवेशिक दासता ने भारतीय चेतना को आत्म विभाजित करके एक गहरी विस्मृति में डाल दिया था, उस नींद से हम अभी भी नहीं जागे हैं। आजादी के बाद हमारी शैक्षिक व्यवस्था ने इस विस्मृति को और ज्यादा गहराने का कार्य किया है। हमारे सभी प्रतिमान और स्वप्न यूरोपीय जगत् से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा को विश्वविद्यालयी शिक्षा से बाहर कर दिया गया है, यूरोपीय ज्ञान विधाएं, उन्हीं के तरीके और उन्हीं की भाषा में पढ़ायी जाती है। पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय ज्ञान परम्परा और उसकी संस्कृति को नकारते हुए भारतीयों के लिए रचनात्मकता और आत्मविश्वास की भावना को नष्ट करने का कार्य किया। आज भी एक भारतीय व्यक्ति के लिए अपने घरेलू जीवन और पायी गई शिक्षा के बीच सामंजस्य बैठाना बहुत मुश्किल है। उसकी अपनी परम्परा जहाँ उसे 'बेहतर मनुष्य' बनाने पर केंद्रित है, वहीं उसकी शिक्षा उसे जीविकोपार्जन केंद्रित व्यवहारकुशल व्यक्ति बनाती है। भारतीय परम्परा 'आत्म' की पहचान को आधार बनाकर चलती है जहाँ स्वयं को जानना ही ब्रह्माण्ड को जानना है। यूरोपीय विद्या में मनुष्य को जानने के लिए मनोविज्ञान है, जहाँ अपनी पहचान दूसरों के द्वारा, दूसरे के संदर्भ में ही हासिल की जा सकती है।

हम अपने से कट गए हैं किन्तु भारतीय ज्ञान परम्परा अभी भी हमारे रक्त में, हमारी चेतना में है, हमें हीनता से मुक्त होकर स्वयं को स्वीकारना होगा। ताकि हम स्वयं को फिर से पहचान सके। हमारी परम्परा और दर्शन मृत है, हमें इस औपनिवेशिक पश्चिमी समझ से मुक्ति पानी होगी, हम जिस अनुपात में इस मानसिकता से मुक्त होंगे उतना ही अपनी जीवन्त परम्परा के तत्त्वों को देख सकेंगे। ऋग्वेद की भारतीय समझ 'आ नो भद्राः कर्तवो यंतु विश्वतः' अर्थात् 'सात्विक विचार हर दिशा से आने दो' को ग्रहण करते हुए, हमें हर दिशा में स्वयं को खुला रखना चाहिए और आज की उत्तर आधुनिक जरूरतों के अनुसार भारतीय ज्ञान परम्परा को वैश्विक स्तर पर एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। मैक्स मूलर कहते हैं, ''वर्तमान में भारत धर्म, अनुष्ठान, प्रथाएँ और कानून के मामले में वेद को छोड़कर किसी भी उच्चतर सत्ता को स्वीकार नहीं करता और जब तक भारत, भारत है, कोई भी वेदांतवाद की उस प्राचीन भावना को नहीं बुझा सकता, जिसे प्रत्येक हिन्दू अपनी युवावस्था से ही साँसों में समाया हुआ है और यह भावना विभिन्न रूपों में, यहाँ तक कि मूर्तिपूजकों की प्रार्थना में, दार्शनिक की कल्पनाओं और भिक्षुक की पुकारों में समाया हुआ है।''[10] हमें उसी को पुकारना है।

पीएचडी (शोधार्थी)
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

lUnHkZ lwph

1- श्यामाचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017 : 25
2. http://kavitakosh-org/ (15 सितम्बर को 14:34 पर देखा गया)
3. श्यामाचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017 : 44-45
4. https://hi-m-wikipedia-org/wiki/%E0%A4%A8%E0%A4%BE%E0%A4%B8%E0%A4%A6%E0%A5%80%E0%A4%AF_%E0%A4%B8%E0%A5%82%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4#:~:teÛt¾% (2 अक्टूबर, 2024 को 11:00AM पर देखा गया)
5. निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढलते वर्षों में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : 213
6. श्रीअरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी, 2017 : 78
7. अम्बिका दत्त शर्मा, भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण, सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तरप्रदेश, 2020 : 17-18
8. https://www-amarujala-com/amp/kavya/irshaad/ramdhari-singh-dinkar-hindi-kavita-parampara (4 अक्टूबर, 2024 को 13:29 पर देखा गया)
9. निर्मल वर्मा, शताब्दी के ढलते वर्षों में, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017 : 206-7
10. मैक्स मूलर, सुरेश मिश्र (अनु.), भारत हमें क्या सीखा सकता है, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2022 : 171

सहायक ग्रंथ

1. अरविन्द, श्री, भारतीय संस्कृति के आधार, श्रीअरविन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी, 2017
2. दुबे, श्यामाचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017
3. मूलर, मैक्स, सुरेश मिश्र (अनु.), भारत हमें क्या सीखा सकता है, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2022
4. वर्मा, निर्मल, शताब्दी के ढलते वर्षों में, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017
5. शर्मा, अम्बिका दत्त, भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण, सेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तरप्रदेश, 2020

ऑनलाइन संदर्भ

1. https://hi-m-wikipedia-org/wiki/%E0%A4%A8%E0%A4 %BE%E0%A4%B8%E0%A4%A6%E0 %A5%80%E0%A4%AF½%E0%A4%B8%E0%A5%82%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A4#:~:text¾% (2 अक्टूबर, 2024 को 11:00AM पर देखा गया)
2. http://kavitakosh-org/ (15 सितम्बर को 14:34 पर देखा गया)

सौम्या आर्या

रामायणकालीन दण्ड व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन

सार-संक्षेप :

सामान्यतः दण्ड व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है, जो समाज को सुचारू रूप से चलाने में सहायता करती है। यह व्यवस्था दण्ड का प्रयोग करने वाले तथा दण्ड पाने वाले दोनों पर समान रूप से लागू होती है। प्राचीन काल में दण्ड व्यवस्था का निर्धारण राजा करता था और अपराधी के कर्म के अनुसार दण्ड दिया जाता था। इसी व्यवस्था का अनुकरण करते हुए हमारे आज के वर्तमान समाज में भारतीय संविधान में नियम बनाए गए हैं। जिसका पालन करके सभी व्यवस्थाएं सही प्रकार से चल रही हैं।

बीज शब्द : स्मृति ग्रंथ, भारतीय संविधान, दण्ड व्यवस्था, नियम, प्राचीन संस्कृति, रामायण।

परिचय : दण्ड शब्द ''दण्ड् दण्डनिपाते'' धातु से बना है, जिससे इसका अर्थ दण्ड देना निकलता है। इसी धातु का दण्ड व्यवस्था के प्रयोग से दण्ड शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। दण्ड का शब्दिक अर्थ है 'डण्डा' अर्थात् 'छड़ी', जिससे किसी को पीटा अर्थात् सजा दी जाती है। दण्ड व्यवस्था की शुरुआत राज्यसंस्था के साथ हुई। महाभारत, शान्तिपर्व में भी यह कहा गया है कि-

न राज्यं न च राजासीत न दण्डो न च दाण्डिकः।
स्वयमेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥[1]

अर्थात् अच्छी स्थिति के कारण न कोइ राज्य था, न राजा, न दण्ड था, न दण्डी । सभी लोग केवल धर्म के अनुसार ही चलते थे और एक दूसरे की रक्षा करते थे। परन्तु समय के साथ-साथ तामसिक गुणों के प्राबल्य होने पर समाज और मनुष्य से सात्विक गुण गौण होने पर बलवान् कमजोरों को नीचा दिखाने लगे तथा दुर्व्यवहार बढ़ने लगा, जिसके कारण राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई और सबको सही रखने के लिए दण्ड व्यवस्था की शुरुआत हुई। जिसके कारण दण्ड को ही धर्म स्वीकार किया गया। दण्ड व्यवस्था के अंतर्गत नियम और कानून बनाए गए। जिसका पालन करके सर्वत्र शांति स्थापित हो सके। क्योंकि मानव का स्वभाव है कि वो जाने अंजाने में कोई ना कोई गलती कर देता है और वो गलती अपराध ना बन जाए उसके लिए दण्ड व्यवस्था का निर्धारण किया जाता है। दण्ड व्यवस्था प्राचीन काल हो या आज का आधुनिक काल दोनों के लिए ही पूर्ण विषय है।

रामायणम् = राम + आयणम् अर्थात् मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम चन्द्र के जीवन-यात्रा जिसे महर्षि वाल्मीकि जी के द्वारा रचा हुआ संस्कृत महाकाव्य है। जिसकी रचना त्रेता युग में की गई। जिसमें कुल 24,000 श्लोक तथा सात काण्ड अर्थात् अध्याय है। रामायण में चतुर्विध पुरुषार्थो धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का पूर्ण रूप से वर्णन मिलता है। इसके साथ-साथ सामान्य जन-जीवनों का, धार्मिक विचारों का, रीति-रिवाजों और मान्यताओं का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। उनके राजा श्रीराम स्वयं सोलह गुण से निपुण थे जैसे- गुणवान, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़व्रती, चरित्रवान्, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, धैर्यवान्, क्रोधजीत, कान्तियुक्त और अनसूयक। रामायण भारत के प्राचीन ग्रन्थ के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक विचारों और आदर्शों का एक आधार है। इसमें राजा श्री राम ने राक्षसों के राजा रावण को दण्ड देने

के लिए किए गए युद्ध पुनः उसमें विजय होने के बाद व्यस्थापित किए गए सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों और आदर्शों का वर्णन मिलता है। जहां न्याय, सत्य और मर्यादा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

जिस प्रकार दण्ड व्यवस्था का वर्णन हमारे आज के भारतीय संविधान में सबके अनुरूप है, उसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। इसी के साथ दूसरे स्मृति ग्रंथ जैसे याज्ञवल्क्य स्मृति और चाणक्य द्वार रचित अर्थशास्त्र में भी दण्ड व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि दण्ड व्यवस्था प्राचीन काल हो या आज का आधुनिक काल दोनों के लिए ही पूर्ण विषय के रूप में रखा गया है। प्राचीन काल की दण्ड व्यवस्था को और अच्छी तरह से जानने के लिए उसके स्रोतों को जानना बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार दण्ड व्यवस्था के स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया है। जिससे दण्ड व्यवस्था के विषय में जानकारी और भी अधिक हो जाती हैं-

• **साहित्य**- दण्ड व्यवस्था का वर्णन प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत विस्तार के साथ मिलता है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और अन्य धर्मशस्त्रों में भी दण्ड का वर्णन मिलता हैं। इसी के साथ रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी दण्ड व्यवस्था का वर्णन है, जो कि अभी के समाज में भी अनुकरणीय हैं। साहित्य में वर्णन मिलता है कि राजा को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त था किन्तु राजा को धर्म और न्याय का पालन करना आवश्यक था। साहित्य ग्रंथों के अनुसार दण्ड व्यवस्था और दण्ड का प्रयोजन अपराधी का सुधार और समाज में शांति बनाए रखना था।

• **विदेशी विवरण** - भारतीय साहित्य के सदृश विदेशी ग्रंथों तथा विदेशी चर्चाओं में भी दण्ड व्यवस्था का वर्णन मिलता हैं। ग्रंथों के अलावा विदेशी यात्रियों ने भी भारतीय न्याय प्रणाली और दण्ड व्यवस्था का वर्णन किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग और फाह्यान ने लिखा है कि प्राचीन भारत में अपराध दर काम थी क्योंकि दण्ड व्यवस्था बहुत कठोर थी। इनके अलावा मेगस्थनीज ने भी मौर्यकालीन न्याय व्यवस्था का वर्णन किया जहाँ उन्होंने बताया कि चोरी और हत्या जैसे कर्मों के लिए कठोर दण्ड व्यवस्था थी। विदेशी विवरणों से भी ये ज्ञात होता है कि भारतीय दण्ड व्यवस्था संगठित और प्रभावी थी।

• **पुरातत्त्व** - पुरातात्विक साक्ष्यों में मिले अभिलेख और शिलालेख दण्ड व्यवस्था की पुष्टि करते हैं। अशोक के शिलालेख में अहिंसा और न्याय का वर्णन मिलता है। सबसे प्राचीन सभ्यता हड़प्पा सभ्यता में भी नगर नियोजन और कानून व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी नियमों का पालन अनिवार्य था।

इनके अतिरिक्त भारतीय परंपरा में विवेचना की दृष्टि से सर्व प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ वेद है। जिनमें भी हमें दण्ड व्यवस्था के सिद्धांत देखने को मिलते हैं। जैसे- प्रथम पुस्तक ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि यदि कोई चोरी करता है तो उसके हाथ या पैर काट दिए जाए। जिससे ये अपराध कोई और न कर सके।

वेद के अनुसार दण्ड व्यवस्था- भारतीय परम्परा में विवेचन की दृष्टि से सर्व प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ वेद हैं। जिनमें भी हमें दण्ड व्यवस्था के सिद्धांत देखने को मिलते हैं। जैसे-ऋग्वेद में उद्धृत मन्त्र को देख सकते हैं।

सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वयसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।[2]

अर्थात् राजा सत्य और असत्य के विषय में सत्य को रक्षा करके तथा असत्य को दण्ड देकर न्याय करता है।

हन्ति रक्षो हन्त्यासद्घ्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते।[3]

अर्थात् जो अपने धर्म को अच्छे से पालन नहीं करता चाहे वो नारी हो या पुरुष या मन्त्री ही क्यों न हो सबको राजा उचित दण्ड दें।

तस्माद् राजा दण्ड्घ्य : यदेनं दण्डवधम् अतिनयन्ति।[4]

इससे हमे यह पता चलता चलता है कि दण्ड सबके मिलता है चाहे वे राजा ही क्यों न हो। राजा के लिए तो केवल मृत्युदण्ड का ही विधान है।

इसी के साथ ब्राह्मण ग्रंथों में भी उल्लेख है कि अगर कोई चोरी करता है तो उसको मृत्युदण्ड दिया जाए और अगर वो अपनी गलती स्वीकार कर ले तो उसको छोड़ दिया जाना चाहिए। इससे हमारे प्राचीन समाज में उदारता की झलक भी देखने को मिलती है।

महर्षि मनु के अनुसार दण्ड व्यवस्था : महर्षि मनु ने अपनी मनुस्मृति में दण्ड को ही राजा बताया है। राजा के लिए महर्षि ने धर्म चतुष्टय का वर्णन किया जो धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष है। राजा का कर्तव्य अपने राज्य का

विस्तार करना है, जिसका आधार उसकी शासन प्रणाली है। राज्य-व्यवस्था सही करने के लिए नियम और कानून बनाने पड़ते हैं। यही व्यवस्था दण्ड व्यवस्था कहलाती है। महर्षि मनु ने दण्ड व्यवस्था को बहुत जरूरी बताया है और उनका कहना है कि यदि दण्ड नहीं होगा तो समाज में आलस्य, बैमानी और असंतोष बढ़ जाएगा। सब लोग दण्डव्यवस्था के कारण ही अपने-अपने काम में लग जाते हैं-

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिः नरः।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगत् भोगाय कल्पते।।[5]

महर्षि मनु ने तीन प्रकार के दण्ड बताए हैं- शारीरिक, मानसिक और आत्मिक।

शारीरिक दण्ड - ये दण्ड सजा के रूप में दिया जाता है। इसमे अपराध करने वाले को अनुचित व्यवहार के लिए निर्दिष्ठ व्यवस्था के आधार पर सजा दी जाती है और ये सजा उसके अपराध के ऊपर निर्भर करती है।

मानसिक दण्ड- ये एक ऐसे प्रकार का दण्ड है जो मनुष्य गलत करने के बाद खुद ही अनुभव करता है। उसके लिए कोई नियम नहीं बनाना पड़ता फिर भी इसका प्रभाव हमें इंसान पर दिखाता है।

आत्मिक दण्ड- ये दण्ड वो है जिसका प्रभाव हमारी आत्मा पर पड़ता है और बाकी दोनों दंडों से कहीं ज्यादा दुखदायी होता है। ये दण्ड हमें अपराध बोध के रूप में महसूस होता है।

रामायण कालीन दण्ड व्यवस्था : यदि बात करें रामायण कालीन दण्ड व्यवस्था की तो रामायण काल में राजतन्त्र होने से उस राज्य का मुख्य व्यक्ति राजा ही होता था। जो वैदिक काल के शासन व्यवस्था के सदृश लगता है। रामायाण में दण्ड के प्रति अत्यन्त सचेत रहने के लिए राजा को निर्देश है। राजा स्वयं ही दण्डधारी है और यदि अपराधी को राजा दण्ड ना दे स्वयं वह उस पाप के भागीदारी होता है और यदि अपराधी को दण्ड देता है तो वह स्वर्गाधिकारी बताया गया है। राजा दण्ड देने में स्वेच्छाधारी न होने के लिए निर्देश किया गया है। जीवन धर्म, जीवन सम्पत्ति और राज्य के रक्षा के लिए रामायण में दण्ड की आवश्यकता कही गयी है। रामायण कालीन शासन धर्म पर ही आधारित था। धर्म के विरुद्ध जाने वाले को तथा मर्यादा तोड़ने वाले को यथा विधि दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति परम शत्रु भी हो परन्तु निरापराधी हो तो दण्ड नहीं दिया जाता था। जैसे- रावण वध के बाद किसी भी राक्षस का वध नही किया गया था। रामायणकालीन दण्ड व्यवस्था में पक्षपात नहीं होता था। किसी के भी दण्डित करने में संकोच नहीं किया जाता था। दण्ड व्यवस्था में स्त्री के अवध्य जानते हुए अपराध करने पर कठोर दण्ड देने का विधान था। ''यत्र नारी पूज्यन्ते तत्र रमन्ते देवता:'' का साक्षात्कार हम रामायण में कर सकते हैं। सबके द्वारा स्त्री का सम्मान किया जाता था। अपराधी चाहे पुत्र हो, माता हो, पत्नी हो, मन्त्री हो या प्रजा। रामायण के अनुसार राजा ही दण्डधर था जो दण्डविधान में स्वेच्छाचारी न था। जो सदाचार से भ्रष्ट, स्वेच्छाचारीत्या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति को अपराधी माना जाता था। रामायण में निम्नलिखित अपराधों का सविस्तार बताया गया है। जैसे-

- धर्मय मर्यादा और लोकाचार का उल्लंघन करना।
- राज्य एवं राजा से द्रोह करना।
- दूसरों के चीजों को अपहरण करना।
- गाय को चोट देना, गोहत्या, तथा ब्रह्म हत्या तथा अन्य मनुष्य या जीव की हत्या करना।
- विश्वासघात करना।
- व्यभिचार करना।
- युद्ध से भाग जाना।
- माँस, मदिरा के सेवन तथा बिक्री करना।

इसके अतिरिक्त झूठ बोलना, चुगली करना, क्रूरता करना, अधर्म करना अपराध कोटि में आते थे।

रामायण में विभिन्न प्रकार के दंडों का उल्लेख किया गया है, जिनमें धिक् दण्ड, वाक् दण्ड, अर्थ दण्ड और वध दण्ड प्रमुख है। ये दण्ड अलग-अलग अपराधों और परिस्थितियों के अनुसार दिए जाते हैं। इन्हें रामायण के संदर्भ में उद्धरणों सहित समझते हैं-

- धिक् दण्ड (निंदा दण्ड)- यह दण्ड समाज या बड़े व्यक्तियों द्वारा अपराधी को लज्जित, निंदा या अपमान के रूप में दिया जाता है। जैसे-जब कैकेयी ने राजा दशरथ से राम के वनवास और भरत के राज्याभिषेक की मांग की, तब लक्ष्मण ने क्रोधित होकर कैकेयी को धिक्कारते हुए कहा-

''धिक् त्वामधर्मनिर्तिष्ठे कुलस्यास्य विनाशिनी।''[6]

अर्थ : अधर्मी! तुझे धिक्कार है, तू इस कुल का नाश करने वाली है। यहां लक्ष्मण कैकेयी को धिक्कार कर धिक् दण्ड दे रहे हैं।

• वाक् दण्ड (शाब्दिक दण्ड)- यह दण्ड कठोर वचनों के रूप में दिया जाता है, जिसमें अपराधी को कठोर वचनों से तिरस्कृत किया जाता है। जैसे- रावण सीता का अपहरण करके लंका ले गया और उसे अपने महल में रखने लगा, तब सीता ने क्रोधित होकर रावण को वचन-बाणों से दंडित किया-

''संपृक्तः पापकर्माणि रक्षसां भावदुर्गतः।
न त्वं रामस्य सदृशो रावणाधम दूरतः॥''[7]

अर्थ : पापकर्मों में लिप्त और पतित राक्षस! तू श्रीराम के समान बनने योग्य नहीं, ओ नीच रावण! यहां सीता अपने कठोर शब्दों से वाक् दण्ड दे रही है।

• अर्थ दण्ड (आर्थिक दण्ड) - यह दण्ड आर्थिक हानि के रूप में दिया जाता है, जैसे धन या संपत्ति की हानि। जैसे- जब राम ने समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना की, लेकिन समुद्र ने कोई उत्तर नहीं दिया, तब राम ने क्रोधित होकर अग्निबाण चलाने का संकल्प लिया। भयभीत समुद्र प्रकट होकर बोला–

''अर्थदण्डं मया प्राप्ता दोषेणैवात्मनः कृतः।''[8]

अर्थ : मैं अपने अपराध के कारण आर्थिक दण्ड का अधिकारी बन गया हूँ। यहां समुद्र को जल में रहने वाले जीवों की हानि (आर्थिक रूप से) होने का भय था, जो अर्थ दण्ड का उदाहरण है।

• वध दण्ड (मृत्यु दण्ड) - यह दण्ड अपराधी के प्राण लेने के रूप में दिया जाता है। जैसे- जब श्रीराम ने रावण का वध करने के लिए अंतिम बाण चलाया, तब उन्होंने कहा–

''अद्य त्वां संप्रमथ्यामि युधि दुष्टां निशाचर।''[9]

आज मैं युद्ध में तुझे समाप्त कर दूँगा, ओ दुष्ट निशाचर! यह रावण को दिए गए वध दण्ड का स्पष्ट उदाहरण है।

रामायण में अनेक दण्ड का उल्लेख है जैसे- जेल या बन्धन, देश निकाला, अङ्गभङ्ग करना, शरीर के अङ्गों को काटना, अग्निदाह करना, यातनायें देना आदि।

रामायण कालीन समय में, धर्म, वेद, शास्त्र और नीति नियम ही संविधान था। रामायण के अनुसार राजा, ब्राह्मण, मन्त्रियों, अमात्यों तथा अन्य अधिकारियों से ही राज्य संचालित था। ऋषिगण भी उस समय मुख्य भूमिका निर्वाह करते थे। धर्मानुसार एवं शास्त्रानुसार दण्ड व्यवस्था के कारण सब सुखी थे। प्रजा सुख, समृद्धि सन्तोष प्रसन्नता में रहकर राजभक्ति किया करते थे।

दण्ड व्यवस्था का प्रयोजन-किस कारण दण्ड व्यवस्था बनाई गई थी, दण्ड व्यवस्था के सिद्धांत क्या थे? जिन सिद्धांतों का अनुकरण आज तक हो रहा है, वे प्राचीन दण्ड व्यवस्था के आधार पर दण्ड सिद्धांत पांच प्रकार के हैं-

- प्रतिशोधात्मक सिद्धांत (Retributive Theory)
- प्रतिरोधात्मक सिद्धांत (Deterrent Theory)
- निरोधात्मक सिद्धांत (Preventive Theory)
- सुधारात्मक सिद्धांत (Reformative Theory)
- आदर्शात्मक सिद्धांत (Idealistic Theory)

• **प्रतिशोधात्मक सिद्धांत (Retributive Theory)**- प्रतिशोध अर्थात् बदला। ये सिद्धांत बदले की भावना पर निर्भर करती है। जिसमें एक व्यक्ति दूसरे को बदले की भावना में दण्ड देता है।

प्रतिरोधात्मक सिद्धांत (Deterrent Theory) - प्रतिरोध अर्थात् रोकना। इसके अंतर्गत ऐसा दण्ड सिद्धांत आता है, जिसमें अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता है, जिस से वो दोबारा वो अपराध ना करे और दूसरे के लिए भी वो उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हो सके। जिससे दूसरे भी गलत काम से बचे।

निरोधात्मक सिद्धांत (Preventive Theory) - निरोधात्मक सिद्धांत में अपराधी को पूर्ण रूप से अपराध से रोका जाता है। जिसके लिए उसे जेल में डाल दिया जाता है जिससे आपराधिक अपराध से पूर्ण रूप से दूर रखा जाता है।

सुधारात्मक सिद्धांत (Reformative Theory) - इस प्रकार के दण्ड सिद्धांत में अपराधी को इस प्रकार का दण्ड दिया जाता है, जिससे वो सुधर सके। जैसे-हमसे बहुत अधिक मेहनत कराई जाती है, जिसे वो दोबारा कोई अपराध ना करें। और अगर कभी सोचे भी तो इस कड़ी मेहनत को देखकर डर जाए।

आदर्शात्मक सिद्धांत (Idealistic Theory)- इस सिद्धांत में आपराधिक व्यक्ति को नैतिक बनाने का प्रयास

किया जाता है। जिस से समाज में शांति और न्याय की स्थापना हो सके। इन सिद्धांतों के द्वार पता चलता है कि हमारी प्राचीन दण्ड व्यवस्था के सिद्धांत सिर्फ दण्ड तक ही सीमित नहीं हैं, परंतु वो इन सिद्धांतों का निर्माण ही राष्ट्रकल्याण के लिए करते हैं।

आधुनिक दण्ड व्यवस्था - आज के भारतीय समाज में कोई भी विधान भारतीय संविधान (Constitution of India) के अनुरूप होता है। ये भारत का सर्वोच्च कानून माना जाता है। ये हमें लिखित रूप में प्राप्त होता है। जिस में दण्ड व्यवस्था के विषय में भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) प्राप्त होती है। इसमें 511 धारा हैं जो 23 अध्यायों में विभाजित है। जिसमें से 1860 की 53 में दण्ड 5 प्रकार के बताये हैं।

- मृत्युदण्ड
- आजीवन कारावास
- कारावास
- संपत्ति की बरामदगी
- जुर्माना

मृत्युदण्ड - अपराधी के लिए ये सबसे बड़ी सजा होती है। इसमे अपराधी को फांसी पर लटकाया जाता है। ये सजा बहुत ही कम लोगों को मिलती है। लेकिन फिर भी सुप्रीम कोर्ट और इसको वैध कानून घोषित किया है।

आजीवन कारावास - इस दण्ड व्यवस्था में अपराधी को अपना पूरा जीवन जेल में बिताना पड़ता है। IPC की धारा 57 के अनुसार आजीवन कारावास सिर्फ 20 साल का है। ये दण्ड कभी भी सरल नहीं होता है। इसमें पूरा जीवन एक जेल में बिताना बहुत मुश्किल होता है। इसमें अपराधी को दण्ड अनुसार काम करना पड़ता है।

कारावास - ये दण्डव्यवस्था मनुष्य की स्वतंत्रता को खत्म कर देती है क्योंकि उसे निर्धारित समय तक जेल में रहना होता है। जेल (कारावास) भी दो प्रकार की होती है। कठिन और सरल।

कठिन- इसमें कैदी से कठिन परिश्रम कराया जाता है। जैसी लकड़ी काटना, खुदाई करना, आटा पीसना, साफ सफाई आदि।

सरल-ये सरल कारावास इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अपराधी को बिना कोई काम कराए जेल में रखा जाता है।

संपत्ति की बरामदगी - ये दण्ड व्यवस्था भारतीय संविधान में धारा 126 और 127 के अंदर आती है। जिस में अपराधी की संपत्ति दण्ड के रूप में सरकार उससे छीन लेती है। इसी के अंदर अच्छा भी आता है।

जुर्माना - ये दण्डधारा 64 के अनुसार हैं। इसमें अदालत के अनुसर अपराध के संदर्भ में आर्थिक दण्ड चुकाना पड़ता है। जिसे जुर्माना भी कहते हैं। अगर वो इंसान जुर्माना नहीं देता है तो अदालत की ओर से ये अधिकार पुलिस वालों के पास होता हैं कि वो उस इंसान को जेल में डाल सकती है।

दण्ड व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन

तत्व	रामायणकालीन व्यवस्था	आधुनिक व्यवस्था
न्यायाधीश	राजा एवं ऋषिगण	न्यायालय
शासन प्रणाली	नीति प्रधान राजतन्त्र	विधि प्रधान लोकतन्त्र
न्याय प्रक्रिया	धर्म एवं नीतिपूर्ण	संविधान एवं कानून
दण्ड	कठोर एवं तत्कालिक दण्ड	कानूनी दण्ड
नारी के अधिकार	सम्मान	समानता एवं कानूनी सुरक्षा
प्रजा	राजभक्त और कर्तव्यनिष्ठ	लोकतन्त्र एवं अधिकार

निष्कर्ष - 'रामायणकालीन दण्ड व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन' विषय का समग्र अध्ययन करके निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आज की दण्ड व्यवस्था की अपेक्षा प्राचीन दण्ड व्यवस्था ज्यादा अच्छी थी। आज अलग-अलग गलती के लिए अलग-अलग धारा है लेकिन उतनी कठिन नहीं जितनी कि पहले हुआ करती थी। जो दण्ड व्यवस्था प्राचीन काल की थी उसकी सुनवाई सिर्फ राजा के यहां होती थी, इसलिए वहां कभी अन्याय नहीं होता था। लेकिन आज राजव्यवस्था नहीं है इसलिए लोग रिश्वत लेकर अपने आप को बचा लेते हैं। प्राचीन काल में आज की तरह आजीवन कारावास का अर्थ मृत्युपर्यंत होता है और आज की दण्ड व्यवस्था के अंतर्गत यदि किसी को आजीवन कारावास मिलता है तो उसका अर्थ केवल 20

वर्ष होता है। अर्थात आजीवन कारावास मिलने पर भी वो बीस साल बाद बाहर आ जाएगा। प्राचीन दण्ड व्यवस्था बहुत कठिन थी इसलिए सब गलत काम करने से डर लगता था लेकिन अब तो कोई यहां पर मृत्युदण्ड से भी नहीं डरता क्योंकि उसे पता होता है कि वो बच जाएगा। अध्ययन से यह भी पता चला कि जितने प्रकार के दण्ड और नियम आज के समाज में हैं उतने प्राचीन समय में नहीं थे, इसलिए नियम के निर्माण के स्थान पर उन्हें ही सख्ती से लागू करना जरूरी है।

शोध छात्रा, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत
स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तरप्रदेश, नोएडा

---

lUnHkZ lwph

1- महाभारत, शान्तिपर्व
2. ऋग्, 7/104/12
3. ऋग्, 7/104/13
4. शतपथ.
5. मनुस्मृति 7.22
6. अयोध्याकांड 19.31
7. सुंदरकांड 21.20
8. युद्धकांड 22.26
9. युद्धकांड 108.15

सहायक सूची

1. गैरोला वाचस्पति; कोटिल्यम अर्थशास्त्र; चौखम्भा विद्याभवन; वाराणसी
2. झा शशिनाथ; याज्ञवल्क्य स्मृति; भारतीय पुस्तक निगम प्रकाशन
3. तिवारी श्यामलेश कुमार; कौटिल्य अर्थशास्त्रम; चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
4. शास्त्री राकेश; मनुस्मृति; चौखम्भा विद्याभवन; वाराणसी
5. भारत का संविधान; भारत सरकार विधि और न्याय मंत्रालय विधि विभाग
6. शास्त्री राकेश; मनुस्मृति; विद्यानिधि

शोध-पत्र

संगणकीय भाषाविज्ञान और अष्टाध्यायी का तुलनात्मक अध्ययन

नंदिनी खटाना

सार संक्षेप : यह शोध पाणिनीय अष्टाध्यायी और संगणकीय भाषाविज्ञान (Computational Linguistics) के बीच संबंध को समझने का प्रयास करता है। संस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यधिक संगठित और तार्किक है, जिससे यह कंप्यूटर विज्ञान, विशेष रूप से कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) और प्राकृतिक भाषा संसाधन (NLP) के लिए उपयोगी हो सकता है। पाणिनि द्वारा निर्मित अष्टाध्यायी को पहला भाषा वैज्ञानिक ग्रंथ माना जाता है, जिसमें संक्षिप्त और प्रभावी नियम दिए गए हैं, जो एल्गोरिदम (Algorithm) की तरह कार्य करते हैं। इस शोध में संस्कृत भाषा के व्याकरणीय संरचना और प्रोग्रामिंग संरचना की तुलना की गई है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत के व्याकरण नियम कंप्यूटर प्रोग्रामिंग में उपयोग किए जा सकते हैं। शोध में संस्कृत पार्सर (Parser) और अन्य कम्प्यूटेशनल उपकरणों का अध्ययन किया गया है, जो संस्कृत के वाक्यों को तोड़कर उनके सही अर्थ को समझने में मदद करते हैं। अष्टाध्यायी की संरचना और नियमों का कंप्यूटर पर कैसे उपयोग किया जा सकता है, इस पर भी चर्चा की गई है। शोध यह बताता है कि संस्कृत के व्याकरणीय सिद्धांतों को मशीन लर्निंग, डेटा प्रोसेसिंग और भाषा अनुवाद में इस्तेमाल किया जा सकता है। इससे संस्कृत को डिजिटल दुनिया में अधिक सुलभ बनाया जा सकता है और नई तकनीकों के माध्यम से इसे संरक्षित और विकसित किया जा सकता है।

बीज शब्द : संस्कृत संगणकीय भाषाविज्ञान, पाणिनीय अष्टाध्यायी, प्राकृतिक भाषा संसाधन (NLP), संस्कृत पार्सर और एल्गोरिदम, मशीन लर्निंग और संस्कृत।

परिचय-संगणकीय विज्ञान- आधुनिकता की ओर अग्रसर इस समाज में तथा उन्नति में मानवीय परिश्रम के साथ-साथ संगणकीय विज्ञान (computer science), Artificial Intelligence और तकनीकी साधनों का बहुत बड़ा योगदान है। संगणकीय विज्ञान, कंप्यूटर और कम्प्यूटेशनल सिस्टम का अध्ययन है। ये एक बहुत व्यापक क्षेत्र है, जो बहुत सी शाखाओं में विभाजित है, जैसे AI, Software Engineering, Computer Networks, Computer Graphics and visualization, Human computer interaction, Cryptography इत्यादि. इनमें Programming, Software theory, Security, कंप्यूटर केहार्डवेयर, सॉफ्टवेयर के निर्माण से लेकर, उनके क्रियान्वयन की प्रक्रिया और मनुष्य-कंप्यूटर के वार्तालाप तक की बातों का अध्ययन किया जाता है। इसकी एक महत्वपूर्ण शाखा है-AI (Artificial intelligence) अर्थात् कृत्रिम बुद्धिमत्ता जिसका मुख्य उद्देश्य है, ऐसी मशीन बनाना जो मानव बुद्धि की तरह काम करे, इंसानों की तरह सोचे, और उन कार्यों को करे, जिनके लिए मानव मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, जैसे समस्या समाधान या निर्णय लेना। ये भी अन्य उप-शाखाओं में विभाजित है, जैसे Computer vision, Fuzzy logic, Expert systems, Robotics, Machine learnings, Computational linguistics इत्यादि।

भाषाविज्ञान-भाषा की उत्पत्ति, स्वरूप तथा विकास का वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना।

संगणकीय भाषाविज्ञान - कंप्यूटर किस प्रकार कार्य करेगा, मानवीय भाषा जैसे अंग्रेजी, संस्कृत इत्यादि को किस प्रकार समझ कर उत्पन्न करेगा। ये एक ऐसी

प्रक्रिया है, जिसमें भाषाविज्ञान, संगणकीय विज्ञान तथा गणित के माध्यम से कंप्यूटर को कुछ इस प्रकार से शिक्षित किया जाता है, जिससे वह मानवीय भाषाओं को समझ सके और उसे सीख कर, उत्पन्न कर सके।

अष्टाध्यायी–महर्षि पाणिनि जो संस्कृत भाषा के सबसे बड़े वैयाकरण थे, जिनका स्थान व्याकरण के त्रिमुनी में सर्वोपरि है (पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि). इनकी व्याकरण की सर्वश्रेष्ठ रचना 'अष्टाध्यायी' है, जिसमे लगभग 4000 सूत्र तथा आठ अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, इस प्रकार कुल बत्तीस पाद हैं।

भाषाविद महर्षि पाणिनि - इन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन भाषावैज्ञानिक माना जाता है, इनकी अष्टाध्यायी में सूत्रों की व्यवस्था इनके महान भाषावैज्ञानिक होने का प्रमाण है तथा इनकी योग्यता अन्य भाषावैज्ञानिकों के लिए आदर्शभूत है। पाणिनीय व्याकरण को संगणकीय भाषाविज्ञान के लिए सबसे उपयोगी बताया जाता है, क्योंकि ये परिभाषाओं एवं नियमों पर आधारित है, एल्गोरिथम अर्थात् निर्देशों का समूह है, जिसके मध्यम से कंप्यूटर अनंत शब्दों को सीख सके एवं वाक्यों की उत्पत्ति कर सके. अष्टाध्यायी की संरचना के आधार पर संगणकीय उपकरण बनाना अथवा विकसित करना सरल है।

कंप्यूटर पार्सर - यह एक कंप्यूटर प्रोग्राम अथवा टूल है, जो किसी अनुच्छेद अथवा वाक्य को छोटे भागों में विभक्त करके, उसके अर्थ को समझने का प्रयास करता है। यह एक प्रकार का डिकोडर है, जो कंप्यूटर को मानवीय भाषा समझने में सहायता करता है।

यह कुछ इस प्रकार काम करता है –

- वाक्य अथवा अनुच्छेद को ग्रहण करता है।
- उसको वाक्यांश अथवा शब्दों में विभक्त करता है।
- उनके बीच सम्बन्ध का पता लगता है। (कर्ता, कर्म तथा क्रिया का भी पता लगता है।)
- उस प्रकार की संरचना अथवा प्रारूप तैयार करता है, जिसे कंप्यूटर आसानी से समझ सके।

यह भाषाई अनुवाद का एक महत्वपूर्ण कदम है, इसी के माध्यम से कंप्यूटर वाक्य का भावात्मक विश्लेषण करने में समर्थ हो पाता है।

संस्कृत भाषा के लिए कुछ महत्वपूर्ण पार्सर –

- Sanskrit parser (python library)
- Sanskrit lib (java library)
- Ashtadhyayi parser (python library)
- Sanskrit analyzer (python library)

इन पार्सर यंत्रों का निर्माण संस्कृत भाषा के व्याकरण और वाक्य-विन्यास को दृष्टि में रखते हुए किया गया है, इनमें संधि और समास का विशेष ध्यान रखा गया है।

पार्सर :

- संस्कृत पारसर (पाइथन लाइब्रेरी)–यह एक ऐसी लाइब्रेरी है, जो पाइथन आधारित है, इसमें वाक्य संरचना का विश्लेषण किया जाता है।
- स्पेसी संस्कृत पार्सर- वाक्य संरचना posटैगिंग और डिपेंडेंसी पासिंग के लिए प्रयुक्त होता है।
- Anusyntax (जावा)–वाक्यांशों का विश्लेषण मुख्य रूप से महर्षि पाणिनि के व्याकरण के नियमों के आधार पर विश्लेषण।
- अष्टाध्याई पार्सर - व्याकरण के नियमों के आधार पर मुख्य रूप से शास्त्र और वेदों का विश्लेषण।
- Sanskrit word net- संस्कृत के शब्द और समानार्थक शब्दों के आधार पर विश्लेषण करना।
- संस्कृत एनालाइजर -वाक्य के तत्वों जैसे शब्द, विभक्ति, काल क्रिया आदि का विश्लेषण।

हर पारसर में कुछ मुख्य कार्य होते हैं जैसे ये posटैगिंग, sdp,namedemity recognition इत्यादि।

* संस्कृत डिपेंडेंसी पर्सर (sdp)–कौन सा शब्द किस से संबंधित है शब्दों के बीच वव्याकरणिक विश्लेषण ex- पढ़ी - मुख्य क्रिया, राम- करता,

ने - सहायक क्रिया, किताब - कर्म

*Sanskrit POS टैगर- संज्ञा विश्लेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न करना। जैसे राम ये संज्ञा है, ने- क्रिया, किताब-संज्ञा, पढ़ी-क्रिया।

* Lemma identification - lemma अर्थात् verb का मूल रूप

साहित्य सर्वेक्षण-

गोखले ने अपने शोध पत्र 'A survey on the ongoing and future research in Sanskrit Computational Linguistics' मेंSCL (Sanskrit computational linguistics) को एक अंतर्विषयी क्षेत्र बताया है, अर्थात् ये ऐसा क्षेत्र है, जिसमें दो या दो से अधिक विषयों का अध्ययन किया जाता है, जिससे हम न केवल एक विषय का गम्भीर अध्ययन करें, अपितु दो विषयों के अध्ययन से हम एक

नया scope बना सकें। जैसा कि सर्वविदित है ही, कि सीओ, कंप्यूटर प्रोग्रामिंग का pattern और अष्टाध्यायी के सूत्रों की संरचना काफी हद तक समान हैं। इसके दो फायदे हैं-

पहला- कि जो algorithms पहले से बनी हुई हैं, उनके आधार पर digitalised Sanskrit corpus का computational analysis करना।

दूसरा - संस्कृत व्याकरण से कुछ ऐसी संरचना ढूँढना, जिनके आधार पर, नए algorithms का निर्माण हो सके। इन्होंने अपने शोध पत्र में ये भी बताया कि वर्तमान के इस क्षेत्र में क्या-क्या काम चल रहा है, भविष्य में इसका क्या scope है, और किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है।

प्रचलित कार्य-

• Data संबंधित कार्य

• संरचना आधारित कार्य

• machine translation

• Meta language (ध्वन्यात्मक सिद्धान्त, वाक्य विन्यास)

• Tagging

• parsing

• पाण्डुलिपियों को digitalise करना

Latest-

• web service के माध्यम से संस्कृत भाषा लोगों तक पहुंचाना।

• संस्कृत के लिखित भाग को समझने के लिए OCR तकनीक। (optical character Recognition) इस तकनीक में, मशीन किसी भी लिखित पाठ को या अक्षरों की पहचान कर, उसे digitalise करने का प्रायस करती है।

• संधि, समास और शब्दरूप पहचन लिए विभिन्न उपकरण निर्माण।

Future projection-

जो विभिन्न प्रकार के tools का निर्माण हो रहा है, वो शीघ्र ही सामान्य लोगों को उपलब्ध होंगी, ताकि वो भी आसानी से अनुवाद और किसी भी text का अर्थ कर सकें। संस्कृत के क्षेत्र में बहुत बड़ा corpus है, अगर वो कंप्यूटर को दिया जाता है तो बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और फिर Computer उस text के आधार पर, आगे चलकर स्वयं भी अपने आप को update कर सकता है। इस क्षेत्र में कई संभावनाएँ हैं और संस्कृत में भावनात्मक विश्लेषण के लिए भी उपकरण विकसित किया जा सकता है। SCL विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित है, जैसे Algorithms, Al, Programming language, Social science, cognitivescience etc.

श्याम प्रकाश (1991) ने अपने शोध पत्र 'Paninian methods of linguistic analysis' में बताया है कि महर्षि पाणिनि की व्याकरणिक पद्धति भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। उनकी रचना अष्टाध्यायी संस्कृत भाषा का एक संपूर्ण और वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत करती है, जो लगभग 4000 संक्षिप्त सूत्रों में संकलित है। पाणिनि की विश्लेषणात्मक शैली गणितीय संरचना की तरह संगठित है, जिसमें प्रत्येक नियम अत्यंत संक्षेप और सटीक रूप में रखा गया है। लियोनार्ड ब्लूमफील्ड जैसे आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भी इसे संस्कृत का एकमात्र पूर्ण विवरण बताया है, जो इंडो-यूरोपीय भाषाओं के लिए एक मानक स्रोत के रूप में कार्य करता है। पाणिनि के व्याकरण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसका आधार तत्कालीन जीवंत भाषा थी। उन्होंने अपने व्याकरण को केवल एक भाषा शिक्षण की पद्धति के रूप में नहीं, बल्कि भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें ध्वनिविज्ञान (Phonology), रूपविज्ञान (Morphology), वाक्यविज्ञान (Syntax) और अर्थविज्ञान (Semantics) का समावेश किया गया है। उन्होंने ध्वनि-परिवर्तन (Sound Alternation), संधि प्रक्रिया (Sandhi), शब्द निर्माण और वाक्य संरचना की गहन व्याख्या की है। उनकी व्याकरणिक प्रणाली में स्वर-विस्तार (Guna और Vrddhi) और संप्रसारण (Samprasarana) जैसी ध्वन्यात्मक प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं, जो आधुनिक भाषाविज्ञान में भी महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। पाणिनि ने भाषा को इकाइयों में विभाजित करने की प्रवृत्ति अपनाई, जिसमें वर्ण, शब्द और वाक्य तीनों स्तरों पर विश्लेषण किया गया। उन्होंने वर्ण-समामन्य की अवधारणा प्रस्तुत की, जो ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार, भाषा की मूल इकाई वाक्य है, न कि शब्द, क्योंकि शब्द केवल वाक्य में ही अपना पूर्ण अर्थ व्यक्त कर सकते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक भाषाशास्त्र के कई सिद्धांतों से मेल खाता है। उन्होंने संहिता और पदपाठ की व्याख्या की, जिसमें संहिता को भाषा की स्वाभाविक संरचना और

पदपाठ को विश्लेषण की पद्धति माना गया। संहिता में शब्दों का संयोग और संधि होती है, जबकि पदपाठ में प्रत्येक शब्द को पृथक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पाणिनि की व्याकरणिक प्रणाली में 'अन्वाख्यान' या व्याकरणिक व्याख्या एक महत्वपूर्ण पहलू है, जो वाक्य स्तर और शब्द स्तर पर की जाती है। इसे क्रमशः वाक्यविज्ञान (Syntax) और रूपविज्ञान (Morphology) कहा जाता है। पाणिनि का मानना था कि पहले वाक्य को समझा जाता है और फिर शब्दों को, इसलिए उनकी दृष्टि वाक्य-केंद्रित थी। उनके सूत्रों में सरल, संयुक्त और मिश्रित वाक्यों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जो उस समय की संस्कृत वाक्य संरचना को दर्शाते हैं।

अष्टाध्यायी का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है, और इस पर गहन शोध कार्य हुआ है। पाणिनि की पद्धति को आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भी अपनाया है और उनके विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को वैज्ञानिक स्तर पर मान्यता दी गई है। उनका व्याकरण भाषा अध्ययन की एक अमूल्य निधि है, जो केवल संस्कृत ही नहीं, बल्कि अन्य भाषाओं के अध्ययन के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

Ostler-N (2001) ने अपने शोध पत्र 'Sanskrit Studies as a foundation for computational linguistics' में बताया है - A sacred language -

संस्कृत को सब जगह हिंदू धर्म की सबसे पवित्र भाषा के रूप में माना जाता है, जिस कारण उसके भाषाई अध्ययन पर बहुत लंबे समय तक कार्य चलता रहा। पवित्र होने के कारण ही इसे अध्ययन का केंद्र बनाए रखने में सहायता मिली, इसका अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोण से किया गया है, जिस कारण यह हर दृष्टिकोण से समृद्ध है। भाषाई अध्ययन हो चाहे व्याकरणिक अध्ययन। न केवल ये अध्ययन तक सीमित है, अपितु कंप्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स से कैसे जुड़ा है, इसका अध्ययन भी किया गया है। यह संस्कृत भाषा के लिए सबसे उपयुक्त है, क्योंकि कुछ साधन, टूल्स या संरचना के आधार पर हम CL में और भी काम कर सकते हैं, इसकी पवित्रता ने ही इस स्तर तक पहुंचाया है। ये भाषा पवित्रता के कारण अध्ययन का केंद्र बनी रही, जिस कारण इसका विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया गया और हम यह जान पाए की संस्कृत भाषा computational lingusistics के लिए उपयुक्त है।

Anti-Buisness- भाषाई अध्ययन का उद्देश्य कभी भी धन सृजन नहीं था, हालांकि वे धन सृजन कला से कभी भी अपरिचित नहीं थे, पर भाषाई अध्ययन को हमेशा से ही आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक सहायक के रूप में देखा गया है।

Anti-writing- प्राचीन भारत में बहुत से विद्वानों का मत था कि वेद या अन्य किसी भी ग्रंथ को लिखित रूप में संचित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि उनका मानना था कि अगर ज्ञान को लिख दिया जाएगा, तो लोगों की बुद्धि का ह्रास होने लगेगा और बुद्धि पुष्ट होने की जगह सुस्त हो जाएगी।

'पुस्तकस्थ तु या विद्या, परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समायाते न सा विद्या न तद् धनम्॥'

पुस्तक में स्थित विद्या और दूसरे के हाथ में गया धन, जब आवश्यकता पड़ती है, तब न वह विद्या काम आती है, न ही वह धन। ज्ञान को मौखिक रूप से रखना सर्वोत्तम माना जाता था, पर बाद में इसका लेखन कार्य धीरे-धीरे शुरू हो गया, (प्रशासनिक कार्यों के लिए)। उन लोगों की बहुत निंदा होती थी, जो ज्ञान का संग्रह लिखित रूप में करते थे, पर समय के साथ-साथ ज्ञान को संग्रहित करने के लिए लेखन प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ने लगी।

The Sanskrit Corpus- संस्कृत में एक बहुत बड़ा corpus है, जिसमें ऋग्वेद प्रमुख है। इसके व्याकरण और लिपि दोनों पर व्यापक शोध हुआ है। यह संस्कृत ज्ञान का केंद्र है, जहां सभी विचारों को संकलित किया गया है। संस्कृत साहित्य में संरचित और व्यवस्थित रूप में ज्ञान को संरक्षित किया गया है, जिससे यह भाषा एक समृद्ध परंपरा को दर्शाती है।

Sanskrit - Writing- संस्कृत लेखन की एक लंबी परंपरा रही है, और इसे कई लिपियों में लिखा गया ताकि इसे आसानी से समझा जा सके। लेखन प्रक्रिया में संरचना का विशेष ध्यान रखा जाता था, जिससे भाषा की स्पष्टता बनी रहती थी। संस्कृत लेखन की पद्धति पहले से ही निर्धारित रही है और यह परंपरा क्रमिक रूप से विकसित होती रही है। ज्ञान संकलन की यह प्रक्रिया साहित्यिक धारा के माध्यम से आगे बढ़ती गई, जिससे यह एक समृद्ध परंपरा का विकास करती रही।

Programming in Sanskrit- संस्कृत भाषा की व्याकरणिक संरचना और आधुनिक प्रोग्रामिंग

(Programming) की संरचना में कई समानताएँ देखी जा सकती हैं। महर्षि पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी की सूत्र प्रणाली में नियमों का एक सुव्यवस्थित और संरचित रूप दिया गया है, जो कंप्यूटर प्रोग्रामिंग की संरचना से मेल खाता है। इसमें Basic नियमों की प्रणाली है, जहाँ छोटे-छोटे नियम मिलकर एक बड़े और जटिल सिस्टम का निर्माण करते हैं।

Lexicon - Thesaurus (शब्दकोश एवं पर्यायवाची शब्द)- संस्कृत में शब्दों का संग्रह बहुत ही व्यवस्थित और समृद्ध रूप में उपलब्ध है। संस्कृत के शब्दकोश (Lexicon) और थिसॉरस (Thesaurus) में न केवल समानार्थक शब्दों (Synonyms) का विस्तृत भंडार है, बल्कि प्रत्येक शब्द के विभिन्न संदर्भों में प्रयोग और उनकी उपयुक्तता का भी गहराई से अध्ययन किया गया है। संस्कृत के इन शब्दकोशों का अध्ययन प्राकृतिक भाषा संसाधन (Natural Language Processing - NLP) और कंप्यूटर लिंग्विस्टिक्स के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

Phonology (ध्वनिविज्ञान)- संस्कृत में ध्वनियों (Phonemes) का अध्ययन अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। उच्चारण की शुद्धता, स्वर और व्यंजन ध्वनियों के विभिन्न उच्चारण स्थान (Place of Articulation) तथा संयोग (Combination) का विशेष ध्यान रखा जाता है। संस्कृत में संधि (Sandhi) और समास (Compounding) जैसे नियम ध्वनि परिवर्तन और संयोजन के आधार पर कार्य करते हैं। ये नियम स्वर विज्ञान (Phonetics) और ध्वन्यात्मक लिप्यंतरण (Phonetic Transcription) के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। संस्कृत और कंप्यूटर प्रोग्रामिंग का संबंध-संस्कृत भाषा की संरचना अत्यंत संगठित और तार्किक (Logical) है। यदि संस्कृत व्याकरण के नियमों को कंप्यूटर प्रोग्रामिंग में लागू किया जाए, तो यह आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (AI), नैचुरल लैंग्वेज प्रोसेसिंग (NLP) और ऑटोमेटिक ट्रांसलेशन सिस्टम के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान दे सकता है।

भारती.ए ,चैतन्य.वी, कुलकर्णी ए.पी, संगल.आर (2003) अपने शोध पत्र 'Anusaarka: MachineTranslation in stages.' में बताते हैं कि मशीन अनुवाद (Machine Translation) में एक भाषा से दूसरी भाषा में सही और स्पष्ट अनुवाद करना एक बड़ी चुनौती है। पारंपरिक मशीन अनुवाद प्रणाली में कई समस्याएँ आती हैं, जैसे कि भाषा की जटिलता, संदर्भ की समझ की कमी और व्याकरणिक अंतर। इसी समस्या को हल करने के लिए 'अनुसारक' नामक एक नया तरीका विकसित किया गया, जो अनुवाद प्रक्रिया को दो चरणों में विभाजित करता है।

मशीन अनुवाद की समस्याएँ : हर भाषा की अपनी अलग संरचना होती है, जिससे सीधा अनुवाद हमेशा सही नहीं होता। कई शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं, जो संदर्भ के बिना गलत अनुवादित हो सकते हैं। सांस्कृतिक और व्याकरणिक अंतर भी अनुवाद की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं। Blum-Kulka (1986) के अनुसार, अनुवाद केवल भाषा बदलना नहीं, बल्कि सही संदर्भ में अर्थ को प्रस्तुत करना भी होता है। इसी कारण, अनुसारक प्रणाली विकसित की गई।

अनुसारक कार्यपद्धति : अनुसारक दो चरणों में काम करता है-

पहला चरण (कोर अनुसारक) - यह स्रोत भाषा के वाक्यों को एक मध्यवर्ती भाषा में बदलता है, जो लक्ष्य भाषा से मिलती-जुलती होती है।

दूसरा चरण - इसमें सांख्यिकीय और ज्ञान-आधारित तरीकों से अंतिम अनुवाद को अधिक प्राकृतिक और सही बनाया जाता है।

अनुसारक के लाभ : यह पारंपरिक अनुवाद प्रणालियों से अधिक प्रभावी है। यह भारतीय भाषाओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि इनमें व्याकरण और शब्द संरचना में समानता होती है। यदि दूसरा चरण विफल हो भी जाए, तो भी पहले चरण से अनुवाद समझा जा सकता है। अनुसारक मशीन अनुवाद का एक नया तरीका है, जो भाषा और ज्ञान-आधारित दो अलग-अलग स्तरों पर काम करता है। यह भारतीय भाषाओं के अनुवाद में विशेष रूप से सहायक साबित हो सकता है। भविष्य में इसे और बेहतर बनाने के लिए कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का उपयोग किया जा सकता है।

Sinha-S (2025) अपने शोध पत्र 'Abstractive text summarisation for contemporary Sanskrit Prose: Issues and Challenges.' में बताती हैं कि संस्कृत में बहुत सारी किताबें और प्राचीन ग्रंथ हैं, लेकिन इनका अध्ययन करना आसान नहीं है। इस समस्या को हल करने के लिए कृत्रिम बुद्धिमत्ता और मशीन लर्निंग की मदद से

एक सारांश बनाने वाली तकनीक (Abstractive Text Summarization - ATS) विकसित की जा रही है। इसका उद्देश्य संस्कृत के बड़े ग्रंथों को छोटे और आसान शब्दों में प्रस्तुत करना है, ताकि लोग जल्दी और आसानी से उनका अर्थ समझ सकें।

संस्कृत भाषा की अपनी कुछ कठिनाइयाँ हैं, जैसे संधि और समास, जिनकी वजह से कंप्यूटर के लिए इसे समझना मुश्किल हो जाता है। इस शोध में यह देखा गया है कि संस्कृत के लिए कौन-कौन सी मशीन लर्निंग तकनीकें सबसे अच्छी होंगी और इसके लिए सही डेटा कैसे तैयार किया जाए। BERT, GPT-2, और RoBERTa जैसे उन्नत कंप्यूटर मॉडल का उपयोग करके संस्कृत भाषा को समझने और सारांश बनाने की प्रक्रिया को बेहतर किया गया है। इस शोध में OSCAR कॉर्पस, मनोगतम, विकिपीडिया और अनंता जर्नल से डेटा लिया गया। संस्कृत के जटिल शब्दों और वाक्यों को तोड़कर सरल बनाने के लिए विशेष तकनीकों का इस्तेमाल किया गया। फिर, तैयार किए गए मॉडल की गुणवत्ता को ROUGE स्कोर और मानवीय मूल्यांकन से परखा गया, ताकि यह देखा जा सके कि कौन सा मॉडल सबसे अच्छा काम कर रहा है। निष्कर्ष में पाया गया कि संस्कृत में सारांश बनाने के लिए अभी भी कई चुनौतियाँ हैं, जैसे सही डेटा की कमी और व्याकरण की जटिलता। फिर भी, यह शोध दर्शाता है कि डीप लर्निंग तकनीक का उपयोग करके संस्कृत ग्रंथों को अधिक सुलभ और उपयोगी बनाया जा सकता है, जिससे शोधकर्ताओं और पाठकों को मदद मिलेगी।

Goyal-P, Huet-G, Kulkarni- A (2013) अपने शोध पत्र 'A distributed platform for Sanskrit processing' में संस्कृत भाषा को कम्प्यूटर से समझने और प्रोसेस करने की तकनीकों के बारे में बताते हैं। संस्कृत की लिखने और बोलने की शैली दूसरी भाषाओं से अलग होती है, इसलिए इसे कम्प्यूटर से समझना मुश्किल होता है। इसमें बताया गया है कि संस्कृत में शब्दों के बीच सीमाएँ (word boundaries) साफ नहीं होतीं, क्योंकि संधि और समास के कारण शब्द आपस में जुड़ जाते हैं। इसे हल करने के लिए संस्कृत शब्दों को अलग करने (segmentation) और उनके व्याकरणिक रूप को पहचानने (tagging) के लिए नई तकनीकें बनाई गई हैं। अलग-अलग संस्थानों ने मिलकर एक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म बनाया है, जो संस्कृत ग्रंथों को कम्प्यूटर से पढ़ने और समझने में मदद करता है। इसमें संस्कृत से हिंदी में अनुवाद करने, संस्कृत के व्याकरण को पहचानने और शब्दों को सही रूप में जोड़ने जैसी सुविधाएँ दी गई हैं। इस शोध का मुख्य उद्देश्य संस्कृत भाषा को डिजिटल रूप में संरक्षित करना और कम्प्यूटर से संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन आसान बनाना है। इससे संस्कृत भाषा पर रिसर्च करने वालों को बहुत फायदा होगा और भविष्य में मशीन लर्निंग और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस से संस्कृत को और बेहतर समझा जा सकेगा।

तुलनात्मक अध्ययन के आधार-

1. क्लास, इंडेंटेशन और अधिकार-

क्लास -ऑब्जेक्ट ओरिएंटेड प्रोग्रामिंग में क्लास, यह एक तरह का ब्लूप्रिंट है, जिसमें ऐसे ही कार्यों को रखा जाता है, जिनके गुण कर्म समान होते हैं, अर्थात् एक समान संरचना वाले कार्य एक जगह एकत्रित होते हैं। एक क्लास के अंतर्गत आने वाले कार्य, उसी की विशेषता को धारण करता है। यह एक सेट की तरह होता है। उदाहरण

```
class Student:
    def _init_(self, name, age):
    self-name = name
    self-age = age
    def show(self):
    print(f"Name: {self-name}, Age: {self-age}")
    # Object बनाना
    s1 = Student("Amit", 20)
    # Method कॉल करना
    s1.show( )
    Output: Name: Amit, Age: 20
```

यह Student नाम की एक क्लास है, जो स्टूडेंट का नाम और उम्र स्टोर करने के लिए बनाई गई है। जब भी इस क्लास का कोई ऑब्जेक्ट बनाया जाता है, तो _init_() कंस्ट्रक्टर अपने आप कॉल हो जाता है और दिए गए नाम व उम्र को self-name और self-age में स्टोर कर देता है। इसके बाद, show() नाम का एक मेथड बनाया गया है, जो स्टूडेंट की जानकारी प्रिंट करता है। ऑब्जेक्ट बनाने के लिए s1 = Student("Amit", 20) लिखा गया है, जिससे "Amit" नाम का एक स्टूडेंट ऑब्जेक्ट बनता है। अंत में, s1.show() को कॉल करने पर स्टूडेंट की डिटेल्स स्क्रीन

पर प्रिंट हो जाती है।

इंडेंट- इंडेंटेशन यह निश्चित करना कि कौन सी स्टेटमेंट किसके अंतर्गत आता है इसको स्पेस के द्वारा दर्शाया जाता है

अधिकार- यह एक विशेष श्रेणी है, जिसके अंतर्गत आने वाले सूत्र या नियम किसी विशेष वर्ग को दर्शाते हैं। अधिकार के अंतर्गत आने वाले सूत्र पूर्ण रूप से उससे प्रभावित होते हैं। इसका यह लाभ है कि लाघव हो जाता है, और पुनरावृति की आवश्यकता कम हो जाती है। जब तक नया अधिकार प्रारंभ नहीं होता तब तक पहले वाला ही प्रभावित रहता है।

indentation का Example (Python में)

```
def greet():
print("Hello!")
print("Welcome to Python.")
greet()
```

Python में indentation (खाली जगह या स्पेस) बहुत जरूरी होता है क्योंकि यह कोड के ब्लॉक्स को दर्शाता है। उदाहरण के लिए, ऊपर दिए गए कोड में def greet(): एक फंक्शन को परिभाषित करता है। इसके नीचे दिए गए print() स्टेटमेंट्स इंडेंट किए गए हैं, जिससे Python समझता है कि वे greet() फंक्शन के अंदर आते हैं। अगर हम indentation को हटा दें या गलत तरीके से इस्तेमाल करें, तो Syntax Error आ सकता है। Python में लूप, कंडीशन्स और फंक्शन्स में indentation अनिवार्य होता है, जिससे कोड साफ-सुथरा और समझने में आसान बनता है।

अधिकार-अष्टाध्यायी में अधिकार का अर्थ है किसी नियम की सीमा तय करना। यह यह दर्शाता है कि कोई नियम कहाँ से शुरू होता है और कहाँ तक लागू रहता है। जब तक कोई नया अधिकार सूत्र न आए, तब तक पहले दिया गया अधिकार मान्य रहता है। उदाहरण के लिए, 'सुपः पठिते परस्मैपदेषु' सूत्र बताता है कि परस्मैपद धातुओं पर कौन से नियम लागू होंगे। अधिकार प्रणाली के कारण अष्टाध्यायी की संरचना संगठित और व्यवस्थित बनती है, जिससे संस्कृत व्याकरण को तार्किक रूप से समझना आसान हो जाता है।

सामानता- पाइथन में क्लास, इंडेंटेशन और अष्टाध्यायी की संरचना में काफी हद तक समानता है। दोनों का प्रारूप संरचनात्मक है।

2. लिस्ट स्लाइसिंग और प्रत्याहार निर्माण -

लिस्ट स्लाइसिंग किसी बड़े उत्तर से किसी विशिष्ट भागों को निकाल कर संग्रहित करने की प्रक्रिया को स्लाइसिंग कहते हैं।

Python में List Slicing का उदाहरण-

```
fruits = ["apple", "banana", "cherry", "mango", "orange"]
print(fruits[1:4]) # Output: ['banana', 'cherry', 'mango']
```

Python में list slicing का उपयोग लिस्ट से एक निश्चित भाग निकालने के लिए किया जाता है। इसका सिंटैक्स list[start:end] होता है, जहाँ start वह इंडेक्स है जहाँ से slicing शुरू होगी और मदक वह इंडेक्स है जहाँ तक slicing चलेगी, लेकिन end इंडेक्स शामिल नहीं होता। उदाहरण के लिए, fruits[1:4] का आउटपुट ['banana', 'cherry', 'mango'] आएगा, क्योंकि यह index 1, 2, और 3 के तत्व देगा। Negative indexing से हम लिस्ट के अंत से भी slicing कर सकते हैं, जैसे fruits[-4:-1] भी वही आउटपुट देगा। यह फीचर लिस्ट को फिल्टर करने, कॉपी बनाने और डेटा प्रोसेसिंग में बहुत उपयोगी होता है।

प्रत्याहार निर्माण- अष्टाध्यायी में विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों को प्रत्याहार सूत्र कहा जाता है। जब हमें इनमें से किसी विशेष प्रत्याहार का निर्माण करना हो तो हम पहले और अंतिम वर्ण जैसे अच् प्रत्याहार बोलेंगे तो बीच में आने वाले प्रत्येक वर्ण का संग्रह हो जाएगा। अष्टाध्यायी में प्रत्याहार का निर्माण संस्कृत वर्णमाला के समूहों को संक्षेप में दर्शाने के लिए किया जाता है। प्रत्याहार माहेश्वर सूत्रों से बनाए जाते हैं, जहाँ किसी वर्ण से लेकर किसी विशेष इत् संज्ञक वर्ण तक के सभी वर्ण शामिल होते हैं। उदाहरण के लिए, 'अइउण्' प्रत्याहार में अ, इ, उ स्वर होते हैं, और अंतिम ''ण्'' केवल एक संकेत है, जिससे पता चलता है कि प्रत्याहार यहीं समाप्त हो गया। इसी तरह ''हयवरट्'' प्रत्याहार में ह, य, व, र शामिल हैं। प्रत्याहारों के माध्यम से व्याकरण के नियमों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है, जिससे अष्टाध्यायी को व्यवस्थित, तार्किक और प्रभावी बनाया जाता है।

समानता- यह दोनों ही प्रक्रियाएं बड़े डाटा सेट से या

वर्ण समूह से किसी विशिष्ट डाटा या वर्ण समूह को निकाल कर संग्रहित करती है।

3. पाइथन इंडेक्सिंग और इत् संज्ञा-

इंडेक्स- किसी लिस्ट में आने वाले तत्व को इंडेक्स अर्थात् नंबर दिया जाता है, तो स्लाइसिंग करते समय अंतिम इंडेक्स नंबर के रूप में तो दिखता है, पर आउटपुट में नहीं दिखता। Python में slicing करते समय मदक index आउटपुट में शामिल नहीं होता, यानी slicing start index से शुरू होती है लेकिन end index से एक पहले रुक जाती है। उदाहरण देखें:

```
numbers = [10, 20, 30, 40, 50]
print(numbers[1:4])
# Output: [20, 30, 40]
```

(Index 1, 2, 3 आए, लेकिन Index 4 '50' नहीं आया)

ऊपर दिए गए उदाहरण में index 1 (20), index 2 (30) और index 3 (40) आउटपुट में आए, लेकिन index 4 (50) शामिल नहीं हुआ। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि Python slicing में end index को आउटपुट में नहीं लिया जाता। यह नियम सभी slicing ऑपरेशन्स पर लागू होता है, चाहे वह positive indexing हो या negative indexing। इसी कारण, slicing का सही उपयोग करना डेटा को सही तरीके से एक्सेस करने के लिए जरूरी होता है।

इत् संज्ञा- इसी प्रकार जब हम इत् संज्ञा करते हैं, तो अंतिम वर्ण को केवल गणना के लिए रखा जाता है, वह दिख रहा, पर जहां इसका काम पड़ेगा वहां यह अनदेखा कर दिया जाएगा इसकी आवश्यकता अन्य व्याकरण के नियमों में पड़ती है। इत्संज्ञा का उदाहरण

सूत्र : उपदेशेऽजनुनासिक इत् (1.3.2)

उदाहरण: अइउण् प्रत्याहार में ''ण्'' इत् संज्ञक है। इसका अर्थ है कि ''अइउ'' तो प्रयोग में आएंगे, लेकिन ''ण्'' केवल संकेत मात्र रहेगा।

अष्टाध्यायी में इत् संज्ञा उन वर्णों को दी जाती है जो केवल व्याकरणिक संकेत के रूप में होते हैं। यह संज्ञा ''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' (1.3.2) सूत्र से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए, ''अइउण्'' प्रत्याहार में ''ण्'' केवल इत् संज्ञक है। यह बताता है कि प्रत्याहार ''अइउ'' तक सीमित रहेगा। इसी प्रकार धातुपाठ में ''भू'' धातु के साथ ''लुट्'' में अंतिम ''ट्'' इत् संज्ञक होता है, जो रूप निर्माण में प्रयुक्त नहीं होता। इत् संज्ञा के कारण व्याकरण के नियम संक्षेप में लिखे जा सकते हैं और व्याकरण संरचना अधिक व्यवस्थित बनती है।

समानता- दोनों ही प्रक्रिया में अंतिम तत्व इंडेक्स अथवा वर्ण को अनदेखा किया जाता है, गणना करते समय तो यह दिखेंगे पर आउटपुट में इनका कोई प्रभाव नहीं रहेगा।

4. सूत्र सादृश्य और if-elsestatement- लोप:शाकल्यस्य -पदांत यकार और पदांत वकार का, अश्वर्ण परे रहते हुए, शाकल्य आचार्य के मत में लोप हो जाता है।

उदाहरण- वनय् इति (सामान्य)

वने इति (शाकल्य आचार्य का मत)

```
IF SHAKALYA AACHARYA :
PRINT (वनेइति)
ELSE:
PRINT (वनय् इति)
```

निष्कर्ष

अष्टाध्यायी एवं प्रोग्रामिंग के इतने अध्ययन से पता चलता है कि, भले ही प्रोग्रामिंग, अष्टाध्यायी को देखकर नहीं बनाई गई हो, परन्तु इनकी संरचना में समानता अवश्य है। हमने कुछ मौलिक आधार खोजे हैं जो इस समानता को स्पष्ट करते हैं। जैसे Python में class और indentation कोड को संगठित रखते हैं, वैसे ही अष्टाध्यायी में अधिकार सूत्र नियमों की सीमा तय करता है। List slicing में किसी सूची के कुछ तत्व चुने जाते हैं, जबकि अष्टाध्यायी में प्रत्याहार के माध्यम से वर्णों के समूह को संक्षेप में दर्शाया जाता है। इसी तरह, indexingesa किसी विशेष तत्व को पहचाना जाता है, ठीक वैसे ही जैसे अष्टाध्यायी में इत्संज्ञा यह तय करती है कि कौन-सा वर्ण नियम निर्माण के लिए केवल संकेत मात्र रहेगा। इन समानताओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अष्टाध्यायी की संरचना प्रोग्रामिंग सिद्धांतों से मेल खाती है, और इसे आधार बनाकर भविष्य में संस्कृत व्याकरण और आधुनिक टेक्नोलॉजी के संयोजन से कुछ नया निर्माण किया जा सकता है।

***शोधछात्रा, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज एण्ड रिसर्च**
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तरप्रदेश, नोएडा

lUnHkZ lwph

- Gokhale, S. A survey on the ongoing and future research in Sanskrit Computational Linguistics.
- Ostler, N. (2001, April) - Sanskrit studies as a foundation for computational linguistics. In Proceedings of the LESAL Workshop, Mumbai
- Prakash, S. (1991) - PANINIAN METHOD OF LINGUISTIC ANALYSIS. Ankara Universitesi Dil ve Tarih-CografyaFakxltesiDergisi, 35(2), 241-246.
- Bharati, A., Chaitanya, V., Kulkarni, A. P., & Sangal, R. (2003). Anusaaraka: machine translation in Stages- arXiv preprint cs/0306130.
- Sinha, S. (2025). Abstractive Text Summarization for Contemporary Sanskrit Prose: Issues and Challenges- arXiv preprint arXiv:2501.01933.
- Goyal, P., Huet, G., Kulkarni, A., Scharf, P., - Bunker, R. (2012, December). A distributed platform for Sanskrit processing. In Proceedings of COLING 2012 (pp- 1011-1028).
- गौड़, व. ल. (1985). पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धान्त. लोकालोक प्रकाशन

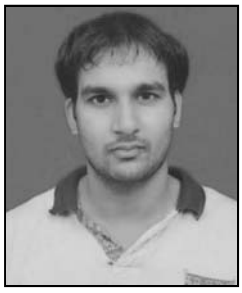

डा. शिव कुमार* योगेश डागर**

लखमीचंद कृत सांग सत्यवान सावित्री में पतिव्रता स्त्री की निष्ठा

प्रस्तावना–

हिंदी साहित्य के विभिन्न काल खण्डों में पुराकथाओं को आधार बनाकर प्रचुर मात्रा में साहित्य सृजन हुआ है। परिनिष्ठित हिंदी के साथ-साथ बोलियों के साहित्य और लोक साहित्य की तमाम विधाओं में पौराणिक कथाओं की उपस्थिति सहज रूप से देखी जा सकती है। सत्यवान-सावित्री की कथा प्राचीन समय से भारतीय समाज, संस्कृति और जीवन मूल्यों की परिचायक रही है, जो नारी के पतिव्रत धर्म, निष्ठा, धैर्य और अदम्य साहस को प्रतिष्ठित करती है।

हरियाणवी में अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं को सांग और रागनी साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। सत्यवान-सावित्री की कथा को आधार बनाकर कई कवियों ने सांग या किस्सों की रचना की जिनमें पं. लखमीचंद कृत 'सत्यवान-सावित्री सांग' विशेष रूप से लोकप्रिय रहा है। लखमीचंद ने इस कथा को हरियाणवी भाषा और सांग की विशिष्ट शैली में प्रस्तुत कर इसे लोक संगीत और नाटकीयता का अद्वितीय स्वरूप दिया। उनके काव्य में सावित्री का चरित्र केवल आदर्श पतिव्रता का प्रतीक नहीं, बल्कि स्त्री की असाधारण शक्ति और सामाजिक भूमिका को भी उजागर करता है।

यह शोधपत्र लखमीचंद कृत 'सत्यवान-सावित्री' सांग में पतिव्रता स्त्री की निष्ठा और इस रचना में अभिव्यक्त गरिमामयी नारी गुणों को विश्लेषणात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास करेगा।

बीज शब्द - लोकसाहित्य, हरियाणवी सांग, रागनी, सत्यवान-सावित्री, लखमीचंद, पतिव्रता धर्म, स्त्री की निष्ठा, नारी शक्ति, धर्म और नारी, तर्कशीलता, वाक्पटुता, त्रिया हठ, शिक्षा और नारी।

सत्यवान-सावित्री कथा का स्रोत और व्याख्या-

पौराणिक कथाएँ किसी संस्कृति का अभिन्न अंग होती हैं। ये केवल मनोरंजन के साधन नहीं हैं, बल्कि समाज को नैतिक मूल्यों, जीवन आदर्शों और व्यावहारिक ज्ञान से परिचित कराती हैं। ये व्यैक्तिक और सामाजिक जीवन के यथार्थ का सामना कर सफलता में मनुष्य की मदद करती हैं। ''पौराणिक कथा किसी जन-समुदाय के लिए एक विश्व-दृष्टि निर्मित करती है। दुनिया को देखने का एक नजरिया पेश करती है। वह ऐसे दर्पण का काम करती है, जिसके माध्यम से जीवन व्यवस्थित होता है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसा नमूना या प्रतिमान निर्मित करती है, जिससे प्रकट रूप से अव्यवस्थित जगत एक समुचित और व्यवस्थित रूप ग्रहण करता है। हर संस्कृति की अपनी-अपनी पवित्र कथाएँ, प्रतीक और कर्मकाण्ड होते हैं जिनसे लोगों के मन-मस्तिष्क को एक खास साँचे में ढाला जाता है और उन्हें दुनिया को एक खास तरीके से देखने का ढंग सिखाया जाता है। इस तरह हर संस्कृति खुद को दूसरी संस्कृतियों से अपने निजी साँचे और नमूने के बल पर अलग करती है।''[1]

भारतीय पौराणिक कथाएँ हजारों वर्षों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक और लिखित रूप में संरक्षित रही हैं और समाज को नैतिकता, धर्म, कर्तव्य और नीति का मार्गदर्शन देती हैं। पौराणिक कथाओं में हमें आदर्श योद्धा, आदर्श गुरु, आदर्श पत्नी, और आदर्श पुत्र के अनेक उदाहरण मिलते हैं। 'सत्यवान-सावित्री' की कथा का आदि स्रोत महाभारत है। महाभारत के वनपर्व में जब युधिष्ठिर ऋषि मार्कंडेय

से यह पूछते हैं कि क्या संसार में कोई ऐसी स्त्री हुई है जो द्रौपदी से भी अधिक पतिव्रता हो, तब ऋषि मार्कंडेय उन्हें सावित्री की कथा सुनाते हैं। सावित्री का चरित्र भारतीय संस्कृति में पतिव्रता स्त्री के आदर्श के रूप में देखा जाता है। इसमें स्त्री की निष्ठा, समर्पण और साहस को भी प्रभावी रूप से चित्रित किया गया है। समय के साथ यह कथा पुराणों, धर्मग्रंथों और लोककथाओं में विकसित होकर भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गई।

महाकाव्य महाभारत के बाद अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्य में इस कथा की व्याप्ति रही है। लोककथाओं की मौखिक परम्परा में भी यह कथा पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाहित हुई है। आज भी वट सावित्री व्रत में सुहागिन अपने पति की लंबी उम्र के लिए व्रत रखती हैं और सत्यवान सावित्री की कथा सुनती हैं।

पतिव्रता का अर्थ

भारतीय संस्कृति में गृहस्थ जीवन का विशेष महत्व है। स्त्री और पुरुष दोनों के धर्म, अर्थ और काम की साधना के लिए समाज में गृहस्थाश्रम की संकल्पना की गयी। जिसका उद्देश्य एक-दूसरे की सहायता और सहयोग से स्त्री-पुरुष का उन्नति के पथ पर अग्रसर होना, सामाजिक कल्याण और सच्ची शांति व सुख प्राप्त करना है। इन उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पति और पत्नी दोनों के लिए आदर्श गुणों की समान रूप से आवश्यकता होती है, ताकि पारिवारिक संतुलन, आपसी सम्मान और प्रेम बना रहे। हालाँकि भारतीय ग्रंथों में पतिव्रता स्त्री का आदर्श अधिक प्रचारित हुआ है, लेकिन पुरुषों के लिए भी पतिधर्म के नियम हैं और उनसे आदर्श पति बनने की अपेक्षा की गई है। श्रीराम, शिव, सत्यवान, अर्जुन और नल जैसे पात्रों ने एक स्नेही, सहृदय और कर्तव्यपरायण पति का आदर्श प्रस्तुत किया है। वही दूसरी ओर सीता, सावित्री, अनसुइया, जैसी पतिव्रता नारी पात्र हैं जो गरिमामयी नारी गुणों का प्रतीक हैं।

नर और नारी का शारीरिक व मानसिक संगठन नैसर्गिक रूप से अलग है। पुरुष में जहाँ शरीर की प्रधानता है वही स्त्री का हृदय पक्ष प्रधान है। प्रेम, त्याग, ममता, संकल्प शक्ति आदि गुणों को पुरुष में लाना पड़ता है, तो भी इनका पूर्ण रूप से आना सम्भव नहीं हो पाता। स्त्री में स्वभाव से ही इन गुणों का विकास रहता है। सतीत्व, पातिव्रत्य और सदाचार नारीत्व के तीन आधार माने गए हैं। पतिव्रता वह स्त्री है जो अपने पति के प्रति पूर्ण निष्ठावान, समर्पित और धर्मपरायण हो। हरदेव बाहरी के हिंदी शब्दकोश में 'पतिव्रता' का अर्थ है - ''पति धर्म ही जिसका व्रत हो, पति के प्रति अनन्य अनुराग एवं भक्ति रखनेवाली।''[2] यह शब्द विशेष रूप से भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक परंपरा में उस स्त्री के लिए प्रयोग किया जाता है जो अपने पति के साथ आजीवन निष्ठा बनाए रखती है, चाहे परिस्थितियाँ कैसी भी हों।

पतिव्रता शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए हमें भारतीय चिंतन परम्परा से होकर गुजरना पड़ेगा क्योंकि पतिव्रता धर्म की परंपरागत अवधारणा भारतीय है। ''सच पूछा जाए तो 'पतिव्रता' और 'पातिव्रत्य' शब्दों से जो अर्थ ग्रहण होता है, उसको द्योतित करने योग्य पाश्चात्य भाषाओं में कोई शब्द ही नहीं है। यह गवेषणा तो हमारे भारतीय ऋषियों की ही है कि स्त्री के लिये सर्वोच्च आदर्श पतिभक्ति का है।''[3] अर्थात् अंग्रेजी भाषा में कुछ शब्द या वाक्यांश जैसे "Devoted Wife" और "Loyal Wife" इसकी निकटतम अभिव्यक्ति कर सकते हैं लेकिन ये ''पतिव्रता'' का सटीक अनुवाद नहीं हैं।

नारीवादी चिंतक मानते हैं कि पतिव्रता का आदर्श पितृसत्तात्मक विचारधारा का हिस्सा है, जिसे पुरुषों ने अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए गढ़ा है। हालाँकि, आधुनिक समय में पतिव्रता की परिभाषा को पुनःपरिभाषित करने की आवश्यकता है, जिसमे पति-पत्नी के संबंध समानता, सम्मान और आपसी सहयोग पर आधारित हों, न कि सिर्फ पत्नी के त्याग और समर्पण पर। फिर भी जहाँ तक पतिव्रता का अर्थ स्त्री का अपने पति के प्रति अनन्य प्रेम से सम्बन्धित है तो इस शब्द में कोई दोष नहीं है।

सांग सत्यवान सावित्री में पतिव्रता स्त्री का स्वरूप

पं. लखमीचंद हरियाणवी लोकनाट्य विधा 'सांग' के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। लखमीचंद के काव्य में भारतीय पौराणिक आस्था का प्रमुख स्थान है, जहाँ उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से सनातन धर्म की स्थापना का सुदृढ़ प्रयास किया है। ''सनातन धर्म के प्रमुख आदर्श हैं- सर्वशक्तिमान ईश्वर, ईश्वर का अवतारी रूप, आत्मा, पुनर्जन्म, गो-ब्राह्मण-अतिथि की सेवा, एक पत्नीव्रत, पातिव्रत्य-भाव, कर्म-फल सिद्धान्त, चतुरवस्था, चतुर्वर्ण एवं चतुर्वर्ग। इन आदर्शों के पोषक ग्रन्थ हैं- श्महाभारतश

और 'मनुस्मृति'। लखमीचन्द ने इन ग्रंथों का भावानुवाद अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है।''[4]

उनके द्वारा रचित 'सत्यवान-सावित्री' सांग भारतीय पौराणिक कथा पर आधारित एक महत्वपूर्ण लोकनाट्य है, जो पतिव्रता सावित्री की अटूट संकल्प, निष्ठा, धैर्य, साहस, और बुद्धिमत्ता को दर्शाता है। लखमीचंद ने अपनी काव्य प्रतिभा, सुगठित छंद योजना, संवादात्मक शैली और लोक भाषा में इस कथा को नये आयाम दिए हैं। इस पौराणिक कथा में लखमीचंद ने मार्मिक प्रसंगों की मौलिक उद्‌भावना से विशेष बना दिया है। लखमीचंद ने सत्यवान-सावित्री की प्राचीन कथा की मूल भावना को सुरक्षित रखते हुए सावित्री के चरित्र को आधुनिक संदर्भों में पेश किया है। कवि ने सावित्री के पिता महाराज अश्वपति को अपनी पुत्री की इच्छा जानते हुए दिखाया है। वे सावित्री से पूछते हैं कि उसे कैसा वर चाहिए? इस पर वह जवाब देती है–

''बह्मचर्य पै कायम रहै दान करै कुछ जति भी हो।
एक भाव पूजा में देखै राज करै महारथी भी हो।
गऊ बाह्मण का दास रहै उसकी शुद्धि मति भी हो।
पतिव्रता कै जोड़े कै मैं इतने गुणों का पति भी हो।''[5]

लखमीचंद की उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट है कि सती (पतिव्रता) नारी के लिए जती मर्द का होना आवश्यक है। उन्होंने केवल नारी पर पातिव्रत्य-भाव का भार नहीं लाद दिया है बल्कि इसे व्यवहार के प्रति व्यवहार के रूप में अभिव्यक्त किया है।

कवि का आधुनिक दृष्टिकोण निम्नलिखित रागनी में झलकता है जब अश्वपति एक योग्य वर ढूंढने में नाकाम रहते हैं तो सावित्री से कहते हैं–

''जवान अवस्था देख कै बौल्या खुद बेटी तै बाप।
तेरे ब्याह की इच्छा करकै करण
कोई आया ना मेल मिलाप ।। टेक ।।
तनै पति मिलै मनै आण बता आधीन करूं वर के।
तेरे कवारी रहणें तै दिन दिन चढै श्राप''[6]

यह विचार उस समय की पारंपरिक विवाह व्यवस्था से अलग है, जहाँ पुत्रियों के विवाह का निर्णय आमतौर पर पिता या परिवार के बड़े सदस्य लिया करते थे। इस दृष्टि से देखा जाए तो लखमीचंद ने स्त्री की स्वतंत्रता और उसकी निर्णय क्षमता को महत्व दिया, जो तत्कालीन सामाजिक परंपराओं से कहीं आगे की सोच को दर्शाता है।

लखमीचंद ने सावित्री के पतिव्रता चरित्र को दर्शाने से पहले उसके विवाह पूर्व आचरण को दिखाया है। वह एक रूपवती कन्या और आदर्श पुत्री है जो इष्ट देव का ध्यान करती है, ब्राह्मणों से हवन करवाती है, माता-पिता और बड़ो का आदरमान करती है। विवाह के लिए चिंतित अपने माता-पिता के मनोभाव सावित्री समझती है–

''सुख हो मात-पिता नै नींद भर जिब सोणा चाहिए।
सावित्री करै फिक्र पति इब कित टोहणा चाहिए।''[7]

लखमीचंद नें प्रस्तुत सांग में सत्यवान-सावित्री कथा की कोरी अभिव्यक्ति के मुकाबले भावना पर ज्यादा महत्व दिया है। रागनियों के माध्यम से कवि ने आदर्श नारी गुणों की सफल अभिव्यक्ति की है। सावित्री को अपना पति चुनने की पूर्ण आजादी है लेकिन वह सत्यवान को चुनती है। जिसके पास धन-माया क्या रहने के लिए घर भी नहीं है। सावित्री में सांसारिक लोभ-लालसा नहीं है। उसका प्रेम स्वार्थ या व्यक्तिगत सुख तक सीमित नहीं है। जब नारद ऋषि व उसके पिता पूछते हैं कि उसने किसे अपना वर चुना है? तो कहती है–

''शाल्वदेशी अन्धे राजा द्युमतसैन नाम जिसका।
दुश्मनों ने छीन लिया राजपाट गाम जिसका।
पुत्र और राजा राणी दुख मैं बिचल गए।
राज भ्रष्ठ हो जाने से बन को निकल गए।
तप करते राज ऋषि आश्रम पै मिल गए।
उनके बेटे सत्यवान से मनै अपणी जोट मिलाई।''[8]

नारी स्नेह, समर्पण और शक्ति का संगम होती है। उसके चरित्र में अटूट श्रद्धा, दृढ़ संकल्प और गहरा प्रेम निहित होता है, जो उसे परिवार और समाज की आधारशिला बनाता है। लखमीचंद ने सावित्री को एक दृढ़ निश्चयी, आत्मनिर्भर और सत्य पर अडिग रहने वाली नारी के रूप में प्रस्तुत किया है। नारद ऋषि बताते है कि एक वर्ष के उपरांत सत्यवान की मृत्यु तय है इसलिए उस से सावित्री का विवाह उचित नहीं। लेकिन सावित्री निर्णय ले चुकी है और उस पर अटल है। नारी सशक्तिकरण की भावना को प्रकट करती उनकी पंक्तियां देखिये–

''मेरे सिर पै झूठा मन्दा दोष क्यूं धरो
सत्यवान से पति मेरा जीओ चाहे मरो।''[9]

नारी के एकनिष्ठ प्रेम और संकल्प शक्ति का सुन्दर निदर्शन कवि ने इन पंक्तियों में किया है। सत्यवान की अल्पायु के विषय में जानते हुए भी सावित्री अपना निर्णय

नहीं बदलती है।

पं. लखमीचंद ने अपने कई सांगों में पतिव्रता नारी की प्रशंसा की है। 'सत्यवान-सावित्री' सांग में पारम्परिक कथा के अनुरूप कवि को पतिव्रता धर्म की स्थापना का अधिक अवसर मिला जिसका पूर्ण उपयोग करते हुए उन्होंने सावित्री के चरित्र को निष्ठा, संकल्प और प्रेम की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। सावित्री पर कोई दबाव नहीं है कि वह किसी निर्धन से विवाह करे और अंधे सास-ससुर की सेवा में अपना जीवन खपा दे। उसे उचित-अनुचित का ज्ञान है और वह आने वाली किसी भी परिस्थिति के लिए तैयार है। महाराज अश्वपति को अपनी पुत्री पर भरोसा है इसलिए उसके उज्ज्वल चरित्र का रेखांकन करते हुए राजा द्युमतसैन से कहता है-

''या बुद्धि मैं कमजोर नहीं, बैल तरहां बह लेगी।
बखत पड़े पै अपणे मुख से राम-राम कह लेगी।
जो कुछ दुख सुख पड़ज्यागा अपने तन पै सह लेगी।
नहीं जरूरत रंग महल की बण खण्ड़ मैं रह लेगी।''[10]

नारी के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण गुण त्याग और धैर्य है जिसके बल पर वह प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने में सक्षम है। पं. लखमीचंद के प्रस्तुत सांग में विभिन्न रागनियाँ मौजूद हैं जो एक नारी की त्याग, धैर्य, सेवा-भाव व ईश्वर-भक्ति को व्यक्त करती हैं। कुछ उदारहण द्रष्टव्य हैं-

नारी का त्याग - ''पिता के गए पै गहणे वस्त्र आपै तार लिए। ले सासू संगवा कै घर ले नौ लख हार लिए'', ''आड़ै ऋषि आश्रम करण चाहती मैं हार सिंगार नहीं।''

भक्ति भावना - ''लागी रहै दिन रात भजन मैं न्यूं मन मार लिए।'', ''कई बर करती सोच मेरे पै कद ईश्वर दया करै।'', ''हे तीन लोक के नाथ मेरा कर बेडा पार लिए।''

बड़ों के प्रति आदर व सेवा भाव - ''माता-पिता से आशीष लिया और सब का आदरमान किया'', ''सास ससुर और पति की सेवा कर आनन्द लहा करै।'', ''सास ससुर और ब्राह्मणों को नमस्कार सम्मान करके। ऊड़ैए बैठगी नारद जी के कहे वचन का ध्यान करके।''

धैर्य - ''किसे तै ना भेद खोलै ख्याल मन मन मैं।'', ''के ल्योगे मेरा भ्रम फोड़कै, निंघा मेरी फिरती च्यारों ओड़े कै।'', ''मन मन मैं करै फिकर किसे तै कुछ न कहा करै।''

लखमीचन्द के काव्य में प्रेम एक सर्वव्यापी तत्त्व है। कुछ अपवादों को छोड़कर यह प्रेम ज्यादतर मूल्यनिष्ठ एवं मर्यादित रूप में ही चित्रित हुआ है। जती पुरुष और सती (चरित्रवान) नारी के आपसी सहयोग, सम्मान और समर्पण से उत्पन्न प्रेम सम्बंध को ही कवि ने श्रेष्ठ माना है। उनकी कविता को केवल अश्लीलता के चश्मे से देखना, उनके काव्य में मौजूद मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों की उपेक्षा करना होगा। कृष्ण चन्द्र शर्मा इस विषय पर लिखते हैं- ''अश्लील होने का खिताब भी कुछ लोगों ने स्वार्थरत होकर लखमी चन्द को दिया, परन्तु लखमी चन्द ने जनमत की चिन्ता किए बिना हजारों दर्शकों को हर दिन प्रेम प्रसंगों के प्रदर्शन और शृंगार रस के मधुर गायन से आनन्दित किया। उनकी कविताओं में प्रेमी प्रमिकाओं की भावनाओं की अभिव्यक्ति इस परिष्कृत मनो-वैज्ञानिक ढंग से की गई है कि हरियाणवी भाषा जानने वाले युवक और कहीं ऐसे काव्यानन्द की अनुभूति नहीं कर पाते।''[11]

प्रेम पातिव्रत्य-भाव का आधार तत्व है। जब नारी को अपने योग्य पति मिल जाए, उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाए तो उस स्थिति में पति के प्रति समर्पण भाव ही पतिव्रता धर्म है। लखमीचंद के प्रस्तुत सांग में सावित्री का चरित्र प्रेम को ही आधार बनाकर रचा गया है। सावित्री के त्याग और सेवा भाव के केंद्र में प्रगाढ़ प्रेम है। जब वह सत्यवान को अपना हृदय दे देती है तो अपने हृदय स्वामी के लिए किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार है। अपने पति की सीमित जीवन रेखा के कारण वह सत्यवान को अकेला नहीं रहने देती–

''कई बार देख्या हाथ फेर कै, पिया जी के तन मैं
पति की जड मैं बणी रहै थी, रात्री और दिन मैं''[12]

एक वर्ष पूरा होने के बाद जब सत्यवान के जीवन का मात्र एक दिन शेष रह जाता है और वह हवन के लिए लकड़ी व फल लाने के लिए वन में जाता है तो सावित्री भी उसके साथ चलने की जिद्द करती है - ''हो पिया मैं भी चलूंगी थारे साथ, एकला मत जाइये बण मैं, छोड़णां मैं अलग नहीं चाहती।'' आज सत्यवान का आखरी दिन है यह बात परिवार में केवल सावित्री ही जानती है। वह किसी को नहीं बताती और ऐसे समय में अदम्य साहस और धैर्य का परिचय देती है। जब वह अपने सास-ससुर से वन में जाने के लिए आज्ञा मांगती है तो उन्हें जाने का असली कारण नहीं बताती–

''फल लेणे की इच्छा करकै जा सै जी सुत तेरा।
बणखण्ड की हवा खाण नै जी कर रया सै मेरा।।''[13]

''सांग 'सत्यवान सावित्री' में कवि ने नायिका सावित्री के रूप में भारतीय नारी के चरित्र का और उसकी सोच एवं व्यवहार का अत्यन्त, सात्विक, धवल एवं जन-जन को प्रिय रूप व्यक्त किया है।''[14] पं. लखमीचंद ने इस सांग में नारी के मनोभावों और हृदय की गहराइयों को अत्यंत सजीव रूप में प्रस्तुत किया है। सावित्री को उन्होंने मनोवैज्ञानिक रूप से परिपक्व नारी के रूप में सामने रखा है। सावित्री के आन्तरिक और बाहरी द्वन्द्व को प्रस्तुत करती एक रागनी देखिये–

''सुसर की सुण कैं हंसती चाती तन कर डामांडोल
पति का दुख हिरदै मैं पूरा नहीं किसे नै तोल
हंसै उजागर दुखी मन-मन में, चली पिया के साथ
हिरदै ऊपर रहै खटकती नारद जी की बात।''[15]

यह रागनी सावित्री के संयम और भावनात्मक मजबूती का परिचय देती है। यह जानते हुए भी कि उसके पति का अंत निकट है, वह स्वयं को संभाले रखती है।

लखमीचंद के प्रस्तुत सांग के गीतों की संवादात्मक शैली मार्मिक घटनाओं की प्रभाव क्षमता को बढ़ा देती है। जब सत्यवान पेड़ पर लकड़ी काटने के लिए चढ़ता है तो काल उसे घेर लेता है। सावित्री के लिए यह परीक्षा की घड़ी है। लेकिन वह आशा नहीं छोड़ती, अपने विवेक से भावनाओं और कर्तव्य के बीच संतुलन बनाए रखती है। सत्यवान और सावित्री के आपसी संवाद का नमूना देखिये–

''सत्यवान : सावित्री मेरा हाथ पकड़ कोए पाछे नै डाटै सै।
मेरी काया मैं दुख दर्द घणा मेरे हिरदे नै चाटै सै।।
सावित्री : गोडया मैं सिर धरो पति मैं हवा करूं तू सोज्या।
छोड़ पिया इस धन्धे नै इब के लकडी काटै सै।।''[16]

इस सांग की कई रागनियों में सावित्री का निडर और आत्मविश्वास से भरा चरित्र उभरकर सामने आता है। लखमीचंद ने नायिका के निर्भीक स्वभाव और अटूट आत्मविश्वास को दर्शाया है-

''बहोत सी बीरां के प्राण लिकड़ जाते डर कै।
आज बदले मैं अपणे पति के दिखा दूंगी मरकै।''[17]

यम एक उग्र और क्रूर देवता माने जाते हैं, जो एक जंगली भैंसे की सवारी करते हैं और हाथों में फन्दा लिये रहते हैं। सावित्री यमराज के विशाल शरीर और लाल नेत्रों के देखकर पहले थोड़ा भयभीत होती है लेकिन खुद को धीरज देकर क्या कहती है–

''कांपती डरती बोली धर धीर,
कहो क्या करणा चाहते वीर।
थारा लम्बा दिव्य शरीर,
कहो किस तरफ कदम उठाए।''[18]

सावित्री निडर है क्योंकि आत्म विश्वास, सत्य, और ईश्वर उसके साथ है–

''सच्ची बात कह देने मैं किसी को भी डर नहीं।
डरेंगे तो वो जिनके हिरदे के मैं हर नहीं नहीं।''[19]

भारतीय पौराणिक कथाओं में 'त्रिया हठ' (स्त्री का अडिग संकल्प) को नारी की अटल निष्ठा, आत्मबल और अपराजेय इच्छाशक्ति के प्रतीक के रूप में माना जाता है। यह केवल हठधर्मिता या जिद नहीं, बल्कि एक आंतरिक शक्ति है, जो स्त्री को अपने निर्णयों पर कायम रहने और अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने का साहस प्रदान करती है। लखमीचंद ने सावित्री के चरित्र के माध्यम से 'त्रिया हठ' का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है। यमराज जब सत्यवान के प्राण लेकर चलने लगते हैं तो सावित्री उनके साथ चलने का हठ करती है-''पाछे पाछे होल्यी चाली ध्यान मैं लगी।'' यमराज उसे मना करते हैं - ''बस तेरा यहां तक चलणा ब्होत तू सत की श्यान मैं लगी।'' लेकिन सावित्री अपनी जिद नहीं छोड़ती और यमराज से क्या कहती है–

''चलती चलती नहीं थकूंगी पिया जी के साथ मैं
जहां तक जाए मेरे पति, वहां तक पहोंचौ मेरी गति।''[20]

सत्यवान-सावित्री की कथा का अंत सभी जानते हैं कि कैसे सावित्री अपने पति के प्राण यमराज से छुड़ा लेती है। लखमीचंद के सांग का क्लाइमैक्स (चरम बिंदु) इसलिए विशेष कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने अंतिम रागनियाँ सम्वादात्मक शैली में लिखी है। रागनी में एक कली यमराज की है दूसरी सावित्री की जिससे कविता में शब्द प्रवाह उच्च कोटि का बन गया है। उन्होंने यमराज-सावित्री के संवादों के माध्यम से यह दर्शाया कि नारी में केवल भावनाओं का प्रवाह नहीं होता, बल्कि वह तर्क और विवेक से भी परिपूर्ण है। वह अपनी वाक्पटुता से यमराज को उनके ही वचनों में बाँध देती है। उनसे पुत्रवती होने का वरदान लेकर उन्हीं से पूछती है-

''जती मर्द बिन सती बीर के
कहो पुत्र किस ढाल होगा
जिब मेरे पति नै ले के चाल्या,
किस तरियां मेरे लाल होगा।''[21]

लखमीचंद ने इस सांग के माध्यम से स्त्री की बुद्धिमत्ता को लोकभाषा में सशक्त रूप से प्रस्तुत किया, जिसमे यह सामाजिक संदेश भी है कि शिक्षा और बौद्धिकता महिलाओं के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी किसी पुरुष के लिए। सावित्री केवल आस्था से नहीं, बल्कि बुद्धि और विवेक से भी सशक्त है। तर्क के माध्यम से वह यमराज को झुकाने में सफल होती है और वह हाथ मलते रह जाते हैं–

''यम हाथ मलते रह गए और दे चले वरदान को''[22]

निष्कर्ष

लखमीचंद कृत 'सत्यवान-सावित्री' सांग पौराणिक कथा का गायन मात्र नहीं, बल्कि हरियाणवी लोकसाहित्य में नारी की निष्ठा, साहस और बुद्धिमत्ता का एक प्रभावशाली चित्रण है। यह सांग सावित्री के अडिग प्रेम, धैर्य और आत्मबल को इस तरह प्रस्तुत करता है कि वह एक आदर्श पतिव्रता होने के साथ-साथ संघर्षशील और तर्कशील नारी के रूप में भी उभरती है।

इस कथा के माध्यम से लखमीचंद ने नारी के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया है। यह सांग संवादात्मक शैली, लोकभाषा की सादगी और शब्द प्रवाह के कारण और भी अधिक प्रभावशाली बन जाता है। अपने निर्णय पर अडिग रहने की प्रवृत्ति केवल पतिव्रता धर्म का आदर्श नहीं, बल्कि यह दर्शाती है कि नारी को शिक्षा, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान से युक्त होना चाहिए।

सावित्री ने पूरी कथा में परिस्थितियों को दोष नहीं दिया उनका सामना किया, रास्ता खोजकर उन पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार यह सांग नारी-शक्ति, उसके अधिकारों और शिक्षा के महत्व को स्थापित करने वाला एक प्रेरणादायक आख्यान भी है। सावित्री की यह गाथा आज भी महिलाओं को आत्मनिर्भरता, संघर्ष और अपने निर्णयों पर अडिग रहने की प्रेरणा देती है।

***एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,**
महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,
ईमेल : shivkrmac@gmail.com
****शोधार्थी (पीएच-डी)**
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ सूची

1. देवदत्त पट्टनायक, भारतीय पौराणिक कथाएँ, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण -2015, पृ.-41
2. डॉ हरदेव बाहरी, हिंदी शब्द कोश, राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली, संस्करण-2023, पृ.- 470
3. हनुमान प्रसाद पोद्दार, भारतीय नारी, गीता वाटिका प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम संस्करण-2005, पृ.-131
4. डॉ. राजेन्द्र गौतम, सांस्कृतिक मूल्यों का चितेरालोक कवि लखमीचन्द, हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा 1991 में प्रकाशित ग्रंथ ''हिन्दी साहित्य को हरियाणा का योगदान'' (संपादक: डॉ. शशि भूषण सिंगल तथा सत्यपाल गुप्त) में प्रकाशित आलेख (पृष्ठ संख्या 401-422)
5. डॉ. पूर्णचन्द शर्मा, पं लख्मीचन्द ग्रन्थावली, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकुला, प्रथम संस्करण 1992, पृ.-501
6. वही, पृ.-503
7. वही, पृ.-504
8. वही, पृ.-506
9. वही, पृ.-507
10. वही, पृ.-509
11. कृष्णचन्द्र शर्मा, हरियाणा के कवि सूर्य लखमीचन्द, हरियाणा पब्लिकेशन ब्यूरो, अम्बाला कैंट, प्रथम संस्करण 1981, पृ-81
12. डॉ. पूर्णचन्द शर्मा, पं लख्मीचन्द ग्रन्थावली, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकुला, प्रथम संस्करण 1992, पृ.-512
13. वही, पृ.- 515
14. डॉ. श्रवण कुमार, पं. लखमीचंद के सांगों में मूल्यबोध, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण -2015, पृ.- 133
15. डॉ. पूर्णचन्द शर्मा, पं लख्मीचन्द ग्रन्थावली, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकुला, प्रथम संस्करण 1992, पृ.- 516
16. वही, पृ.- 516
17. वही, पृ.- 518
18. वही, पृ.- 519
19. वही, पृ.- 521
20. वही, पृ.- 520
21. वही, पृ.- 524
22. वही, पृ.- 524

जैनेन्द्र कुमार

धर्म और नीतिगत परम्पराएँ तथा आम-आदमी

शोध सार :

किसी भी समाज में आम-आदमी को लेकर लगातार बहसें होती रहती हैं किन्तु एक आम आदमी किस तरह से धर्म से लेकर तमाम तरह की नीतिगत नियमों और बहसों में उलझकर अपने जीवन को मुश्किल बना लेता है, यह इस लेख में दिखाने की कोशिश की गई है। आम-आदमी के सहयोग के बिना न ही कोई राजनीति हो सकती है और न ही किसी देश की अर्थव्यवस्था चल सकती है, किंतु इन सबके बावजूद यह आम आदमी निरंतर छला और ठगा जा रहा है। देश की राजनीति से लेकर खुद को समाज सेवक कहने वाले अधिकांश लोग इसी आम आदमी के सहारे देश और समाज की सत्ता पर काबिज होते हैं और फिर इसी आम आदमी का दोहन करते हैं।

बीज शब्द :

आम-आदमी, खास-आदमी, धर्म और नीतिगत मूल्य, संघर्ष, संस्कार।

मूल लेख :

''मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाता है पर अपने मनचाहे ढंग से नहीं। वह उसे अपने मनचाही परिस्थितियों में नहीं अपितु ऐसे परिस्थितियों में बनाता है जो उसे अतीत से प्राप्त और अतीत द्वारा संप्रेषित होती है और जिनका उसे सीधे-सीधे सामना करना पड़ता है।''[1]

यह पंक्तियाँ मानव जाति के इतिहास, परंपरा और उसके विकास की ओर संकेत करती हैं। मनुष्य अपनी शारीरिक बनावट और सोच की वजह से अन्य सभी जीवों से अलग और श्रेष्ठ होता है। सामाजिक रूप से मनुष्य कई वर्गों में विभाजित है कहीं जाति, कहीं धर्म, क्षेत्र, भाषा इत्यादि, किंतु मुख्य रूप से मनुष्यों का विभाजन दो श्रेणियों में ही है- 'आम' और 'खास'। पहले श्रेणी में वे लोग आते हैं, जो सामान्य शब्दों में 'आम' कहे जाते हैं। आम आदमी की विडंबना यह होती है कि यह किसी भी देश या समाज को चारों तरफ से गतिमान बनाने में सबसे अहम् भूमिका निभाते हैं, बावजूद इसके अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवनभर संघर्ष करते रहते हैं। जीवनपर्यंत मूल्यों, परंपराओं, सामाजिक-पारिवारिक दायित्वों में उलझे रहने और आपसी वैमनस्य तथा संगठित न होने की वजह से, खास कहे जाने वाला वर्ग इनका जमकर शोषण करता है। खास अपनी सोच (जिसमें अपने दायरे का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाना, नियमों द्वारा दूसरों के अधिकारों का हनन, सभी मूल्यों-परंपराओं को अपने अनुसार इस्तेमाल करने का साहस आदि शामिल है) लगन और तेजी से विकास के कारण अपने को सफल बना लेता है। किसी भी देश या समाज में छोटा सा वर्ग होता है जो देश की अधिकांश जनसंख्या का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर शोषण करता है।

आम आदमी का अर्थ 'सामान्य-जन' या फिर 'मामूली-आदमी' से लिया जाता है। ऐसा वर्ग जो अपनी सामान्य जरूरतों की पूर्ति के लिए निरंतर संघर्ष करता रहता है। अपनी रोजमर्रा के जीवन व मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हर स्तर पर भिन्न-भिन्न समस्याओं से टकराता है। कमलेश्वर आम-आदमी के संघर्ष और उसकी नियति के संदर्भ में अपनी राय व्यक्त करते हुए कहते हैं- ''सामान्य जन या मामूली आदमी वह है जो कहीं भी

किसी भी क्षेत्र में नियंता नहीं है, पर हर कार्य क्षेत्र की आधारशिला है। वह अमूर्त और दार्शनिक अस्तित्वों से त्रस्त इंसान नहीं, बल्कि आदमी और आदमी के बीच भयानक रूप से विकृत और असंतुलित हो गये, सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक अधिकारों के अति से त्रस्त और शोषित आदमी है। यह वह आदमी है जो अपनी नियति और अस्तित्व का नियंता भी नहीं रह गया है। अल्प जन है जो अपनी मर्जी के मालिक हैं और बहुजन है जो अपनी मर्जी के मालिक नहीं है।''[2]

भारतीय समाज बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक, बहुधार्मिक और बहुत-सी जातियों वाला समाज है। यहाँ कई विचारधाराएँ एक साथ चलती हैं। विभिन्न जातियों-समुदायों की अलग-अलग विचारधाराएँ और पृष्ठभूमि है। हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई सबकी अपनी एक ठोस मानसिकता है, जिसके आधार पर उनकी जीवन-शैली टिकी हुई है। भारत देश अपनी इसी विशेषता के कारण विख्यात है। इन सबके बावजूद हमारे देश की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यहां धर्म और नीति के नाम पर आम आदमी के संघर्ष को हमेशा से ही ठगा जाता रहा है।

इसका एक बड़ा कारण अज्ञानता है। आम आदमी के संघर्ष को कठिन बनाने का कार्य धर्म और नीतिगत तत्व करते हैं। धर्म और नीति के नाम पर हमारे देश में नित्य-नए फरमान जारी किए जाते रहे हैं, जिनको आम-जनता किसी न किसी रूप में स्वीकार करती है। उसके द्वारा दी गई स्वीकृति ही, उसके संघर्ष को और कठिन बना देता है। धर्म और नीति की यह जकड़न, भारतीय आम-आदमी को एक तरफ जहाँ परंपरा से प्राप्त है, वहीं दूसरी तरफ वह अपनी अज्ञानता के कारण धर्म-नीति को अपने विकास के मार्ग में आने पर किनारे नहीं कर पाता, उससे ऊपर नहीं उठ पाता। एम. एन. रॉय भारत में फैले धर्म और अज्ञानता पर टिपण्णी करते हुए लिखते हैं-

''धार्मिकता कोई भारत की बपौती नहीं। यह इस देश में इतनी ज्यादा इसलिए पाई जाती है क्योंकि भारत के अलावा किसी अन्य देश में इतनी अज्ञानता नहीं पाई जाती है। धार्मिकता और अज्ञानता इत्तेफाक से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसके अलावा जिसे हम धार्मिक स्वभाव कहते हैं वह अभ्यास द्वारा अर्जित आदत है। इसलिए शिक्षित लोगों में, जो तमाम मूढ़ विश्वास तोड़ने में समर्थ हैं, धार्मिकता बराबर पाई जाती है।''[3]

एम. एन. रॉय के यह विचार भारत में धर्म और उसके स्वरूप को उसके सच्चाई के साथ प्रस्तुत करते हैं। भारतीय समाज में आम-आदमी के संघर्ष को कठिन बनाने में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है। धार्मिक कर्मकांड और परंपराओं ने आम आदमी को बहुत हद तक जकड़ा हुआ है। वह चाहते हुए भी कठिन परिस्थितियों में खुद को धर्म से अलग नहीं कर पाता। वह अपने जीवन में चल रहे विभिन्न कार्यकलापों चाहे वह उसके लिए अच्छा हो, चाहे बुरा अंततः ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार कर लेता है । एक आदमी को अपने दैनिक जीवन में अनेक तरह के धार्मिक वाक्य बोलते हुए सुना जा सकता है। जैसे-'ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होता है', 'ईश्वर इस जगत का रचयिता है, वही पालन करता है, संहारक है और ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करना पाप और धर्म के अनुसार कार्य करना पुण्य है।'

आम आदमी की यही धार्मिक मानसिकता उसके संघर्ष को और भी कठिन बना देती है। एक तरफ जहां धर्म की वजह से अधिकांश मनुष्य गलत काम करने से डरते हैं, सोचते हैं अर्थात् धर्म उनको संयमित रखता है, वहीं दूसरी तरफ यह भी सच है कि धर्म एक बहुत बड़ा कारण है आम आदमी के शोषण का। कभी आम आदमी अपनी मान्यताओं और मानसिकता के कारण संघर्ष करते हुए भी अपने अधिकार हक को छोड़ देता है, तो कभी धर्म के नाम पर ना चाहते हुए भी राजनीति का शिकार होता है। गोधरा, बाबरी जैसी घटनाओं का आम आदमी पर क्या प्रभाव पड़ा? इन घटनाओं से इनका जीवन संघर्ष कितना बाधित हुआ? और इन जैसी घटनाओं से आम आदमी को कितना फायदा होता है? यह सब गंभीर मुद्दे हैं? और इन पर सामान्य आदमी को ही गंभीरता से विचार करना चाहिए। भावनात्मक बहकावे में एक आदमी का दूसरे आदमी के खिलाफ मोर्चा खोल देना, अपने जीवन गति को बाधित करना है। अक्सर एक खास तबका इस तरह की चिंगारी को आमजन के बीच फेंककर, खुद किनारे हो जाता है और आमजन के बीच उठने वाले सांप्रदायिक आग में वह तरह तरह की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक रोटियां सेंकता है। समय-समय पर होने वाले ऐसे दंगों की वजह से आम आदमी के सामान्य जीवन और आवश्यकताओं पर सीधे-सीधे फर्क पड़ता है। रामजी सिंह ने ठीक ही लिखा है कि -

''यदि धर्म ने शांति के सरयू, करुणा की गंगा बहाई है तो उसी धर्म ने के नाम पर कुत्सित से कुत्सित अत्याचार, गर्हित से महागर्हित पाप, उत्पीड़न और दंड अमानुषिक अन्याय एवं भयानक से भयानक रक्त स्नान भी हुए हैं।''[4]

रामजी सिंह का यह कथन भारत में धर्म के नाम पर हुए दंगों को देखकर ठीक ही लगती हैं। स्वामी विवेकानंद जैसे धर्मप्राण व्यक्ति ने भी माना है कि-

''यद्यपि मानवता के लिए धर्म से बढ़कर दूसरा वरदान नहीं है, फिर भी इससे बढ़कर दूसरा अभिशाप भी सिद्ध नहीं हुआ है।''[5]

यह अनायास ही नहीं है कि जो धर्म, परार्थ एवं परमार्थ का प्रतीक है, आज वही व्यक्तिवाद के दलदल में फंसा हुआ है। हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष देश है। धर्म निरपेक्ष का अर्थ है, धर्म पूरी तरह से इस देश में निजी और व्यक्तिगत मामला है। कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का चुनाव करने और उसका अनुसरण करने के लिए पूरी तरह से स्वतंत्र है। पर यह प्रश्न विचारणीय है कि धर्म को निजी व्यक्तिगत विषय संविधान द्वारा घोषित किए जाने के बाद भावनात्मक रूप से किसी व्यक्ति को धर्म के नाम पर क्या पूरी तरह से आजादी मिली है? जिस देश में धर्म के नाम पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है क्या वहां धर्म पूरी तरह से निजी हो सकता है? देश में आये दिन धर्म के नाम पर छिटपुट दंगे होते रहते हैं, इन दंगों से प्रभावित होने वाला आम आदमी ही होता है, इन सबकी वजह से आम आदमी का संघर्ष ही मन्द पड़ता जाता है। कहीं-कहीं उसकी स्वीकार्यता इतनी कम हो जाती है कि उसके लिए दो वक्त की रोटी की व्यवस्था भी मुश्किलों में दिखने लगती है।

आम आदमी के संघर्ष को कठिन बनाने में धर्म के साथ-साथ नीति की भूमिका भी अहम रहती है। यहाँ 'नीति' से अर्थ-नैतिक दायित्व नैतिक परंपराएं या फिर यूं कहें कि नीतिशास्त्र से है।

''नीति शब्द का तात्पर्य है व्यवहार का ढंग, वह आधारभूत सिद्धांत जिसके अनुसार कोई कार्य संचालित किया जाए या लोक व्यवहार के निर्वाह के लिए नियत किया गया आधार। समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने और व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए जिन विधि-निषेधमूलक व्यावहारिक, नियमों का विधान देश, काल और पात्र के संबंध में किया जाता है, उसे 'नीति' कहते हैं।''[6]

स्पष्ट है नैतिक नियमों को बनाने की जरूरत या नीति शास्त्र का जन्म समाज को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए हुआ है। एक आदमी, दूसरे आदमी की जरूरत समझे, उसके साथ-साथ न्याय करे, ईमानदार रहे, स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरे के अधिकारों का हनन न करें, इन सब तथ्यों पर नीतिशास्त्र आधारित है। नीति शास्त्र में मनुष्य के वे सारे कर्म आ जाते हैं, जिन पर उनका नियंत्रण होता है और जिन्हें वह अपनी इच्छा अनुसार कर या छोड़ सकता है। नीतिशास्त्र के इतिहास पर विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि मनुष्यों के एकत्र होने, एक साथ काम करने और समाज के निर्माण के साथ ही अस्तित्व में आया होगा, क्योंकि किसी भी रिश्ते या समाज की नींव, अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, उम्मीद-दायित्व कर्तव्य आदि जैसे नैतिकपरक शब्दों और सिद्धांतों पर टिकी होती है।

रोजमर्रा के जीवन में आम आदमी अपने आसपास चल रहे घटनाक्रम को लेकर जो सामान्य सी टिप्पणियाँ करता है, वह सभी लगभग नैतिक परंपराओं और नीतिशास्त्र के अंतर्गत आ जाते हैं। जैसे-'अमुक कार्य उचित या अनुचित है', 'उसने जो किया वह ठीक नहीं है', 'अमुक का कर्तव्य यह नहीं था, वह था', 'वह अपनी जिम्मेदारी से भाग रहा है।' इत्यादि। इस तरह के सारे वाक्य नीतिशास्त्र या नैतिक परंपराओं में आ जाते हैं। सामान्यतः हमारे समाज का एक बड़ा वर्ग इन परम्पराओं और नीतिगत वाक्यों को धर्म के साथ भी जोड़कर देखता है। जैसे- 'अमुक ने जो किया गलत किया, ईश्वर इसके लिए उसको सजा जरूर देगा।' इस तरह के नैतिकपरक परम्पराओं और मान्यताओं के साथ जकड़े होने के कारण आम आदमी, सामान्य जीवन में अपने संघर्ष को और कठिन बना लेता है।

असल में, इन परंपराओं और जिम्मेदारियों के कारण समाज बेहद संयमित और व्यवस्थित रहता है और इनको ना मानने की सूरत में समाज बजरंग और बदसूरत हो जाएगा, चारों तरफ अव्यवस्था और अराजकता होगी, किंतु यह भी एक कड़वी सच्चाई है कि आम आदमी का संघर्ष इन मान्यताओं के कारण बेहद प्रभावित होता है। आदमी को आम और खास बनाने में, विभाजित करने में,

इन नैतिक और धार्मिक परंपराओं तथा मान्यताओं की अहम् भूमिका होती है। एक आदमी जो अपने संस्कार में भाषा, व्यवहार, हंसना-खेलना तथा रिश्तों को समझता है, वह सहज ही इन नैतिक परंपराओं और जिम्मेदारियों को भी धीरे-धीरे यह करता है वह जीवन भर अपनी प्यास और भूख की तरह इन रिश्तों तथा इन्हें नैतिक परंपराओं और जिम्मेदारियों को भी धीरे-धीरे ग्रहण करता है। वह जीवन भर अपनी प्यास और भूख की तरह इन रिश्तों तथा इन नैतिक परम्पराओं को भी महसूस करता है, साथ लेकर चलता है, इन्हें सामान्यतः नहीं छोड़ता। उसके साथ अगर कुछ गलत होता है तो वह विरोध जरूर करता है, पर एक संयमित ढंग से, अपनी नैतिकता को ध्यान में रखते हुए, जिसकी वजह से अधिकांश जगह पर उसे हार का सामना करना पड़ता है और ऐसी स्थिति में वह सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देता है। उसकी श्रद्धा उसके नैतिक संस्कार उसके दिमाग में यह बात पैदा करते हैं कि-''जाने दो ईश्वर सब कुछ देख रहा है, उसने मेरे साथ जो अन्याय किया है, उसका फल उसे जरूर मिलेगा।'' वह अपने साथ किए गए कार्य का विरोध अपने संस्कारों को छोड़कर नहीं करता, जिसकी वजह से उसे अपने संघर्ष में हार का सामना करना पड़ता है। इसके ठीक विपरीत खास वर्ग में आने वाले तबके के लिए इस तरह के संस्कार का सीमित मूल्य है। ऐसा नहीं है कि वह इन तथ्यों को स्वीकार नहीं करते, वह भी करते हैं, पर अपनी शर्तों पर जहां उनको जरूरत होती है, वह इन सभी मुद्दों को देखते- सुनते और पालन करते हैं पर अपने हित को ध्यान में रखकर जहां यह नियम और परंपराएं उनके हित के आड़े आती हैं, वहाँ वह इनको किनारे कर देते हैं।

आज महामारी और महंगाई के जिस दौर से आम आदमी गुजर रहा है, ऐसे समय में उसके हालात को सुधारने के लिए, उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार को जहां प्रयास करने चाहिए, वहाँ विभिन्न सरकारों को चलाने वाले आम आदमी के प्रतिनिधि ही अपने ही स्वार्थों में घिरे हुए नजर आती हैं। इन सबके बीच आम आदमी कहीं दम तोड़ता, तो कहीं घुट-घुट के और अपने गुस्से और आंसुओं को पीता हुआ जीवन व्यतीत करता हुआ नजर आता है। इस आदमी के सहयोग के बिना ना ही कोई राजनीति हो सकती है और ना ही किसी देश की अर्थव्यवस्था चल सकती है, किंतु इन सबके बावजूद यह आम आदमी निरंतर छला और ठगा जा रहा है। देश की राजनीति से लेकर खुद को समाज सेवक कहने वाले अधिकांश लोग इसी आम आदमी के सहारे देश और समाज की सत्ता पर काबिज होते हैं और फिर इसी आम आदमी का दोहन करते हैं।

सहायक प्रोफेसर
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

---

lUnHkZ lwph

1. कार्ल मार्क्स - लुई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रुमेर- संकलित रचनाएँ, भाग-1, पृ. 133-134
2. कमलेश्वर - मेरा पन्ना, पृ. 115
3. एम.एन. रॉय - हमारा सांस्कृतिक दर्प, पृ. 32
4. रामजी सिंह- भारतीय चिंतन और संस्कृति, पृ. 250
5. स्वामी विवेकानंद- ज्ञानयोग, पृ. 372
6. डॉ. अमरनाथ - हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृ. 302

महाकवि तुलसी की नारी दृष्टि

डॉ. वंदना

हिंदी भक्तिकाव्य मध्ययुगीन जड़ता और जतनशीलता के बीच मनुष्य के हृदय की पुकार के रूप में ध्वनित हुआ। सामंती शासन के भयावह शोषण ने जब समाज को विजित-विजेता, धनी-निर्धन, स्वामी-सेवक के रूप में बाँट दिया तब स्वतंत्रता और समानता का उद्घोष व्यर्थ सा हो गया। सर्वत्र अमानवीय शोषण एवं अन्याय का अंधकार छा गया। मनुष्य-जीवन एवं पशु-जीवन के बीच का अंतर समाप्त हो गया। विलासितापूर्ण जीवन जीने की दुर्दमनीय लालसा ने समाज को पतन के गर्त में धकेल दिया। नारी को विलास की वस्तु समझा जाने लगा। जमींदार से लेकर राजा तक में अनेक नारियों के साथ भोग-विलास की इच्छा प्रबल हो गई, इसी इच्छा के कारण उनमें परस्पर युद्ध होने लगे।

हिंदू कन्याओं का मुसलमानों द्वारा क्रय किया जाने लगा। धनाढ्य जन अपने मनोरंजन के लिए कुलीन कन्याओं का अपहरण करवाने लगे। अत: कन्याओं को हिंदू राजाओं एवं सम्पन्न मुसलमानों से सुरक्षित रखने के लिए बाल-विवाह जैसी कुप्रथा आरम्भ हो गई। पति एवं ससुराल जैसे शब्दों से अनभिज्ञ नन्हीं बालिका अनेकानेक कष्ट भोगने के लिए विवश हो गई। विधवा विवाह पर रोक होने के कारण पति की मृत्यु के उपरांत वह जीवन पर्यंत अनेक यंत्रणाएँ सहन करने लगी। उसे शुभ कार्यों से दूर रखने के साथ-साथ परिवार में अछूत समझा जाने लगा। समाजिक रूढ़ियों एवं यंत्रणाओं से भरे जीवन से बचने के लिए वह सती होना ही अच्छा समझने लगी। सती प्रथा को धार्मिक रूप देकर उसे गौरवान्वित कर दिया गया। बहुविवाह की प्रथा से सती प्रथा को और अधिक बढ़ावा मिला।

पर्दा प्रथा भी इस युग में नारी की लज्जा और चरित्र की आवश्यक अनिवार्यता के रूप में चल पड़ी। परिणामत: नारी के अपनी इच्छा से देखने एवं बोलने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। पुरुष ने अपनी कायरता एवं भोग करने के एकाधिकार को बनाए रखने के लिए नारी पर अनेक प्रतिबंध लगा दिए और उसे पशुवत मूक जीवन जीने के लिए बाध्य कर दिया। धार्मिक सम्प्रदायों ने भी नारी-शोषण को बढ़ावा देकर उसे घोर यंत्रणाओं से भरे जीवन की ओर धकेल दिया। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण नारी-जीवन शनै:-शनै: अन्याय एवं अत्याचार से ग्रस्त हो गया।

कोई भी साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अत: भक्तिकाल की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव महाकवि तुलसीदास के काव्य पर पड़ना स्वाभाविक था। भक्तिकालीन कवियों–कबीर, सूर आदि के समान ही तुलसी ने भी अपनी रचनाओं में अपना नारी संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके नारी संबंधी विचारों का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने नारी संबंधी विचारों को दो रूपों में व्यक्त किया है। प्रथम– 'रामचरितमानस' में नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण के रूप में एवं द्वितीय–'मानस' में उद्धृत सैद्धांतिक उक्तियों के रूप में।

'रामचरितमानस' में तुलसी ने दो प्रकार के नारी पात्रों के चरित्र का चित्रण किया है–राजा या पति के उत्थान में सक्रिय योगदान देने वाली श्रेष्ठ नारियाँ एवं अल्पबुद्धि के

वशीभूत राजा या पति के विध्वंस का कारण निम्न नारियाँ। तुलसी ने श्रेष्ठ नारियों के चारित्रिक विश्लेषण में जनकसुता सीता का चित्रण प्रमुख रुप से किया है जो परंपरागत आदर्श भारतीय नारी की प्रतिमूर्ति हैं। वे जगज्जननी आद्याशक्ति हैं तथा अलौकिक गुणों से युक्त हैं। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य पतिव्रत धर्म है। 'बरवै रामायण' के बालकाण्ड में जहाँ तुलसी ने सीता के अद्वितीय रूप का वर्णन किया है वहीं 'जानकी मंगल' में उनके विवाह का वर्णन है। कवि ने 'कवितावली' की भावभूमि पर सीता का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। 'गीतावली' के विवाह प्रसंग में सीता के रूप-सौंदर्य का चित्रण है।

रामचरितमानस में तुलसी ने सीता को मध्ययुगीन परिवेश के अनुसार नारीत्व के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। उस युग की नारी की स्थिति में नारी जीवन की चरम सफलता पत्नीत्व में ही कल्पित की गई थी, इसलिए तुलसी की दृष्टि में राम का अपनी पत्नी सीता से ही परिचय है।

''बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सियं सयननि॥''[1]

सीता के अतिरिक्त तुलसी ने कौशल्या, सुनयना, मंदोदरी तथा तारा आदि का भी श्रेष्ठ नारियों के रूप में चित्रण किया है। रामचरितमानस में तुलसी ने कौशल्या को पतिव्रत धर्म की अग्रदूता होने के साथ-साथ मातृत्व के आदर्श के रूप में भी प्रस्तुत किया है, इसलिए वे राम के वनवास की घटना सुनकर उद्विग्न तो होती हैं पर धर्म-नीति एवं परिवार-नीति में निपुण होने तथा भरत व राम को समान समझने के कारण भरत के राज्याभिषेक को स्वीकार कर लेती हैं।

गीतावली में तुलसी ने कौशल्या को सूरदास की यशोदा के समान पुत्र के प्रति वात्सल्य से परिपूर्ण जननी के रूप में वर्णित किया है–

''पालने रघुपति झुलावै,
लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै॥''[2]

कवितावली में उनका चित्रण सरल हृदया नारी के रूप में किया गया है।

सुमित्रा तुलसी द्वारा चित्रित श्रेष्ठ नारी पात्रों में से एक हैं। क्षात्रतेज, स्वाभिमान, विवेक, त्याग और संयम का अद्भुत समन्वय है सुमित्रा में। उनकी पात्र-स्तुति का प्रमुख गुण है–'राम के प्रति अनन्य निष्ठा'। सुमित्रा के व्यक्तित्व अंकन में भी तुलसी का यही दृष्टिकोण प्रधान रहा है। उनका मातृत्व राम के प्रति भक्ति में समाहित है। सुमित्रा का प्रथम उल्लेख पायस विभाजन में मिलता है। तुलसी ने सुमित्रा को स्नेहमयी माता, मंगल कार्यों को सम्पन्न करने में कुशल तथा आदर्श गृहिणी के रूप में प्रस्तुत किया है।

''बिबिध बिधान बाजने बाजे।
मंगल मुदित सुमित्रां साजे॥''[3]

जनक की भार्या तथा सीता की माता के रूप में सुनयना का गरिमामय तथा प्रभावशाली अंकन तुलसी ने किया है। कवि ने सुनयना को कोमलता एवं वत्सलता आदि गुणों से विभूषित दिखाया है। इसीलिए विश्वामित्र द्वारा राम को दिया गया धनुर्भग का आदेश उनके मातृहृदय को व्याकुल कर देता है।

''सखि सब कौतुकु देखनिहारे।
जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं।
ए बालक असि हठ भलि नाहीं॥''[4]

सुनयना के व्यक्तित्व में सुयश, पुण्यकर्म तथा सौंदर्य साकार हो उठे हैं।

''सुजसु सुख्रत सुख सुंदरताई।
सब समेटि बिधि रची बनाई॥''[5]

असुर-राजा रावण की धर्मपत्नी मंदोदरी के चरित्र-चित्रण से तुलसी की नारी के प्रति उदार भावना और प्रगाढ़ होकर उभरी है। रावण की पत्नी होने पर भी वह अधर्म एवं अनाचार की विरोधिनी है तथा करणीय-अकरणीय का विवेक कर सकने और उचित सुझाव देने में भी समर्थ है। उसमें राजसी गरिमा और विवेक का अद्भुत समन्वय है। रावण के प्रति निष्ठावान होते हुए भी वह राक्षसी प्रवृत्तियों से परिचालित न होकर रामभक्ति की ओर उन्मुख है। राम की शक्ति और शौर्य से वह परिचित है। उसे विश्वास है कि राम को जीत सकना रावण के लिए संभव नहीं है, इसलिए वह रावण को राम के साथ युद्ध न करने का परामर्श देते हुए सुझाव देती है–

''कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जस लेहु॥''[6]

अपने स्वामी रावण की कल्याण कामना ही मंदोदरी

का एकमात्र उद्देश्य है। वह राम-विमुखता को ही उसके विनाश का कारण मानती है–

''राम बिमुख अस हाल तुम्हारा।
रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥''[7]

वानरी तारा को तुलसी ने विशेष महत्व नहीं दिया है। उसका आवश्यक उल्लेख भर है, वह पर्याप्त बुद्धिमती भी है। तुलसी के राम करुणामय एवं भक्तों पर कृपा करने वाले हैं। अत: उनकी कृपा से वानरी तारा में भी माया के स्थान पर ज्ञान जाग्रत हो जाता है। वह भक्त तो नहीं, राम की कृपापात्र अवश्य है। वानरी तारा वन्य नारी है, जहाँ पतिव्रत जैसे मूल्य नहीं किन्तु जीवित पति के प्रति निष्ठा उसमें है।

नारी पुरुष के समान ही समाज का महत्वपूर्ण अंग है। कवि शिरोमणि तुलसीदास ने जिस आधार पर समाज को उत्तम और अधम श्रेणियों में विभक्त किया है उसी आधार पर अपने नारी पात्रों को भी श्रेष्ठ एवं निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। तुलसी ने निम्न नारी पात्रों के लिए प्राय: परंपरागत सिद्धांतोक्तियों को उद्धृत किया है जो तत्कालीन समाज में रच बस गई थीं।

'मानस' में वनवास प्रसंग से पूर्व कवि ने कैकेई का विशेष उल्लेख नहीं किया है। महाकवि तुलसी ने राम के वनवास, दशरथ के मरण और अयोध्या पर शोक के वज्रपात का कारण होने पर भी कैकेई के चरित्र को उदात्त बनाया है। यद्यपि कैकेई राम से अत्यधिक स्नेह करती है किन्तु मंथरा द्वारा उकसाए जाने पर पुत्र की कल्याण कामना हेतु राजा दशरथ के समक्ष दो वरदानों के रूप में 'भरत के लिए राज्य' तथा 'राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास' का प्रस्ताव रखती है, जिसके परिणामस्वरूप वह वैधव्य और राज्य-ध्वंस का कारण बनती है।

तुलसी ने मंथरा का दुष्टा अर्थात् खलनारी के रूप में चित्रण किया है। राम के वनवास का कारण देवताओं के षड्यंत्र से सरस्वती द्वारा प्रेरित मंथरा की बुद्धि है। वह अत्यधिक कलुष के कारण रघुवंश के अंत का कारण बनती है। इसी कारण उसे भरत एवं शत्रुघ्न की प्रताड़ना भी सहनी पड़ती है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में मंथरा को कुबुद्धि, कुटिल, कुरूप, कुजाति और कैकेई की दासी के रूप में प्रस्तुत किया है।

''नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकेई केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥''[8]

'मानस' में मंथरा का वागवैदग्ध्य दृष्टव्य है। वह अत्यंत नम्र रहकर स्वयं को राम और कौशल्या के उत्कर्ष तथा भरत और कैकेई के अपकर्ष से असंपृक्त रखती है।

''कोउ नृप होउ हमहि का हानी।
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥''[9]

इस प्रकार तुलसी ने मंथरा को कैकेई की विशेष सेविका होने के साथ-साथ दैवी षड्यंत्र की पात्र के रूप में भी प्रस्तुत किया है।

महाकवि तुलसी ने 'मानस' में 'शूर्पणखा' का उल्लेख रावण की भगिनी के रूप में किया है। शूर्पणखा का चरित्र तुलसी की दृष्टि में अवश्य निंदनीय है। तुलसी ने नारी के शील और मर्यादा को अत्यधिक महत्व दिया है। तत्कालीन समाज में बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी। एक पत्नीत्व के अनुगामी राम और वनवासी लक्ष्मण के प्रति कामातुर शूर्पणखा ने उनकी दृष्टि में नारीसुलभ शील का उल्लंघन किया था। फलस्वरूप उसके अंग भंग कर दण्ड का विधान किया गया। यहाँ उनके नारी-विषयक प्रेम व काम के प्रति मर्यादित दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार राम-वनवास की घटना का मूल कारण मंथरा है, उसी प्रकार सीता-हरण का मूल कारण शूर्पणखा है। तुलसी ने शूर्पणखा का चित्रण भी मंथरा के समान ही अत्यल्प किया है। रामकथा जिस सांस्कृतिक संदर्भ की कथा है, उसके मूल में शूर्पणखा का चरित्र है। तुलसी की सीता जहां संयम का आदर्श प्रस्तुत करती हैं, शूर्पणखा वहीं भोगवादी, मर्यादा और लज्जा की सीमाओं के अतिक्रमण की चरम स्थिति का द्योतन तथा असत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है।

उत्तर-वैदिक काल से निरंतर नारी संबंधी विचारधारा में परिवर्तन होने लगा। पुरुष के साथ उसके कार्यों में हाथ बँटाने वाली उसकी समकक्ष स्त्री की स्थिति क्रमश: ब्राह्मणों, स्मृतियों, पुराणों में निम्न होती गई और मुगलों के द्वारा भारत पर साम्राज्य स्थापना के उपरांत भी नारी की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। 'मानस' में शबरी द्वारा कही गई यह उक्ति निम्न या अछूत नारी के हृदय उद्गारों को प्रकट करती है–

''अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महं मैं मतिमंद अघारी॥''[10]

तुलसी ने निम्न नारी पात्रों को लोक ही नहीं, वेद-विधि के अनुसार भी हीन माना है। उनका वेद-विधि से तात्पर्य

शास्त्रीय स्मृतियों एवं संहिताओं से है जिनमें क्रमशः नारी की हीनता व अक्षमता का चित्रण बल पकड़ता गया। नारी पुरुष की अर्धांगिनी के पद से वंचित हो दासी के रूप को धारण करने लगी। उसे जहाँ एक ओर वेदविहीन, शास्त्रादि ज्ञान से शून्य होने की उपाधि से विभूषित किया गया वहीं दूसरी ओर बौद्धिक हीनता के लांछन से भी लांछित किया गया। तुलसी ने भी अधम नारी को मंदमति एवं गँवार माना है। तुलसी समाज के अन्य वर्गों के समान ही परिवार एवं समाज में नारी वर्ग के मर्यादा में रहने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार उसका अतिक्रमण करने से वह ताड़ना अथवा डाँट-फटकार की अधिकारिणी बन जाती है।

''ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी॥''[11]

नारी का अबला और पराधीन स्वरूप दीर्घकाल से भारतीय शास्त्रों में व्यंजित होता रहा है। नारी की स्वतंत्रता शास्त्रों को पूर्णतः अमान्य थी इसीलिए उसे कुमारावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना पड़ता था। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। तुलसी ने भी इसी आशय से नारी स्वातंत्र्य का विरोध किया है।

''जिमि सुतंत्र भएं बिगरहिं नारीं॥''[12]

मानस में नारी के आठ अवगुण–साहस, झूठ, चंचलता, छल (माया), भय, अविवेक, अपावनता और निर्दयता, मिलते हैं।

''नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥''[13]

तुलसी ने कटूक्तियों के रूप में नारी को माया, अपरा अथवा अविद्या तथा पराविद्या–जिसको आद्याशक्ति भी कहा गया है, दोनों रूपों में चित्रित किया है। उन्होंने कबीर के समान नारी को मुख्यतः भौतिक प्रपंचों एवं बंधनों का साधन मात्र नहीं माना है।

अतः तुलसी के नारी संबंधी विचारों से यह स्पष्ट है कि उनमें पर्याप्त विरोधाभास है। तुलसी के नारी संबंधी दृष्टिकोण में यह विरोधाभास वस्तुतः तत्कालीन समाज में नारी संबंधी मान्यताओं पर आधारित था। कुछ विद्वान तुलसी को नारी निंदक मानते हैं, किन्तु तुलसी के प्रति उनकी यह अवधारणा उचित नहीं है। तुलसी ने खल या दुष्टों के समान ही निंदनीय कार्य करने वाली नारी की भी आलोचना की है। इस आधार पर उन्हें नारी निंदक नहीं कहा जा सकता। तुलसी नारियों को परिवार, समाज व राज्य की परिधि में रखने के समर्थक अवश्य थे, वे नारी-जीवन में मर्यादा व संतुलन को अत्यधिक महत्व देते थे। जिस प्रकार तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म के परिष्कृत रूप को समाज तथा राज्य में संतुलन रखने वाला तत्व माना है उसी प्रकार सामाजिक परंपराओं एवं नियमों को नारी वर्ग को मर्यादित व संतुलित करने वाला बताया है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि तुलसी के नारी पात्र औपचारिक न होकर पुरुष पात्रों के समान ही महत्वपूर्ण हैं। वे प्रमुख घटनासूत्रों से जुड़े ही नहीं हैं, वरन् उनके संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाते हैं। तुलसी ने समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन-मूल्यों तथा उनकी सभ्यता, संस्कृति को इन नारी पात्रों के माध्यम से रूपायित किया है।

एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
E Mail : vandana@jdm.du.ac.in

---

lUnHkZ lwph

1. रामचरितमानस, तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, एक सौ तैंतालीसवां संस्करण (सटीक, मझला साइज). संवत् 2081, पृ. 399
2. गीतावली, तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, चौदहवां संस्करण, संवत् 2041, पृ. 59
3. रामचरितमानस, तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, एक सौ तैंतालीसवां संस्करण (सटीक, मझला साइज). संवत् 2081, पृ. 293
4. वही, पृ. 217
5. वही, पृ. 272
6. वही, पृ. 740
7. वही, पृ. 808
8. वही, पृ. 317
9. वही, पृ. 319
10. वही, पृ. 611
11. वही, पृ. 705
12. वही, पृ. 640
13. वही, पृ. 720

धीरेन्द्र बहादुर सिंह

मध्यवर्गीय संकट और मुक्तिबोध की कहानियाँ

मुक्तिबोध मूलत: कवि हैं। कहानियाँ उनकी कविताओं का 'बाई प्रोडक्ट' हैं। विचार जब कविता में नहीं समा पाता तो उसे कहानी का रास्ता पकड़ा दिया जाता है। कई बार तो वे एक ही शीर्षक से कविता और कहानी दोनों लिख जाते हैं। ''मुक्तिबोध ने स्वयं स्वीकार किया है कि जब कोई विचार या अनुभव कविता नहीं बन पाता तो वे उसे कहानी बना देते हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि मुक्तिबोध की अधिकांश कहानियाँ अवधारणात्मक (कॉनसेप्शनल) हैं वे किसी विचार या धारणा को पहले अपने मस्तिष्क में बुनते हैं फिर उसे कहानी के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। दूसरी बात यह है कि उनकी कहानियाँ उनकी कविताओं से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उनकी कहानियाँ, उनकी कविताओं की बाई प्रोडक्ट हैं। विचार जब कविता नहीं बन पाते तब कहानियाँ बनते हैं।''[1] उनकी कविता चरम बिंदु पर पहुँचकर गद्यानुवाद होने लगती है। उनकी कहानी में हमेशा कविता होने की संभावना बनी रहती है इसलिए निर्मल वर्मा उसे -'लिरिकल गद्य' कहते हैं। ''वे कवि थे किंतु उनका गद्य - वे कहानियाँ हों या डायरी उनसे बहुत दूर हैं। जिसे हम काव्यात्मक या लिरिकल गद्य कहते हैं। उलटे उसमें पठार-सी कठोरता और पथरीलापन है। जिसे पढ़कर कोई कल्पना नहीं कर सकेगा कि वह एक ऐसे कवि का गद्य है जिसकी मूल संवेदना कविता में व्यक्त होती है। किंतु वह कहानीकारों का गद्य भी नहीं है जिसमें पात्रों की नियति घटनाओं द्वारा उद्‌घाटित होती है... मुक्तिबोध की कहानियों में उद्‌घाटित कुछ नहीं होता। पहले वाक्य से अंतिम पूर्ण विराम तक सब कुछ सपाट निश्चित पूर्व निर्धारित जान पड़ता है मध्यवर्ग की जिंदगी सा जिसमें कुछ भी नहीं होता। पहले भी था जो हमेशा रहेगा। एक अनवरत अंतहीन चक्कर में घूमता चक्र किंतु यदि सब कुछ पूर्व निर्धारित हो तो उम्मीद और इंतजार किस बात का, किस घटना के होने की तैयारी में उनकी कहानियाँ प्रतीक्षा करती जान पड़ती हैं, यह होने वाली घटना कोई और नहीं कविता है। कहानी में कविता होने की संभाव्य घटना।''[2]

यही कारण है कि 'ब्रह्मराक्षस' कविता में है तो कहानी में भी। कविता में वह अभिशप्त बुद्धिजीवी है तो कहानी में भी। कविता में बावड़ी में कैद है तो कहानी में महल में। विचार (ज्ञान) को क्रिया में न बदल पाने के द्वंद्व के बीच कविता का 'ब्रह्मराक्षस' फंसा हुआ है तो कहानी के 'ब्रह्मराक्षस' को भी मुक्ति ज्ञान के बांट देने से ही मिलती है। मुक्तिबोध के 'अभिशप्त' और 'निर्वासित जीवन' की पीड़ा 'ब्रह्मराक्षस' ही व्यक्त कर सकता है।

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
और मर गया -

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत

संगत, पूर्ण निष्कर्षों तक
पहुँचा सकूँ।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 17)

कविता में ब्रह्म राक्षस का काव्यनायक शिष्य होना चाहता है जिससे कि 'ब्रह्मराक्षस' का अधूरा कार्य पूरा करके वह उसे मुक्ति दिला सके। कहानी के 'ब्रह्मराक्षस' को भी शिष्य मिल जाता है। 'शिष्य! मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं ब्रह्मराक्षस हूँ किंतु फिर भी तुम्हारा गुरु हूँ। मुझे तुम्हारा स्नेह चाहिए। अपने मानव जीवन में मैंने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला किंतु दुर्भाग्य से कोई योग्य शिष्य न मिल पाया कि जिसे मैं समस्त ज्ञान दे पाता। इसीलिए मेरी आत्मा इस संसार में अटकी रह गयी और मैं ब्रह्म राक्षस के रूप में यहाँ विराजमान रहा। ...मैंने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी। ज्ञान का पाया हुआ उत्तरदायित्व मैंने पूरा किया।''[13]

'अंधेरे में' कहानी का नायक रात को सोई हुई सड़क पर घूमने निकलता है। शहर का पूरा परिवेश आत्मीय होते हुए भी ''उसका शरीर काँप गया। उसकी बुद्धि, उसका विवेक काँप गया। वह यदि कदम न रखता तो एक ही शरीर पर - न जाने वह बच्चे का है या स्त्री का, बूढ़े का या जवान का - उसका सारा वजन, एक ही पर जा गिरे। वह क्या करे? वह भागने लगा एक किनारे की ओर। परंतु कहाँ-कहाँ तक आदमी सोए हुए थे। उसके शरीर की गरम कोमलता उसके पैरों से चिपक गयी थी...। वह पुण्यात्मा विवेक शक्ति केवल काँप रही थी...। मानो इस गहरे अंधेरे में भी भूखी आत्माओं की हजार-हजार आँखें उसकी बुजदिली, पाप और कलंक को देख रही हों।''[14]

उनकी 'कहानी' की तरह कविता भी ऐसी ही भयानक अनुभवों से गुजरती है। यह बेचैनी इन पंक्तियों में देखी जा सकती है -

अधूरी और सतही जिंदगी के रास्तों पर गर्म,
अचानक सनसनी भौंचक
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन-सी वह आग?

भयानक, हाय, अंधा दौर
कि जीवित छातियों पर और चेहरों पर
कदम रखकर
चले हैं पैर!
अनगिन अग्निमय तन-मन व आत्माएँ

कुचलता चल निकलता हूँ।''

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 156)

मुक्तिबोध की कहानियों में दो तरह के संकट उजागर होते हैं - एक है बुद्धिजीवी का संकट और दूसरा है - 'मानव सभ्यता का संकट'। बुद्धिजीवी के संकट के रूप में 'विपात्र' है तो मानवता के संकट के रूप में ''कलॉड ईथरली'। ''बुद्धिजीवी के संकट को, जिसे आचरण का संकट कहना ज्यादा सही होगा... मगर 'क्लॉड ईथरली' के जरिए उन्होंने समूची सभ्यता को नंगा कर दिया। 'क्लॉड ईथरली - चाबुक की तरह है जो जख्म-जैसी स्मृति छोड़ जाता है।''[15]

मध्यवर्गीय बौद्धिक की विवशता को 'विपात्र' में देखा जा सकता है। एक तरफ उसे व्यवस्था का समर्थन करके रहना होता है तो दूसरी तरफ मन से उसके साथ नहीं होता है। इसी विवशतावश भनावत कहता है कि - ''...सच कहता हूँ इसलिए बदमाश कहा जाता हूँ। मैं अब तक व्यक्ति, स्थिति और परिस्थिति को न देखकर बातें करता था। मैं बदमाश था। अब सोच-समझकर अपने-आपको भीतर छिपाकर, 'मौका' देख करके बात करता हूँ। इसलिए लोग मुझे 'अच्छा' समझते हैं। ... वास्तविकता यह है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से पूंछ हिलाते हैं। मेरी भी पूँछ हिलाने का अपना तरीका है।''[16]

दरअसल मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी की बेचैनी मुक्तिबोध की अपनी बेचैनी थी। मध्यवर्ग को वे जनोन्मुख बनाना चाहते थे। उसे प्रतिक्रियावादी दायरे से निकालकर प्रगतिशील वर्ग से जोड़ना चाहते थे। ''मुक्तिबोध के चारों ओर मध्यवर्ग का नैराश्य, कुंठा, अवसाद, आत्मवंचना और आत्मपरस्ती थी। मध्यवर्गीय संकट को मुक्तिबोध ने जितना समझा अन्य किसी लेखक ने नहीं समझा।... मुक्तिबोध की कहानियाँ मध्यवर्ग के विरुद्ध जिरह है। वे मध्यवर्ग के एक लेखक का आत्मस्वीकार मात्र नहीं है बल्कि अपने वर्ग के संहार का स्वप्न भी है... उनकी कहानियों में केवल एक ही पात्र है जो अलग-अलग नामों में अलग-अलग रूपों में और कभी लिंग परिवर्तन कर उपस्थित होता है। यह पात्र मध्यवर्ग के आध्यात्मिक संकट का गवाह व्याख्याता है, पक्षधर, भोक्ता, विरोधी सब कुछ है। कुछ हद तक पात्र स्वयं मुक्तिबोध है और कुछ हद तक वह व्यक्ति है

जो मुक्तिबोध के साथ चलता है। वह केवल मुक्तिबोध की सुनता ही नहीं सुनाता भी है। नसीहत भी देता है। उन्हें फुसलाने की कोशिश भी करता है। मुक्तिबोध की कहानियों में दो पात्रों के बीच एक स्वयं मुक्तिबोध और दूसरा मुक्तिबोध का सहपात्री - एक अनंत वार्तालाप है।''[7]

मुक्तिबोध की कहानियाँ एक निश्चित सत्य की तलाश में रहती हैं। गरीबी, बेकारी, संयुक्त परिवार की घुटन, आत्महत्या, मृत्यु जैसी जानी-पहचानी स्थितियाँ मुक्तिबोध की कहानियों में हैं। पूरी कहानी एक वेदना में लिपटी रहती है। निर्मल वर्मा के शब्दों में - ''वेदना की छाया उन पर मंडराती रहती है। मुक्तिबोध की कहानियाँ यदि हम उन्हें सचमुच कहानियाँ कह सकें, इस सर्वव्यापी वेदना को पात्रों या घटनाओं द्वारा उतना व्यक्त नहीं करती वह सड़क के दोनों ओर एक ठहरे, पथराए कालखंड की तरह छायी रहती है जिसके बीच मुक्तिबोध के पात्र अपने या दूसरे से बात करते हुए निकल जाते हैं। यह अद्‌भुत है कि मुक्तिबोध की कहानियों में सब कुछ स्थिर है सिर्फ बात चलती है। यह चलती हुई बात जिंदगी की ठहरी हुई बात को समझना चाहती है उनकी परत-दर-परत खोलती जाती है। किसी एक कहानी में यदि एक परत खुलती है तो दूसरी कहानी में उसी बात की दूसरी बात जब तक पूरी नहीं होगी कहानी कैसे समाप्त होगी? इसलिए मुक्तिबोध की कोई कहानी साफ-सुथरी संपूर्ण रचना नहीं बन पाती, वह एक भटकती हुई आत्मा की डायरी है। डायरी में हर सत्य अगले पन्ने के सत्य की प्रतीक्षा में अधूरा पड़ा रहता है।''[8]

मुक्तिबोध की कहानियाँ गरीब मध्यवर्गीय जीवन के अंधेरे कोनों का अवलोकन करती हैं। इस घुटन भरे गरीब जीवन में - 'खयालों से माथे का दुखना नहीं थमता, देह की थकन दूर नहीं होती, असंतोष की आग और बेबसी का धुआं दूर नहीं होता।''[9] 'काठ का सपना' का नायक 'भीतरी अलगाव' को झेल रहा है। वह समाज और व्यक्ति के भीतरी द्वंद्वों के कारण संतुलन नहीं साध पाता। उसका अंतर्मन जड़ हो गया है। उसका पारिवारिक जीवन जड़ हो गया है। वह और उसकी पत्नी ''दोनों एक-दूसरे से कुछ कहना चाहते हैं, कहना आवश्यक है। किंतु वे जानते हैं कि दोनों को मालूम है कि उन्हें एक-दूसरे से क्या कहना है। उस पूर्व-ज्ञान को वे कहना-सुनना नहीं चाहते। वह पूर्व-ज्ञान वेदना-कारक है इसलिए, उसे न कहना ही अच्छा!''[10] अंत में एक सपना जिसमें वह और उसकी पत्नी एक 'निष्प्राण काठ' में बदल गए हैं। और सिर्फ अपनी बच्ची के लिए कर्तव्यों का निर्वहन कर रहे हैं - ''उस बाल-मूर्ति की रक्षा करनी होगी। उन दोनों काठ-लठ्ठों का यही कर्तव्य है।''[11]

मुक्तिबोध के चरित्र भीतर और बाहर के द्वंद्व को झेलने के लिए अभिशप्त हैं। परिवार से टूटकर जीना, फिर भी उससे अटूट बने रहना 'नयी जिंदगी' के रमेश की नियति है ''घर उसे काटने को दौड़ता है। उसका कारण था दो भिन्न वातावरण। एक वह जो उसके मन में है, दूसरा वह जो उसके घर में है। दुनिया के बारे में सारी योजनाएँ अपनी जेब में लेकर चलने वाले लोगों के जीवन में, उनकी सारी सफलताओं के बावजूद अगर मैं उनमें अव्यवस्था, असंगठन और आवारागर्दी देखता हूँ तो न जाने क्यों, मुझे बुरा लगता है।''[12]

मध्यवर्गीय जीवन को व्यापक संदर्भों में देखने का प्रयास 'पक्षी और दीमक' में हुआ है। यह कहानी समझौतावादी मनुष्य के पतनोन्मुख रूप को दर्शाती है। पंख लेकर दीमक खरीदने वाला वस्तुतः अभिशप्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी ही है। नहीं, मुझमें अभी बहुत कुछ शेष है, बहुत कुछ, मैं उस पक्षी जैसा नहीं मरूँगा। मैं अभी उबर सकता हूँ। रोग अभी असाध्य नहीं हुआ है। ठाठ से रहने के चक्कर से बंधे हुए बुराई के चक्कर तोड़े जा सकते हैं। प्राण शक्ति शेष है, शेष।''[13] यही बुद्धिवादी का आत्मसंघर्ष है। 'पक्षी और दीमक' की केंद्रीय समस्या एक ही है : भारतीय समाज की असली शासक सत्ता के सामने - प्रभाव, धन और भ्रष्टाचार की सत्ता के सामने, अकेला प्रबुद्ध व्यक्ति किस हद तक, किस शर्त पर अपने चरित्र का खरापन और अपना मानवीय गौरव बनाए रख सकता है।''[14]

मानव-सभ्यता के संकट ग्रस्त हो जाने वाली कहानी 'क्लॉड ईथरली' है। क्लाड ईथरली है कौन? ''पागलखाने में डाल दिया जाने वाला क्लाड ईथरली जिसके एटम बम से हिरोशिमा नष्ट हुआ था एक ओर आध्यात्मिक उद्विग्नता का प्रतीक है तो दूसरी ओर संपूर्ण मनुष्यता की अंतरात्मा। इसी अंतरात्मा को मुक्तिबोध बुद्धिजीवी के रूप में देखते हैं और कभी पागल कभी समाजविरोधी तत्व के रूप में पाते हैं।''[15] क्योंकि जो आदमी आत्मा की आवाज जरूरत से ज्यादा सुनकर हमेशा से बेचैन रहा करता है और उस

बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है वह निहायत पागल है। पुराने जमाने में संत हो सकता था आजकल उसे पागलपन में डाल दिया जाता है।''[16]

'क्लाड ईथरली' आध्यात्मिक आशंकित प्रतीक बनकर खड़ा होता है और मानवता के संकट की ओर हमारा ध्यान हो जाता है। मुक्तिबोध के सभी पात्र मानवता की अंतर्रात्मा ही है जो कभी क्लाड ईथरली तो कभी 'ब्रह्मराक्षस' के रूप में 'होने और न होने' के बीच का तनाव झेलते हैं। इस प्रकार ''मुक्तिबोध की कहानी में हमेशा उनकी आस्था और संदेह के बीच सतत् एक बहस चलती रहती है। पात्र दो हैं - किंतु उनकी लड़ाई का कुरुक्षेत्र मुक्तिबोध के भीतर है कभी-कभी तो वह भी तय नहीं हो पाता कि मुक्तिबोध किसके साथ हैं अक्सर वह अपनी आस्थाओं को छोड़कर अपनी अंधेरी पीड़ित शंकाओं के साथ चलने लगते हैं और तब ऐसे क्षणों में मुझे उनका यह वाक्य याद आने लगता है - ''सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है वह अपनी शांति को भंग करके ही लेखक बना रह सकता है। वह अपने खुद का सबसे बड़ा आलोचक हो सकता है। जिंदगी को वह किसी ऐसे सत्य से आलोकित कर सके जो केवल एक व्यक्ति की अमोल निधि न होकर ऐसा सार्वभौमिक सत्य जिसकी आँच में हिंदुस्तान के करोड़ों दिग्भ्रमित संत्रस्त ठिठरते लोग अपने हाथ सेंक सकें।''[17] इस प्रकार मुक्तिबोध की कविता, कहानी और आलोचना के अंतरावलंबन में मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष की अभिव्यक्ति तो है ही साथ में मध्यवर्गीय जीवन की त्रासद कहानी भी है।

सहआचार्य,
आर्यभट्ट महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

---

lUnHkZ lwph

1. डा. सुरेंद्र प्रताप, मुक्तिबोध, विचारक कवि और कथाकार, पृ. 154
2. निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध का गद्य, पृ. 10
3. मुक्तिबोध, काठ का सपना (संपादक श्रीकांत वर्मा), पृ. 68-69
4. वही, पृ. 95-96
5. वही, पृ. 10
6. विपात्र उधृत द्वारा चंद्रकांत बांदिवड़ेकर, साभार, जनवरी-मार्च, 1976, पृ.76-47
7. मुक्तिबोध, सतह से उठता आदमी (संपादक श्रीकांत वर्मा), पृ.6
8. निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध का गद्य, पृ. 9
9. मुक्तिबोध, काठ का सपना (संपादक श्रीकांत वर्मा), पृ. 58
10. वही, पृ. 58
11. वही, पृ. 60
12. वही, पृ. 73
13. वही, पृ. 41
14. अग्न्येश्का सोनी, कहानी मुक्तिबोध : कौन मनु? साभार, आलोचना, जुलाई-सितंबर, 1968, पृ. 63
15. सुरेंद्र प्रताप सिंह, मुक्तिबोध, विचारक, कवि और कथाकार, पृ. 155
16. मुक्तिबोध, काठ का सपना (संपादक श्रीकांत वर्मा), पृ. 17
17. निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध का गद्य, पृ. 10

सृष्टि सुमन

स्त्री के अंतर्द्वंद्व का रेखांकन : यही सच है

शोध सारांश : मन्नू भंडारी द्वारा रचित कहानी 'यही सच है' आधुनिक नारी की मन:स्थिति, ऊहापोह, उतार-चढ़ाव, कशमकश, शंका, आशंका एवं अंतर्द्वंद्व को अभिव्यक्त करती है। मन्नू भंडारी कहानी की मुख्य पात्र दीपा के माध्यम से, अपना निर्णय खुद लेना सीखती लड़की के अंतर्द्वंद्व को बारीकी से प्रस्तुत करती है। कहानी का कथानक शहरी मध्यवर्ग का है। यह कहानी मुख्य रूप से प्रेम के त्रिकोण फाँस में संघर्ष करती लड़की के अंतर्द्वंद्व को समग्रता में रेखांकित करता है। कहानी के केंद्र में तीन मुख्य पात्र है - दीपा, निशीथ और संजय। कहानी की नायिका दो पुरुष पात्रों में से किसी एक के चयन को लेकर द्वंद्व के गहरे दौर से गुजरती है। दोनों पुरुष पात्रों का व्यक्तित्व एवं महत्व एक-दूसरे से भिन्न है, लेकिन दोनों अपने-अपने जगह पर प्रेम के योग्य हैं। परिवेश के बदलने एवं परिस्थिति के आलोक में दीपा का द्वंद्व उभर कर सामने आता है और वह खुद को अनिर्णयहीनता की स्थिति में पाती है। प्रस्तुत कहानी का कथ्य दीपा के साथ-साथ, उन तमाम स्त्रीयों के अंतर्द्वंद्व को रेखांकित करता है जो अपना निर्णय लेना खुद सीख रही है।

सारांशत: कहानी एक पढ़ी-लिखी स्वतंत्र युवती के मन की उद्‌गार एवं अंतर्द्वंद्व की है जो परिस्थिति के आलोक में क्षण-प्रतिक्षण बदलती है। इस बदलते उद्‌गार के बीच संशय, सवाल, ऊहापोह, अंतर्द्वंद्व आदि अभिव्यक्त होता है।

मुख्य शब्द : प्रेम, अंतर्द्वंद, सच, क्षण, परिवेश

मन्नू भंडारी हिंदी कहानी के उस दौर की लेखिका है जिसे 'नई कहानी' के नाम से जाना जाता है। 'नई कहानी मौटे तौर पर सन् 1954-1963 ई. के बीच माना जाता है। ''जिस काल-खण्ड की कहानी को 'नई कहानी' कहकर स्थापित किया गया, उसे मोटे तौर पर सन् '54 से सन् '63 की सीमाओं में बाँधा जा सकता है।''[1] स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुए सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के साथ जिस नवीन चेतना का विकास हुआ, उसने जीवन और परिवेश के सभी क्षेत्रों को गहराई से प्रभावित किया। बदलते एवं विकसित होती सामाजिक संरचना, बदलती मानवीय संवेदना एवं संबंध, बदलते जीवन परिवेश एवं परिस्थिति के बीच स्त्रियाँ पहली बार चौखट के बाहर कदम रखती है। संविधान के लागू हो जाने के परिणामस्वरूप स्त्रियाँ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में मजबूती से अपने को स्थापित करने लगी। शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय आदि क्षेत्रों में वे पुरुषों से प्रतिस्पर्धा की स्थिति में दिखाई पड़ने लगी। इन सबके बीच दूसरी ओर वे कदाचित पहली बार पुरुषों के संपर्क में भी आए। कार्य क्षेत्र में उनका यह स्वाभाविक संपर्क आत्मीय संबंधों में परिणत होने लगा। यह वैसा संपर्क-संबंध था जिसकी मान्यता, तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के विपरीत था। इन सब स्थितियों के बीच मन्नू भंडारी की कहानियाँ विकसित होती हैं और उनकी कहानियों की स्त्री पात्र परंपरागत रूढ़ मूल्यों एवं मान्यताओं को नकारती हुई अपने 'स्व' को स्थापित करने के लिए संघर्षरत है। संघर्ष की यह स्थिति उनके भीतर अंतर्द्वंद्व, अनिश्चितता, ऊहापोह, उतार-चढ़ाव, कशमकश, संशय, शंका, संदेह आदि पैदा करता है।

मन्नू भंडारी अपनी कहानियों में मुख्य रूप से नारी

जीवन को केंद्र में रखकर उसकी समस्या, संघर्ष, सहानुभूति, संशय, शंका, संदेह, मानसिक उत्पीड़न एवं अंतर्द्वंद्व आदि को उजागर करती नजर आती है। उनकी कहानियों के ज्यादातर स्त्री पात्र - स्वावलंबी, सहज-स्वाभिमानी होते हुए भी अंतर्द्वंद्व की त्रासद को झेल रही होती हैं। उनका यह अंतर्द्वंद्व एक ओर जहाँ विचार और संस्कार से पोषित है, तो दूसरी ओर मातृत्व और स्त्रीत्व से जूझती नजर आती हैं। उनके भीतर प्रतिकार की भावना होते हुए भी, वह प्रतिरोध में नहीं बदल पाता। चयन के समय वह खुद को अनिर्णयहीनता की स्थिति में पाती हैं। 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी उस परिवेशगत सत्य को रेखांकित करती हुई लिखती हैं - ''हम अपने जीवन में ऐसी कितनी औरतों को जानते हैं जो अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करना जानती है। जब जीवन में नहीं है तो कहानी में लाना ज्यादती होगी।'' उनकी समस्या यह है कि आधुनिकता की चाह और बौद्धिकता के बावजूद, परंपरागत मूल्य उन्हें बार-बार अपनी ओर खींच लाती है। वह अपने को पूर्णत: आधुनिक बना नहीं पा रही है। बौद्धिकता का दम्भाब उसे कथित आधुनिकता की और धकेलता है और संस्कारगत सामाजिक स्थितियाँ उसे परंपरागत मूल्यों की ओर वापस खींच लाती है। परंपरागत सामाजिक मूल्यों से मुक्त होने की छटपटाहट और पूर्णत: मुक्त न होने की त्रासदी उनकी कहानियों में सर्वत्र मौजूद है। यही वजह है कि ''मन्नू जी नारी के आँचल को दूध और आँखों को व्यर्थ के पानी से भरा दिखाने में विश्वास नहीं रखतीं। वे उसके जीवन-यथार्थ को उसी की दृष्टि से धरातल पर रचती हैं...''[2]

'यही सच है' मन्नू भंडारी रचित महत्वपूर्ण प्रेम कहानी है। इस कहानी को बासु चटर्जी के निर्देशन में 'रजनीगंधा' नामक फिल्म भी फिल्माया गया है। यह कहानी प्रेम के प्रचलित मापदंडों को तोड़ती है और उसे नए जीवन संदर्भ में व्याख्यायित करती है। उक्त कहानी को त्रिकोण प्रेम कहानी की संज्ञा दिया जाता है, लेकिन यह कहानी त्रिकोण प्रेम की उस अवधारणा को भी खंडित करती है जहाँ ''एक प्रेमी युगल के बीच कोई तीसरा पात्र-स्त्री हो या पुरुष-व्यवधान बनकर आता है। वह तीसरा कभी-कभी कोई ऐसा सज्जन व्यक्ति होता है जो अपने प्रिय अथवा प्रिया के प्रति अपने समर्पण के कारण अपने मौन त्याग और बलिदान से प्रेम को उदात्त स्तर तक उठा देता है। लेकिन ज्यादातर इसके विपरीत वह दुर्जन होता है और खलनायक बनकर प्रकट होता है। उसकी ईर्ष्या और क्रोध के कारण प्रेमीयुगल का जीवन दुष्कर तथा संकटमय बन जाता है, कई बार प्रेमी-युगल सब झेलकर अन्तत: सफल होते हैं और खलनायक को पराजित कर पाते हैं लेकिन कई बार कथा त्रासदी का भी रूप ले लेती है। इन क्लासिकल प्रेम-कहानियों में प्रेम-स्त्री का प्रेम विशेष रूप से एकनिष्ठ समर्पण का भव्य और उदात्त अनुभव होता है। विरह उसकी कसौटी हुआ करती है।''[3] जबकि यह कहानी प्रेम-त्रिकोण के प्रचलित मापदंडों के विपरीत ठहरती है। 'यही सच है' कहानी के केंद्र में कथा-नायिका दीपा है और उसके दो प्रेमी - पहला किशोरावस्था का प्रेमी निशीथ और दूसरा युवावस्था का प्रेमी संजय। दीपा प्रथम प्रेम की भावमयी स्मृतियों को भुलाकर संजय के साथ भविष्य की योजनाएँ बना रही है - ''उसे कैसे बताऊँ कि मेरे प्यार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केन्द्र संजय ही है।''[4] और किशोरावस्था के प्रेम यानी प्रथम प्रेम को लेकर अब उसकी धारणा है - ''फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला! निरा बचपन होता है, महज पागलपन! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं, गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेग से वह आरम्भ होता है, जरा-सा झटका लगने पर उसी वेग से टूट भी जाता है।... जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है, उन सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिर तो वह सब ऐसी बेवकूफी लगती है, जिस पर बैठकर घंटों हँसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस बात का अहसास होता है कि ये सारे आँसु, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थीं, वरन् जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थीं, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।''[5] कहानी से यह भी स्पष्ट होता है कि संजय, दीपा और निशीथ के पूर्व संबंध को भलीभांति जनता है, लेकिन निशीथ को संजय के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है। इसलिए यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि 'यही सच है' कहानी अपने ढंग की नई प्रेम कहानी है। यह कहानी प्रेम के प्रचलित मापदंडों को तोड़ते हुए अपना स्वतंत्र उदाहरण प्रस्तुत करती है। या यों कह लें कि यह कहानी प्रेम-कहानी से भी कहीं ज्यादा स्त्री मन के उस भाव की सहज अभिव्यक्ति है जिससे हिंदी साहित्य की दुनिया अब तक

अछूती थी। यह कहानी उस मनोभूमि पर आधारित है जो वर्षों-वर्ष तक, अब तक एक स्त्री के मन में दबी हुई थी। यह कहानी आदर्श के उस दोहरे मापदंड को भी तोड़ती है जहाँ एकनिष्ठ समर्पण का आग्रह केवल स्त्रियों से रहा है।

'यही सच है' कहानी एक स्वतंत्र लड़की के मन की उद्‌गार की कहानी है। यह उद्‌गार परिस्थिति एवं परिवेश के आलोक क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है। इस बदलते उद्‌गार के बीच नायिका का अंतर्द्वंद्व ही मुख्य है जो अलग-अलग परिस्थितियों में संजय और निशीथ को सच मानती है। कहानी की नायिका दीपा अपने बालपन में निशीथ से प्रेम करती है। यह उसके जीवन का पहला प्रेम है। स्वाभाविक है कि इस प्रेम में भावावेग की प्रचुरता होगी ही। समय के साथ कुछ ऐसी स्थितियाँ आयी कि उसका प्रेम अलगाव में बदल गया और वह अलगाव अपने साथ नायिका के मन में, नायक के प्रति ढेर सारा नफरत और घृणा भर लाया। बीतते समय की साँझ के साथ कहानी की नायिका दीपा शोध कार्य के लिए कानपुर रहने आ जाती है। वहां उसकी मुलाकात संजय से होती है, तब वह महसूस करती है कि ''ये सारे आँसु, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थीं, वरन् जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थीं, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।''[6] संजय से दीपा का परिचय प्रेम में बदलता है और प्रेम एक परिपक्व आधार ग्रहण करता है जैसा कि दीपा कहती हैं - ''आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गई है, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गई है, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।''[7] समय के साथ परिवेश बदलता है, परिस्थितियाँ बदलती है। अपने नौकरी के इंटरव्यू के सिलसिले में दीपा को कलकत्ता जाना होता है। यह वही शहर है जहाँ अब निशीथ रहता है। कलकत्ता में दीपा का निशीथ से अनायास ही मुलाकात होती है। कहानी यहाँ से एक नया मोड़ लेती है। निशीथ कलकत्ता में दीपा की हर संभव मदद करता है - जी, जान और जतन से। निशीथ का निस्वार्थ सहयोग, दीपा के मन की घृणा को पुन: प्रेम में परिणत करने लगता है। ''सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा।...वह कभी किसी का अहसान नहीं लेता; पर मेरी खातिर उसने न जाने कितने लोगों का अहसान लिया। आखिर क्यों? क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूँ उसके साथ, उसके पास? एक अजीब-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है।''[8] दीपा के अंतर्मन का द्वंद्व यहीं से शुरू होता है। प्रेम, परिवेश, परिस्थिति, प्रणय के आलोक में कहानी की नायिका द्वंद्व के गहरे फाँस में फँसती नजर आती है।

कहानी में उस परिवेशगत यथार्थ की सच्चाई को भी दिखाया गया है, जहाँ परिवेश के बदलते ही निशीथ के प्रति उसकी नफरत प्रेम में बदलने लगती है और संजय के प्रति उसका प्रेमभाव कृतज्ञता तक सीमित होने लगता है। दीपा का नफरत जहाँ एक ओर प्रेम में बदलने लगता है - ''तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो? कह दो, निशीथ, कह दो!... यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है! में बुरा नहीं मानूँगी, जरा भी बुरा नहीं मानूँगी। मान ही कैसे सकती हूँ निशीथ ! इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुम्हें प्यार करती हूँ- शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूँ!... आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जाएँ पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहो, पर मैं जानती हूँ, तुम आज भी मुझे प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे सम्बन्ध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है....''[9] वहीं दूसरी ओर उसका प्रेमभाव कृतज्ञता की सीमा में बंधने लगता है - ''संजय जिस सम्बन्ध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुई थीं, इसका अहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव ही संदिग्ध रहते थे; पर तब मैं तुम्हें ईर्ष्यालु समझती थी; आज स्वीकार करती हूँ कि तुम जीते, मैं हारी!.... आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे वीरान नजर आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श

से मुझे जिला दिया; मेरा मुरझाया, मरा मन हरा हो उठा; मैं कृतकृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ। पर प्यार की बेसुध घड़ियाँ, वे विभोर क्षण, तन्मयता के वे पल, जहाँ शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आए। तुम्हीं बताओ, आए कभी? तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुम्बनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध बिसरा देनेवाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया।''[10] प्रेम और कृतज्ञता के बीच दीपा का अंतर्मन ऊहापोह की स्थिति से गुजरता है। एक ओर स्पर्श रहित किन्तु मादकतायुक्त प्रेम है, तो दूसरी ओर स्पर्श सहित किन्तु मादकताविहीन प्रेम है। एक ओर रोमानियत है, तो दूसरी ओर भविष्य की सुरक्षा। एक ओर पहले प्रेम का पागलपन, भावावेश, आवेश, गति, तन्मयता के पल, प्यार की बेसुध घड़ियाँ, सुध बिसरा देनेवाली पुलक या मादकता एवं बचपना है; तो दूसरी ओर कृतज्ञता, स्नेहिल स्पर्श, अवलंब, भविष्य की सुरक्षा, साथ, मानसिक एवं शारीरिक भावनाओं का मान रखने वाला भरोसेमंद साथी। इन दोनों अनुभूतियों के बीच दीपा का द्वंद्व उभरकर सामने आता है। दोनों कथा-नायक अपनी-अपनी अच्छाइयों के साथ पूर्ण है। उन स्थितियों में किसी के लिए भी, किसी एक का चयन जटिल हो सकता है। दीपा के लिए भी किसी एक का चयन सहज नहीं है। अनिर्णयहीनता की यह स्थिति उसे जटिल अंतर्द्वंद्व में बांधता है। यह स्पष्ट है कि कोई भी निर्णय संपूर्णता नहीं होता है, प्रत्येक चयन या विकल्प अपने साथ संभावनाएँ और अधूरापन दोनों लाता है। संभावनाएँ और अधूरेपन की उस कशमकश में दीपा का द्वंद्व कहानी की अंतर्वस्तु का मुख्य भाग बन जाता है।

यही वजह है कि कहानी में कोई रिश्ता या कोई संबंध सच न होकर, वह पल-वह क्षण ही सच है; जिन अंत:वृत्तियों से दीपा का मन संचालित होता है। जिस समय वह जो महसूस करती है, वही सच हो जाता है या उसी को सच मानने लगती है। निशीथ को लेकर सशंकित संजय को, दीपा विश्वास दिलाना चाहती है और अपने मन की सच्चाई को अभिव्यक्त करती हुई कहती हैं - ''मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, बहुत-बहुत प्यार करती हूँ? विश्वास करो संजय, तुम्हारा-मेरा प्यार ही सच है। निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठ था।''[11] वहीं जब दीपा निशीथ के साथ कलकत्ता में होती है, वहां उसका झुकाव निशीथ की ओर बढ़ता जाता है और निशीथ के प्रति उसकी नफरत प्रेम में परिणत हो जाता है । कलकत्ता से कानपुर वापसी के समय दीपा एक और सच को महसूस करती है - ''विश्वास करो, यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूँ; केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी !...पर मैं कुछ कह नहीं पाती। बस, साथ चलते निशीथ को देखती-भर रहती हूँ। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को जरा-सा दबाकर छोड़ देता है। मेरी छलछलाई आँखें मुँद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब झूठ है; अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है।''[12] अब प्रथम प्रेम को लेकर दीपा की धारणा बदल चुकी है। अब वह सोचती है ''प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है; बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, पंच भरमाने का प्रयास-मात्र होता है...''[13] इस तरह देखें तो प्रथम प्रेम (भावनात्मक प्रेम) को वरीयता दी गई, बशर्ते वह उपलब्ध हो। कानपुर आ जाने के बाद दीपा निशीथ को एक भावात्मक प्रेम-पत्र लिखती है - ''मैं स्पष्ट शब्दों में लिख देती हूँ कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब कुछ समझ गई हूँ। साथ ही यह भी लिख देती हूँ कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज भी; पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध बह गया। इस अपनत्व में क्रोध भला टिक भी कैसे पाता? लौटी हूँ, तब से न जाने कैसी रंगीनी और मादकता मेरी आँखों के आगे छाई है...!''[14] और वह यह उम्मीद करती है कि निशीथ का जबाव भी उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप ही आएगा। निशीथ का जबाव जब उसकी अपेक्षा के अनुरूप नहीं आता है तब उसे संजय का साथ, उसका आलिंगन पाश सच लगने लगता है - ''और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था...''[15] अत: यहाँ दीपा का अंतर्द्वंद्व ही मुख्य है जो अलग-अलग क्षणों में निशीथ और संजय दोनों को ही सच के मानती है। जब वह संजय के साथ थी, तब वह निशीथ को एक तरह से भूल चुकी थी; अब निशीथ के साथ है तो संजय की याद नहीं आ रही है और जब निशीथ का जबाव अपेक्षानुरूप नहीं मिला, तब संजय का साथ उसे सच लगने लगता है। इस तरह देखें तो कहानी उस मिथ को तोड़ता है, जहाँ कहा जाता है कि वैयक्तिक प्रेम अटूट और विचलनहीन होता है।

निष्कर्षत: कहानी उस मानवीय भाब-बोध को प्रस्तुत करती है, जहाँ अनुपलब्ध चीजों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण सदा बना रहता है। संजय की स्वीकृति इस बात की गारंटी नहीं है कि पुन: निशीथ से मिलने पर दीपा के मन में द्वंद्व का भाव नहीं आएगा। कहानी अनिश्चितता के साथ समाप्त होती है। यह अनिश्चितता ही इस कहानी का सौन्दर्य है, सच भी। अत: कहानी आधुनिक स्त्री की उन आकांक्षाओं, आशंकाओं, अंतर्द्वंद्वों, ऊहापोह, कशमकश, स्वप्न एवं हर्ष-विषाद की सहज अभिव्यक्ति का सफल प्रयास है, जिसका संबंध मन की स्वाभाविक गति एवं सामान्य जीवन से है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

---

lUnHkZ lwph

1- मधुरेश, 'हिन्दी कहानी का विकास', प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, ग्यारहवाँ संस्करण : 2022, पृष्ठ सं. 61
2. भंडारी, मन्नू, 'कहानी संग्रह : यही सच है', दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, सातवाँ संस्करण : जून, 2021, पृष्ठ सं. (संग्रह के लैप पर)
3. खरे, नीरज, 'हिन्दी कहानी वाया आलोचना', प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, दूसरा संस्करण : 2024, पृष्ठ सं. 277
4. भंडारी, मन्नू, 'कहानी संग्रह : यही सच है', दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, सातवाँ संस्करण : जून, 2021, पृष्ठ सं. 139
5. वही, पृष्ठ सं. 139
6. वही, पृष्ठ सं. 139
7. वही, पृष्ठ सं. 139-140
8. वही, पृष्ठ सं. 145-146
9. वही, पृष्ठ सं. 151-152
10. वही, पृष्ठ सं. 154-155
11. वही, पृष्ठ सं. 140
12. वही, पृष्ठ सं. 154
13. वही, पृष्ठ सं. 155
14. वही, पृष्ठ सं. 155
15. वही, पृष्ठ सं. 160

प्रिया कुमारी

बृहत्संहिता में जल विज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन

सारांश : वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता एक बहुविषयक ग्रंथ है, जिसमें खगोलशास्त्र, ज्योतिष, वास्तु, कृषि, पर्यावरण, रत्नविज्ञान तथा जलविज्ञान जैसे विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई है। यह ग्रंथ न केवल उस काल की वैज्ञानिक दृष्टि को दर्शाता है, बल्कि प्रकृति और मानव जीवन के मध्य संतुलन बनाए रखने की भारतीय परंपरा का भी परिचायक है। विशेष रूप से जल विज्ञान का विश्लेषण इस ग्रंथ का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। जल विज्ञान का अध्ययन आज जितना आवश्यक है, उतना ही प्राचीन काल में भी था। बृहत्संहिता में जल के विभिन्न रूपों, भूमिगत जल स्रोतों की पहचान, वर्षा के पूर्वानुमान तथा जल संरक्षण जैसे विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वराहमिहिर ने भूमिगत जल की उपस्थिति का पता लगाने के लिए अनेक प्राकृतिक संकेतों का वर्णन किया है, जैसे - विशेष प्रकार की वनस्पतियाँ, वृक्षों की जड़ें, भूमि की नमी, रंग, गंध, तथा पशु-पक्षियों का व्यवहार। यह दर्शाता है कि उस समय जल की खोज हेतु गहन पर्यावरणीय निरीक्षण और अनुभवजन्य ज्ञान का प्रयोग होता था। वर्षा विज्ञान (मेघ विज्ञान) भी इस ग्रंथ का एक उल्लेखनीय पक्ष है। वराहमिहिर ने मेघों के प्रकार, रंग, दिशा, गति तथा आकाशीय गर्जन के आधार पर वर्षा की संभावना का आकलन करने की विधियाँ बताई हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने नक्षत्रों के आधार पर वर्षा के समय और मात्रा का पूर्वानुमान लगाने की प्रणाली भी प्रस्तुत की है, जो मौसम विज्ञान की एक प्रारंभिक वैज्ञानिक कोशिश मानी जा सकती है। कृषि और जल का संबंध भी इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से स्थापित किया गया है। उपयुक्त समय पर वर्षा की जानकारी कृषि की उन्नति में सहायक सिद्ध होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वराहमिहिर का ज्ञान केवल सैद्धांतिक नहीं था, बल्कि व्यावहारिक जीवन से भी उसका गहरा संबंध था। जल को केवल भौतिक संसाधन न मानकर जीवनदायी तत्व के रूप में स्वीकार करना, उनके वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करता है।

बीज शब्द : जल विज्ञान, वराहमिहिर, बृहत्संहिता, भूमिगत जल, वर्षा पूर्वानुमान, पर्यावरणीय संकेत।

परिचय : भारतीय ज्ञान परंपरा में विज्ञान और अध्यात्म का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने जिन विषयों पर विचार किया, वे केवल धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं थे, अपितु उनके चिंतन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और पर्यावरणीय चेतना भी समाहित थी। जल जैसे जीवनदायी तत्व पर उनका दृष्टिकोण अत्यंत व्यावहारिक और दूरदर्शी था। जल केवल भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करने वाला तत्व नहीं, बल्कि समस्त जीवन चक्र का मूल है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए अनेक आचार्यों ने अपने ग्रंथों में जल विज्ञान से संबंधित ज्ञान का वर्णन किया, जिनमें वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बृहत्संहिता एक बहुविषयक ग्रंथ है, जिसमें खगोलशास्त्र, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, कृषि, पर्यावरण, रत्नविज्ञान, वायुविज्ञान, पशुपालन और जलविज्ञान जैसे विषयों पर गहन चर्चा की गई है। इसका रचनाकार वराहमिहिर 6वीं शताब्दी के महान ज्योतिर्विद, गणितज्ञ और खगोलशास्त्री थे। उन्होंने वैज्ञानिक विषयों को सांकेतिक भाषा में नहीं, बल्कि

जनसामान्य की बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया, जिससे यह ग्रंथ आज भी अपनी वैज्ञानिकता और उपयोगिता के कारण प्रासंगिक बना हुआ है।

जल विज्ञान के क्षेत्र में बृहत्संहिता का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसमें जल के विभिन्न स्रोतों, भूमिगत जल की खोज, वर्षा के लक्षणों एवं संकेतों, मेघों के प्रकार, उनके रंग, गति, आकार तथा गर्जन के आधार पर वर्षा के पूर्वानुमान आदि विषयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वराहमिहिर ने बताया कि भूमिगत जल की उपस्थिति को वनस्पतियों, मिट्टी के रंग, दीमकों की गतिविधि, पशु-पक्षियों के व्यवहार आदि के माध्यम से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार का अध्ययन आज के भूगर्भीय जल विज्ञान के मूल सिद्धांतों से मेल खाता है।

इतना ही नहीं, वर्षा पूर्वानुमान के लिए उन्होंने नक्षत्रों की स्थिति, ऋतुओं के परिवर्तन तथा मेघ विज्ञान (नेफोलॉजी) के आधार पर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे केवल एक ज्योतिषी नहीं, बल्कि पर्यावरणीय और प्राकृतिक विज्ञानों के गहरे ज्ञाता भी थे। जल का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के साथ-साथ उन्होंने इसके संरक्षण और विवेकपूर्ण उपयोग पर भी बल दिया, जो आज के पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में अत्यंत सार्थक सिद्ध होता है।

इस शोधात्मक अध्ययन का उद्देश्य बृहत्संहिता में वर्णित जल विज्ञान के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करना है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि प्राचीन भारतीय मनीषा कितनी वैज्ञानिक, तर्कसंगत और पर्यावरण-संवेदी थी। यह अध्ययन आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी प्रासंगिक है और वर्तमान जल संकट के समाधान की दिशा में भारतीय परंपरा से जुड़ी संभावनाओं को उजागर करता है।

जल विज्ञान :

बृहत्संहिता में वराह मिहिर ने भूगर्भ जल विज्ञान के विषय में कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के अंगों में रक्त वाहिनी नाड़ियां हैं इस तरह पृथ्वी में भी ऊंची नीची गुहा स्थान में जल वाहन हेतु नाड़ियां हैं। जिस प्रकार एक ही रंग तथा स्वाद वाले जल पृथ्वी पर गिरने से भी पृथ्वी का रंग तथा स्वाधीन हो जाता है उसी प्रकार विभिन्न स्रोतों से जल प्राप्त होने पर भी जल का रंग वर्ण तथा स्वाद जाना चाहिए।

वृक्ष तथा जल स्रोतों का संबंध :

''यदि वेतसवद् वृत्तिः देशे हंसलीनिस्तथा।
सार्धे पुरुषे तत्र बहति शिरा पश्चिमं ततः॥''

(बृहत्संहिता, 54.7)

प्रस्तुत श्लोक द्वारा वराह मिहिर बताना चाहते हैं कि ऐसे किसी प्रदेश में जहां जल का अभाव हो वहां अगर वेद तथा कटीले वृक्ष पाए जाए तो उसे स्थान से पश्चिम दिशा की ओर डेर मनुष्य नीचे गहराई में जल प्राप्त होने की संभावना होती है। परंपरा के अनुसार एक मनुष्य की परिभाषा एक व्यक्ति के पैर से लेकर दोनों भुजाएं उठाने पर जो लंबाई होती है वह एक मनुष्य माना जाता है। अगर किसी स्थान पर जामुन का बड़ा पेड़ हो तो उसे उत्तर दिशा में तीन हाथ दूर दो मनुष्य नीचे पूर्व दिशा में जल प्राप्त करने की संभावना होती है तथा यहां पर कुछ चिन्ह भी पाए जाते हैं जैसे एक मनुष्य खुदाई पर लौगहगन्ध उसके बाद पीली मिट्टी तथा मेंढक दिखाई पड़ते हैं।

वराहमिहिर ने अलग-अलग वृक्षों के होने पर अलग-अलग माप से जल स्रोतों के मिलने को विस्तार से बताया है। जैसे जामुन पेड़ के पूर्व दिशा में चीटियों का टीला हो तो दक्षिण में तीन हाथ की दूरी पर दो मनुष्य 10 हाथ नीचे मीठे पानी का स्रोत होता है तथा इसका चिन्ह है कि आधा मनुष्य तक खोदते ही मछली निकलने लगती है तथा कबूतर के रंग का पत्थर दिखता है। यह जल दीर्घकाल तक पर्याप्त होने वाला जाल है। गूलर के पेड़ पश्चिम दिशा में तीन हाथ की दूरी पर 12:30 हाथ खोदने पर जल शिरा प्राप्त होती है। इसका चिन्ह है कि पांच हाथ होते ही श्वेत सर्प दिखने लगते हैं। इससे यह जानना चाहिए कि यहां पानी का स्रोत है :

''यदि वासुवर्णमणिकाञ्चनमणिभिश्च भूषितम्।
हरितं तु याम्यं पेशलरसताम्रवर्णम्॥''

(बृहत्संहिता 54.70)

''शारं पयोत्र नकुलोऽधमानेव ताम्रस्निग्धाभासम्।
रक्तं च प्रवहति वधूसुत वहति शिरा दक्षिणा तत॥''

(बृहत्संहिता 54.71)

किसी मरुभूमि पर अगर धतूरा का पेड़ हो या उससे मिलता-जुलता कोई अन्य पेड़ हो तो उसकी डाली से बाई और उत्तर दिशा में मुंबई का पेड़ हो तो उसे पेड़ की दक्षिण दिशा में दो हाथ छोड़कर 75 हाथ नीचे जमीन में जल प्रवाह होता है।यह जल खाड़ा स्वाद का होता है।

इसका लक्षण है ढाई हाथ नीचे जाने पर नेवला दिखाई देता है तथा तांबे के रंग का पत्थर दिखाई पड़ता है। और नीचे जाने पर लाल रंग की मिट्टी तथा रेट मिलती है। वहीं दक्षिण दिशा में जल प्रवाह मिलता है। इसी प्रकार किसी मरूभूमि में बांबी के ऊपर घास या कुछ उग हो तो वहां बांबी के नीचे कुआं खोदने पर 105 हाथ नीचे पानी का प्रवाह मिलता है। किसी जमीन के ऊपर शमी का पेड़ हो तथा उत्तर दिशा में बंदी का पेड़ हो तो शमी पेड़ के पश्चिम दिशा में पांच हाथ छोड़कर ढाई सौ हाथ नीचे पानी का प्रवाह जानना चाहिए।

भूमि की प्रकृति से जल की पहचान : वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में जल विज्ञान का संकेत देते हुए जल के कॉन को बताया है जिसमें उन्होंने वृक्षों आदि से जल की पहचान तथा उनके लक्षणों का बोध कराया है। इसी प्रकार वृक्ष के साथ-साथ उन्होंने भूमि की प्राकृतिक रूप रंग तथा प्राकृतिक गुणों के द्वारा जल के स्रोतों का पहचान कराया है। जिसमें उन्होंने न केवल जल पाए जाने वाले प्रदेश ही बल्कि मरूभूमि स्थलों में भी जल के स्रोतों का पहचान करवाया है।

''एकीभूतं यत्र तृणलतागुल्मसम्प्लवः।
तस्यां तु विकरो भवति धारास्राविणी स्थिरा॥''
(बृहत्संहिता 54.90)

''स्निग्धतरुणां यायत्ते नैर्ऋतध्रिग्भिर्जलाशयः।
तरङ्गानिव हि विकोऽपि यस्तस्मात्तत्र वैद्यता वदेत्॥''
(बृहत्संहिता 54.91)

जिस प्रदेश में जमीन तृण, पेड़ पौधे, बांबी तथा गुल्म आदि से रहित हो तथा वहां पर दिखने वाला जमीन का कोई भी अंग अलग वर्ण का दिख रहा हो तो वहां पानी का प्रवाह है ऐसा जानना चाहिए। जहां की मिट्टी चिकनी नीचे तथा बालू वाली हो एवं पैर रखने से आवाज करने वाली हो वहां 22.5 या 25 हाथ नीचे जल का प्रवाह है ऐसा समझना चाहिए। जिस जमीन के ऊपर स्निग्ध का पेड़ उगा हो उसे स्निग्ध पेड़ के 20 हाथ नीचे पानी मिलाने की संभावना होती है। यह जमीन पर पेड़ उग हो तथा उन पेड़ कोई एक पत्ता फल फूल विहीन हो अर्थात् जिस रंग रूप में उसे होना चाहिए उसे रंग रूप में न होकर अलग दिख रहा हो उसे पेड़ से दक्षिण दिशा में 20 हाथ नीचे पानी होगा। जिस प्रदेश में सब जगह गर्म हो एक जगह ठंडा हो अथवा सभी जगह ठंडा हो एक जगह गर्म हो तो उसे जगह पर साढ़े 17 हाथ नीचे पानी होगा। अधिक जल वाले भूमि पर इंद्रधनुष मछली या बांबी दिखे तो उसे स्थान से चार हाथ छोड़कर साढ़े 17 हाथ नीचे पानी मिलेगा।

मधुर स्वाद वाले पानी पाए जाने वाले भूमि की पहचान करते वराहमिहिर कहते हैं -

''या मौञ्जीकैः काशकुशैश्च युक्ता,
नीला च मृद्वत्ता सरस्करा च।
तस्याद्य प्रमृष्टं सुरसं च तोयं,
कृष्णाण्विता यत्र च रत्नमुद्रा॥''
(बृहत्संहिता 54.103)

जिस जमीन में मांझी की बेल खुशियां मांज हो या उसे जमीन की मिट्टी काली पीली लाल या बालू मिश्रित हो तो उसे जमीन के 15 हाथ नीचे पानी होगा।

अब भूमि के वर्णों के अनुसार पानी के स्वाद के विषय में 12 महीने बताया है कि जिस भूमि की मिट्टी तांबे के रंग वाली हो तथा बालू मिश्रित हो ऐसे भूमि से प्राप्त जल का स्वाद कसैला होता है। जिस भूमि की मिट्टी कपिल अर्थात् भूरे रंग चितकावे रंग वाली होती है उसे मिट्टी से प्राप्त जल का स्वाद खड़ा होता है। जिस मिट्टी का रंग पांडू या सफेद रंग हो उसे मिट्टी से प्राप्त जल का स्वाद नमकीन या लवण युक्त होता है। जिस मिट्टी का रंग बदली जैसा नीला हो उसे मिट्टी से प्राप्त पानी का स्वाद मीठा होता है। जिस मिट्टी का रंग सूर्य अग्नि भस्म ऊंट या गधे के रंग सा हो उसे स्थान पर जल नहीं है ऐसा जानना चाहिए। करिड का पेड़ लाल अंकुर एवं चार वाले तथा लाल मिट्टी हो तो उसे स्थान पर पत्थर के नीचे पानी होगा।।

पाषाण के वर्ण के अनुसार जल का स्रोत- वृक्ष वनस्पति भूमि वर्णन इन सभी के चिन्ह द्वारा जल के स्रोतों का पहचान करने के पश्चात वराहमिहिर ने पाषाण अर्थात् पत्थरों के वर्णन के अनुसार जल के स्रोत का पहचान कराया है। वराह मिहिर कहते हैं जिस जमीन के नीचे शीला का रंग कबूतर शहद घी रेशमी कपड़े अथवा सोमवार अली जैसा हो वहां प्रचुर मात्रा में जल प्राप्त होता है। इसी क्रम में जिस भूमि के नीचे तांबे पांडू भस्म ऊंट गधा सूर्य या अग्नि रंग वाले तथा विचित्र बिंदु वाला पत्थर मिले तो उसे स्थान पर जल नहीं है इस प्रकार जानना चाहिए। वराह मिहिर में शीला के नगर में विद्यमान होने के संदर्भ में बताया है कि जिस नगर में स्फटिक मणि जैसे

मोती सोना इंद्रमणि नीलम आदि जैसी चमकती शीला हो तो उसको नहीं तोड़ना चाहिए क्योंकि ऐसी सिलाई नगर में रिद्धि सिद्धि प्रदान करने वाली तथा कल्याणकारी होती है। ऐसी सनिलाओं के होने पर उसे नगर में अकाल नहीं पड़ता तथा अनावृष्टि नहीं होती ऐसी सनिलाओं की रक्षा स्वयं यश नाग करते हैं।

जल शुद्ध करने के उपाय और लाभ– वराहमिहिर ने वृक्ष भूमि तथा सनिलाओं के वर्ण रूप रंग के आधार पर जल स्रोतों के पहचान से अवगत कराया। अब वराह में बताते हैं कि जल को किस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है। प्राचीन काल हो या आधुनिक जल को स्वच्छ करके पीना सभी समय में आवश्यक रहा है। किसी संदर्भ में वराहमिहिर कहते हैं–

अञ्जनमुस्तोशीरैःसराजकोशातकामलकचूर्णैः।
कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपेप्रदातव्य॥

(बृहत्संहिता 54.121)

अर्थात् जल को शुद्ध करने के लिए अनजान मौत था शब्द राजकिशन वाला निर्मली इन सभी का बराबर के भाग में चूर्ण बनाकर कुएं में डालने से जल शुद्ध हो जाता है तथा वह ग्रहण करने के योग्य बन जाता है। इसी प्रकार यदि किसी कुएं में से हानिकारक गैस या गढ़ आए अथवा पानी दूषित हो स्वाद विचित्र कड़वा नमकीन या दुर्गंध युक्त हो तो उसे कुएं में यह चरण 14 से 20 किलो डालने से पानी निर्मल तथा मीठा स्वाद वाला हो जाता है।

कुएं को खुदवाने का मुहूर्त– हिंदू धर्म की मान्यता के अनुसार हर शुभ कार्य करने से पूर्व शुभ मुहूर्त देखा जाता है जिससे कि वह कार्य किसी भी विघ्न के बिना पूर्ण हो जाए तथा उसका फल शुभ हो। इस प्रकार बृहत्संहिता में जल के स्रोतों को बताने के उपरांत जल शुद्ध एवं जल को प्राप्त करने के स्रोत कुएं आदि के खुदवाने के मुहूर्त को बताया गया है।

हस्तोमघानुराधापुष्यधनिष्ठोत्तराणिरोहिण्यः।
शतभिषगित्यारम्भे कूपानां। शस्यतेभगणः॥

(बृहत्संहिता 54.123)

अर्थात् कुआं खुदवाने के कार्य को आरंभ करने का उत्तम नक्षत्र रोहिणी शतभिषा हस्तमढ़ा अनुराधा पुष्य तीनों उत्तर बताया गया है। इसी प्रकार पर्याप्त जल की प्राप्ति के लिए जहां पर जल प्रवाह बोरिंग अथवा खुदाई करवाना हो उसे जमीन पर बरगद की कली गाड़ने के बाद कुसुम गढ़ वाली धूप आदि से ब्राह्मण द्वारा वरुण बाली करावे उसके पश्चात ही खुदाई आरंभ करें।

निष्कर्ष : बृहत्संहिता में जल विज्ञान से संबंधित जो विवरण मिलते हैं, वे न केवल उस युग की वैज्ञानिक चेतना का प्रमाण हैं, बल्कि आज के पर्यावरणीय संदर्भों में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। भूमिगत जल की पहचान, वर्षा पूर्वानुमान की पद्धतियाँ और जल संरक्षण की दृष्टि, आज के वैज्ञानिकों और योजनाकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकती हैं। वराहमिहिर की यह ज्ञान संपदा हमें यह सिखाती है कि प्रकृति के साथ तालमेल बनाकर ही हम जीवन को संतुलित और सुरक्षित बना सकते हैं।

शोध छात्रा, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत
स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश, नोएडा

संदर्भ सूची :

- वराहमिहिर – बृहत्संहिता, संपादक : लक्ष्मणस्वामी, चौखंबा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी।
- डॉ. बशिष्ठ नारायण मिश्र – प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- डॉ. सत्यव्रत शास्त्री – भारतीय ज्योतिष का इतिहास, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।
- के. एस. श्रेणीवास अयंगार – Science in Ancient India, Asian Educational Services, New Delhi
- डॉ. नरेन्द्रनाथ भट्ट – वराह मिहिर और उनका विज्ञान, भारती विद्या भवन, मुंबई।
- विश्वनाथ शर्मा – भारत का वैज्ञानिक विरासत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- Journal of Oriental Research, Madras, विशेषांक: Studies on Varahamihira
- Raja Ram Mohan Roy – Ancient Indian Meteorology

शोध-पत्र

कैलाश चन्द्र

पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत पञ्चमहायज्ञ की प्रासंगिकता

सार-संक्षेप : पौरोहित्य कर्म में वैदिक परंपराओं का पालन करते हुए विभिन्न यज्ञों, संस्कारों और धार्मिक कृत्यों का संचालन किया जाता है। इसमें पञ्चमहायज्ञ का विशेष महत्व है, जो गृहस्थ के लिए नित्य कर्तव्य माने गए हैं। ये पाँच महायज्ञ हैं - देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ (अथिति यज्ञ) और ब्रह्मयज्ञ। इन यज्ञों का उद्देश्य केवल धार्मिक कृत्य नहीं है, बल्कि समाज, प्रकृति, पूर्वजों, अतिथियों और ज्ञान परंपरा के प्रति उत्तरदायित्व निभाना भी है। ये यज्ञ एक संतुलित और कर्तव्यनिष्ठ जीवन का प्रतीक हैं। आज के संदर्भ में भी पञ्चमहायज्ञ की प्रासंगिकता बनी हुई है। ये यज्ञ मानव को आत्म-केन्द्रित जीवन से निकालकर समष्टि हित की ओर प्रेरित करते हैं। यह न केवल सामाजिक समरसता को बढ़ावा देता है, बल्कि पर्यावरण संतुलन, पारिवारिक संबंधों की दृढ़ता और ज्ञान के प्रति श्रद्धा भी उत्पन्न करता है। अतः पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा आज भी न केवल धार्मिक दृष्टि से, अपितु सामाजिक, नैतिक और पर्यावरणीय दृष्टि से भी अत्यंत प्रासंगिक है।

बीज शब्द : पञ्चमहायज्ञ, पौरोहित्य कर्म, वैदिक परंपरा, सामाजिक उत्तरदायित्व, धार्मिक प्रासंगिकता

परिचय : भारतीय संस्कृति की जड़ें वेदों और वैदिक परंपराओं में गहराई से समाई हुई हैं। इस संस्कृति का मूल आधार धर्म, कर्म और आचार है। इन्हीं वैदिक परंपराओं में पौरोहित्य कर्म का विशेष स्थान है, जिसके अंतर्गत विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ, और संस्कारों का आयोजन किया जाता है। पौरोहित्य कर्म समाज को आध्यात्मिक चेतना, नैतिक मूल्यों और पारिवारिक एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करता है। इसके अंतर्गत संपन्न होने वाले पञ्चमहायज्ञ न केवल धार्मिक कर्तव्य हैं, बल्कि ये सामाजिक, पारिवारिक, और पर्यावरणीय उत्तरदायित्वों का भी प्रतीक हैं। वर्तमान समय में जब मानव स्वार्थ, भौतिकवाद और आत्मकेन्द्रिकता की ओर बढ़ रहा है, तब पञ्चमहायज्ञ की पुनः प्रासंगिकता स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकती है। यह आलेख पौरोहित्य कर्म के संदर्भ में पञ्चमहायज्ञ की परंपरा, महत्व और वर्तमान युग में उसकी प्रासंगिकता पर केंद्रित है।

भारतीय संस्कृति में यज्ञ, संस्कार और धार्मिक कृत्य अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनमें पौरोहित्य कर्म की भूमिका अत्यंत विशिष्ट होती है, जो व्यक्ति को धर्म, कर्म और आचार के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत यज्ञों, संस्कारों एवं अन्य वैदिक अनुष्ठानों का विधिवत् संपादन किया जाता है, जिनका उद्देश्य न केवल आध्यात्मिक उन्नति है, बल्कि सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति भी है। इस संदर्भ में पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण मानी गई है।

पञ्चमहायज्ञ गृहस्थाश्रम में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए नित्य कर्तव्य रूप में वर्णित हैं। ये पाँच यज्ञ हैं – देवयज्ञ (ईश्वर और देवताओं के प्रति कर्तव्य), पितृयज्ञ (पूर्वजों के प्रति श्रद्धा), भूतयज्ञ (प्रकृति एवं प्राणियों के प्रति उत्तरदायित्व), मनुष्ययज्ञ या अतिथि यज्ञ (मानव समाज और अतिथियों की सेवा), तथा ब्रह्मयज्ञ (ज्ञान, वेद और गुरुओं के प्रति कृतज्ञता)। इन यज्ञों का उद्देश्य केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि एक समग्र जीवन-दृष्टि को

प्रस्तुत करना है, जो व्यक्ति को आत्म-केन्द्रित न होकर समाज, प्रकृति और ईश्वर से जुड़ने की प्रेरणा देता है।

वर्तमान समय में जब व्यक्ति की जीवनशैली अत्यंत व्यस्त, यांत्रिक और स्वार्थ-केन्द्रित होती जा रही है, तब पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा पहले से भी अधिक प्रासंगिक हो उठती है। ये यज्ञ हमें स्मरण कराते हैं कि हमारा अस्तित्व केवल हमारे लिए नहीं है, बल्कि हम समाज, पूर्वजों, पर्यावरण, ज्ञान परंपरा और ईश्वर से गहराई से जुड़े हुए हैं। पौरोहित्य कर्म के माध्यम से इन यज्ञों का आयोजन न केवल धार्मिक आस्था को बल देता है, बल्कि आत्मिक शांति, सामाजिक समरसता और पर्यावरणीय संतुलन की भावना को भी सुदृढ़ करता है। इस प्रकार, पञ्चमहायज्ञ केवल एक धार्मिक कर्मकांड न होकर, एक जीवनशैली, एक दृष्टिकोण और एक उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन का प्रतीक है, जो पौरोहित्य कर्म के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी संरक्षित और संचरित होता रहा है। इनकी पुनर्प्रासंगिकता आज के संदर्भ में और भी अधिक गहराई से अनुभव की जा सकती है।

पौरोहित्य कर्म का स्वरूप : पौरोहित्य का शाब्दिक अर्थ है - 'पुरोहित' द्वारा संपन्न किया जाने वाला कर्म। यह एक विशेष वैदिक प्रणाली है जिसमें वेदों के ज्ञाता पुरोहित धार्मिक अनुष्ठानों का विधिपूर्वक संचालन करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक, सोलह संस्कारों से लेकर विविध यज्ञों तक, सबका संचालन पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत आता है। यह कर्म केवल धार्मिक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, शैक्षिक और सामाजिक चेतना का संवाहक भी है।

पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा : भारतीय संस्कृति और धर्मशास्त्रों में जीवन को चार आश्रमों - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास - में विभाजित किया गया है। इन चारों में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्व प्राप्त है, क्योंकि यही आश्रम अन्य तीन आश्रमों के पोषण और संचालन का आधार बनता है। गृहस्थ जीवन को सुचारु और धर्मसम्मत बनाए रखने हेतु पञ्चमहायज्ञ की परंपरा स्थापित की गई है। मनुस्मृति, महाभारत, श्रौतसूत्रों तथा अन्य ग्रंथों में इन पाँच यज्ञों का विस्तार से वर्णन मिलता है। गृहस्थ के लिए यह पाँच यज्ञ नित्य कर्म के रूप में माने गए हैं। इनका उद्देश्य केवल धार्मिक अनुष्ठान तक सीमित नहीं है, बल्कि ये यज्ञ मनुष्य के बहुआयामी जीवन - अध्यात्म, समाज, प्रकृति, परिवार और ज्ञान - से गहरे रूप से जुड़े हैं। गृहस्थाश्रम में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह पाँच यज्ञ नित्य कर्तव्य के रूप में बताए गए हैं। ये यज्ञ इस प्रकार हैं :

1. देवयज्ञ - देवयज्ञ का अर्थ है - देवताओं को समर्पित यज्ञ। इसका प्रमुख रूप अग्निहोत्र है, जो प्रतिदिन प्रातः-सायं अग्नि में आहुति देकर किया जाता है। इसमें सूर्य, अग्नि, इंद्र, वरुण आदि देवताओं का स्मरण और स्तवन किया जाता है।

आध्यात्मिक महत्व : देवयज्ञ व्यक्ति को ब्रह्मांडीय शक्तियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर देता है। यह यज्ञ हमें यह स्मरण कराता है कि सूर्य से हमें प्रकाश और ऊर्जा प्राप्त होती है, वायु से प्राण, जल से जीवन, और अग्नि से शुद्धि।

आधुनिक प्रासंगिकता : वर्तमान समय में जहाँ भौतिक सुख-सुविधाओं पर हमारा ध्यान केंद्रित हो गया है, वहाँ देवयज्ञ की भावना हमें प्राकृतिक संसाधनों के प्रति सम्मान और आभार व्यक्त करना सिखाती है। यह यज्ञ पर्यावरण-संरक्षण की दिशा में भी एक चेतना उत्पन्न करता है।

2. पितृयज्ञ - पितृयज्ञ में पूर्वजों को जल अर्पण (तर्पण), श्राद्ध, और विशेष अवसरों पर उनकी स्मृति में कर्म करना शामिल होता है। इसका उद्देश्य पितरों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना और उनके आशीर्वाद की कामना करना होता है।

धार्मिक महत्व : भारतीय संस्कृति में पितरों को देवताओं के समान स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति कहती है कि जो व्यक्ति अपने पितरों की सेवा और स्मरण करता है, वह पितृऋण से मुक्त होता है और उसके कुल में सुख-शांति बनी रहती है।

आधुनिक प्रासंगिकता : आज जब संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और बुजुर्गों की उपेक्षा हो रही है, पितृयज्ञ की भावना हमें हमारे पारिवारिक मूल्यों की याद दिलाती है। यह यज्ञ नई पीढ़ी को यह सिखाता है कि हमारे अस्तित्व की नींव हमारे पूर्वजों पर टिकी है, और उनका सम्मान करना हमारा कर्तव्य है।

3. भूतयज्ञ - भूतयज्ञ का अर्थ है - समस्त जीवधारियों के प्रति दया, करुणा और सेवा का भाव। इसमें पशु-पक्षियों को अन्न-जल देना, पेड़-पौधों की रक्षा करना, बीमार और

असहाय जीवों की सहायता करना शामिल होता है।

धार्मिक और नैतिक पक्ष : हिंदू धर्म सभी प्राणियों में आत्मा की उपस्थिति मानता है। 'अहिंसा परमो धर्मः' की भावना भूतयज्ञ का मूल है। यह यज्ञ हमें जीवों के साथ सह-अस्तित्व और करुणा का संदेश देता है।

आधुनिक प्रासंगिकता : आज पर्यावरणीय असंतुलन, जैव विविधता का ह्रास और पशुओं पर अत्याचार जैसी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। ऐसे में भूतयज्ञ की भावना न केवल पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखने में सहायक है, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिक और संवेदनशील भी बनाती है।

4. मनुष्ययज्ञ (अतिथि यज्ञ) - मनुष्ययज्ञ, जिसे अतिथि यज्ञ भी कहा जाता है, का अर्थ है - अतिथियों की सेवा करना, भूखों को अन्न देना, जरूरतमंदों की सहायता करना तथा समाज में दान और सहयोग की भावना बनाए रखना।

धार्मिक महत्व : 'अतिथि देवो भवः' की भावना इस यज्ञ का आधार है। प्राचीन समय में गृहस्थ अपने घर आए अतिथि को देवता के समान सम्मान देते थे। यही भारतीय संस्कृति की पहचान रही है।

आधुनिक प्रासंगिकता : आज जब समाज में आत्मकेंद्रित जीवनशैली हावी होती जा रही है, मनुष्ययज्ञ का अभ्यास सामाजिक सहयोग, मानवीय संवेदना और सेवा भावना को पुनर्जीवित कर सकता है। यह यज्ञ हमें 'मैं' से 'हम' की ओर ले जाता है।

5. ब्रह्मयज्ञ - ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य है - वेदों और धर्मग्रंथों का अध्ययन करना, गुरुओं का सम्मान करना, सत्संग में भाग लेना, और ज्ञान की साधना में लगे रहना।

धार्मिक और शैक्षिक महत्व : वेद ज्ञान के आदि स्रोत हैं। उनका अध्ययन और प्रचार ब्रह्मयज्ञ का मुख्य उद्देश्य है। यह यज्ञ गुरु-शिष्य परंपरा को भी सम्मान देता है, जो भारतीय शिक्षा व्यवस्था की रीढ़ रही है।

आधुनिक प्रासंगिकता : आज शिक्षा प्रणाली केवल रोजगार तक सीमित होती जा रही है। नैतिक शिक्षा, चरित्र निर्माण और अध्यात्म से दूरी बढ़ रही है। ब्रह्मयज्ञ की भावना छात्रों और शिक्षकों को ज्ञान के प्रति श्रद्धा और साधना की ओर प्रेरित करती है।

इन पाँचों यज्ञों की परंपरा न केवल धार्मिक या वैदिक परंपराओं से जुड़ी है, बल्कि यह एक समग्र और संतुलित जीवन की ओर संकेत करती है। देवयज्ञ हमें ईश्वर और प्रकृति से जोड़ता है, पितृयज्ञ पारिवारिक परंपरा से, भूतयज्ञ समस्त जीवधारियों से, मनुष्ययज्ञ समाज से और ब्रह्मयज्ञ ज्ञान से। इन यज्ञों के नियमित अभ्यास से व्यक्ति न केवल आध्यात्मिक उन्नति करता है, बल्कि सामाजिक सेवा, पर्यावरणीय चेतना और पारिवारिक समरसता जैसे गुणों को भी आत्मसात करता है। अतः पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि भारतीय जीवनशैली का आधार स्तंभ है। यदि आज के युग में भी इन यज्ञों की भावना को पुनर्जीवित किया जाए, तो एक अधिक समर्पित, संवेदनशील और संतुलित समाज का निर्माण संभव है।

पञ्चमहायज्ञ का धार्मिक महत्व : धार्मिक दृष्टि से पञ्चमहायज्ञ व्यक्ति को अधर्म, अज्ञान और अहंकार से बाहर निकालकर धर्म, ज्ञान और विनय की ओर अग्रसर करता है। वैदिक मतानुसार, इन यज्ञों के द्वारा व्यक्ति अपने ऋणों - देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण, मनुष्यऋण और भूतऋण - को चुकाता है। यह प्रक्रिया व्यक्ति को धर्म के अनुशासन में बाँधती है और आत्मिक शुद्धि प्रदान करती है।

पञ्चमहायज्ञ का सामाजिक और नैतिक पक्ष : पञ्चमहायज्ञ केवल पूजा-पाठ की प्रक्रिया न होकर सामाजिक जीवन में संतुलन और सद्भावना बनाए रखने का एक उपकरण भी है। जब व्यक्ति देवयज्ञ करता है, तो वह ब्रह्मांडीय शक्तियों के प्रति आभार प्रकट करता है। पितृयज्ञ उसे अपनी जड़ों, पूर्वजों और पारिवारिक परंपराओं से जोड़ता है। भूतयज्ञ उसे पर्यावरण के प्रति जागरूक बनाता है और सभी जीवों के साथ सह-अस्तित्व का भाव उत्पन्न करता है।

मनुष्ययज्ञ व्यक्ति को सामाजिक सहयोग, अतिथि सेवा और परोपकार की प्रेरणा देता है, जिससे समाज में दया, करुणा और सहानुभूति का प्रसार होता है। अंततः ब्रह्मयज्ञ उसे सतत ज्ञान अर्जन, गुरु सेवा और वेदों के अध्ययन की ओर प्रेरित करता है, जिससे जीवन में विवेक और दृष्टिकोण की स्पष्टता आती है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पञ्चमहायज्ञ की प्रासंगिकता : आज का युग तकनीकी प्रगति, भौतिक सुख-सुविधाओं और व्यक्तिगत उपलब्धियों का युग है। ऐसे में मानवीय मूल्यों, पर्यावरणीय संतुलन और सामाजिक एकता की उपेक्षा होती जा रही है। इस परिस्थिति में पञ्चमहायज्ञ की

प्रासंगिकता और बढ़ जाती है।

1. पर्यावरणीय संतुलन के लिए भूतयज्ञ : वर्तमान में बढ़ते प्रदूषण, वनविनाश और जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों के समाधान हेतु भूतयज्ञ की भावना अत्यंत आवश्यक है। यह यज्ञ व्यक्ति को प्रकृति के साथ संतुलित संबंध बनाए रखने की प्रेरणा देता है, जिससे जैव विविधता की रक्षा संभव हो पाती है।

2. पारिवारिक और सांस्कृतिक मूल्य हेतु पितृयज्ञ : पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से आज की पीढ़ी अपने पारिवारिक मूल्यों और परंपराओं से दूर होती जा रही है। पितृयज्ञ हमें हमारी जड़ों से जोड़ता है और परिवार की एकता, परंपराओं की गरिमा तथा बुजुर्गों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करता है।

3. सामाजिक सेवा और सहयोग हेतु मनुष्ययज्ञ : आज समाज में बढ़ती आत्मकेंद्रिकता और सामाजिक अलगाव की स्थिति में मनुष्ययज्ञ का अभ्यास सामाजिक समरसता, सेवा भावना और सहयोग की भावना को पुनर्जीवित कर सकता है। अतिथि सेवा, दान और जनकल्याणकारी कार्यों के माध्यम से समाज में प्रेम और सहयोग का विस्तार होता है।

4. शैक्षिक और वैचारिक चेतना हेतु ब्रह्मयज्ञ : शिक्षा के व्यवसायीकरण और नैतिक मूल्यों की कमी के युग में ब्रह्मयज्ञ की परंपरा विद्यार्थियों और शिक्षकों दोनों को ज्ञान के प्रति श्रद्धा और नैतिकता की ओर ले जाती है। यह यज्ञ सतत अध्ययन, चिंतन और गुरु-शिष्य परंपरा को पुनः प्रतिष्ठित करता है।

5. आध्यात्मिक चेतना हेतु देवयज्ञ : अंततः देवयज्ञ व्यक्ति को ईश्वर से जोड़ता है, आत्मा की शुद्धि करता है और जीवन को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता है। यह यज्ञ आस्था, विनम्रता और कृतज्ञता का भाव विकसित करता है जो मानसिक संतुलन और आंतरिक शांति के लिए आवश्यक है।

पौरोहित्य कर्म के माध्यम से पञ्चमहायज्ञ का प्रचार-प्रसार : पौरोहित्य कर्म न केवल यज्ञों और संस्कारों के संपादन की प्रक्रिया है, बल्कि यह उन मूल्यों और शिक्षाओं का संवाहक है जो पञ्चमहायज्ञों में समाहित हैं। पुरोहित, समाज के मार्गदर्शक होते हैं, जो वैदिक परंपराओं के माध्यम से जनमानस को जीवन के उच्च आदर्शों से जोड़ते हैं। आज आवश्यकता है कि पुरोहित वर्ग इस उत्तरदायित्व को और अधिक सजगता से निभाए तथा पञ्चमहायज्ञ की उपादेयता को जनसामान्य तक पहुँचाए।

निष्कर्ष : पञ्चमहायज्ञ केवल वैदिक परंपरा का एक भाग न होकर, जीवन को संतुलित, समर्पित और समरस बनाने की प्रक्रिया है। यह व्यक्ति को न केवल आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करता है, बल्कि सामाजिक दायित्व, पारिवारिक एकता, पर्यावरणीय चेतना और शैक्षिक दृष्टिकोण से भी उसे संपन्न बनाता है। आज के भौतिकवादी युग में जब आत्मकेन्द्रिकता, पारिवारिक विघटन, सामाजिक अलगाव और पर्यावरणीय संकट अपने चरम पर हैं, तब पञ्चमहायज्ञ की परंपरा हमें एक वैकल्पिक जीवन-दृष्टि प्रदान करती है – ऐसी दृष्टि जो न केवल व्यक्तिगत उन्नति की ओर ले जाती है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संतुलन की ओर भी। अतः पौरोहित्य कर्म के अंतर्गत पञ्चमहायज्ञ की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी वैदिक काल में थी। यदि हम इन यज्ञों की भावना को अपने जीवन में अपनाएँ, तो हम न केवल एक श्रेष्ठ गृहस्थ बन सकते हैं, बल्कि एक संतुलित और धर्मसम्मत समाज की स्थापना में भी सहायक हो सकते हैं।

शोध छात्र
एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत
स्टडीज एण्ड रिसर्च
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तरप्रदेश, नोएडा

---

lUnHkZ lwph

- मनुस्मृति - मनु
- याज्ञवल्क्य स्मृति - याज्ञवल्क्य
- महाभारत - वेदव्यास
- ऋग्वेद - वेदव्यास
- गृह्यसूत्र - विभिन्न आचार्यों द्वारा
- अपस्तम्ब धर्मसूत्र - अपस्तम्ब
- शतपथ ब्राह्मण - शौनक
- भगवद्गीता - श्रीकृष्ण
- चाणक्य नीति - आचार्य चाणक्य
- संस्कृत-साहित्य-का-इतिहास - डॉ. एस.एन. दासगुप्त

शशांक कुमार

रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में ग्रामीण यथार्थ

शोध-सार

भूमंडलीकरण एक ऐसी वैश्विक प्रक्रिया है जिसने बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में विश्व के हर कोने को प्रभावित किया। भारत में 1991 के आर्थिक उदारीकरण के बाद इस प्रक्रिया ने ग्रामीण समाज को भी अपनी चपेट में लिया, जिससे ग्रामीण जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय पहलुओं में व्यापक बदलाव आए। हिंदी साहित्य में इस बदलते ग्रामीण यथार्थ को कई लेखकों ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया, लेकिन रामधारी सिंह दिवाकर का योगदान इस संदर्भ में विशिष्ट है। उनके उपन्यास ग्रामीण जीवन की जटिलताओं, उसकी चुनौतियों और परिवर्तनों को प्रामाणिकता और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। गाँव में बढ़ रहे शहर का प्रभाव और उस प्रभाव से हो रहे गाँव में परिवर्तन को रेखांकित करते उनके अधिकांश उपन्यास गाँव की सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियों को उभारने का प्रयास करते हैं।

इस शोध पत्र के माध्यम से रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में भूमंडलीकृत ग्रामीण यथार्थ के विभिन्न आयामों अर्थात् आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक संरचना का विघटन, सांस्कृतिक संकट, पर्यावरणीय प्रभाव और प्रौद्योगिकी के प्रसार इत्यादि का प्रमुखता से विश्लेषण किया गया है। इसके लिए उनके प्रमुख उपन्यास जैसे पंचमी तत्पुरुष, अकाल संध्या, टूटते दायरे, दाखिल खारिज और आग-पानी आकाश का अध्ययन किया गया है। शोध का उद्देश्य यह समझना है कि भूमंडलीकरण ने ग्रामीण समाज को कैसे प्रभावित किया और दिवाकर जी ने इसे अपने साहित्य में कैसे अभिव्यक्त किया।

बीज शब्द

भूमंडलीकरण, ग्रामीण यथार्थ, बाजारवाद, प्रौद्योगिकी, संस्कृति, आर्थिक, विस्थापन, ग्रामीण समाज, बेरोजगारी, ग्रामीण विकास, सरकारी योजनाएँ, पंचवर्षीय योजनाएँ, मनरेगा, ग्राम्य संस्कृति

भूमंडलीकरण और ग्रामीण यथार्थ

भूमंडलीकरण को वैश्विक स्तर पर आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता है। भारत में इसकी शुरुआत 1991 के आर्थिक सुधारों से हुई, जब देश ने अपनी अर्थव्यवस्था को वैश्विक बाजार के लिए खोल दिया। इस प्रक्रिया ने ग्रामीण भारत में बाजार अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिकी और शहरी प्रभाव को बढ़ावा दिया, जिससे पारंपरिक जीवनशैली पर गहरा असर पड़ा। ग्रामीण समाज, जो पहले आत्मनिर्भर और कृषि-आधारित था, अब वैश्विक शक्तियों के प्रभाव में आ गया। रमेश शर्मा लिखते हैं कि ''दिवाकर का लेखन ग्रामीण समाज के उस यथार्थ को उजागर करता है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता का टकराव एक नई वास्तविकता को जन्म देता है।''[1] आज की बदली हुई परिस्थिति में गाँव की स्थिति ऐसी बनकर रह गयी है कि अपने ही खेत में अपने हाथों से खेती करने वाला व्यक्ति को हेय दृष्टि से देखा जाता है। दूसरी ओर येन-केन प्रकारेण पैसा बटोरने वाले भ्रष्ट चरित्र समाज के लिए आदरणीय एवं आदर्श बन गए हैं। इस युग में केवल पैसा ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बन गया है। ईमानदारी से जीने की कोशिश एक असफल प्रयास है, वही सफल है जो तिकड़म करके पैसा

बनाना जानता है। यह सच्चाई केवल शहर के जीवन का ही नहीं, गाँव के जीवन में भी हर जगह उजागर हो गयी है। इस तरह से दिवाकर के उपन्यास इस बदलते यथार्थ को समझने का एक साहित्यिक माध्यम बनते हैं। उनके लेखन को लेकर सुधीर मिश्रा लिखते हैं कि ''उनका लेखन ग्रामीण जीवन के उस दौर को दर्शाता है, जब गाँव अब केवल गाँव नहीं रहे, बल्कि वैश्विक प्रक्रियाओं का हिस्सा बन गए।''[2] यह परिवर्तन उनके कथानकों, पात्रों और भाषा में स्पष्ट रूप से झलकता है।

आर्थिक परिवर्तन और ग्रामीण संकट

भूमंडलीकरण का सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर पड़ा। 'आग-पानी आकाश' में दिवाकर ग्रामीण मजदूरों और किसानों के शहरों की ओर पलायन को एक केंद्रीय विषय बनाते हैं। यह पलायन गाँवों में रोजगार के अवसरों के अभाव और शहरी औद्योगीकरण के आकर्षण का परिणाम है। उपन्यास में एक पात्र कहता है, ''गाँव में अब खेती से पेट नहीं भरता, शहर में मजदूरी ही रास्ता है।''[3] यह कथन भूमंडलीकरण के कारण ग्रामीण आजीविका के संकट को दर्शाता है। जन-मजूर भी दिल्ली, पंजाब, हरियाणा..जाने कहाँ-कहाँ चले जाते हैं। गाँव में कोई रहना चाहता है भला।

'अकाल संध्या' उपन्यास में इसका उदाहरण देखने को मिलता है, ''बबुआन टोले, बभनटोली या भूमिहार टोले के लोग जब-तब दिल्ली-पटना जाते थे, मगर दक्षिण टोले या पश्चिम टोले के लोगों के लोगों के लिए तो गाँव ही पूरा भूमंडल था।'' ''कितना बदल गया जमाना! अब तो गाँव के जन-मजदूर ही देख रहे हैं दुनिया। मालिक-मालिकर गाँव अगोरे बैठे हैं एक जगह। मजदूर कहते हैं-जब कमाकर ही खाना है तो क्या घर क्या परदेश।''[4] आजकल कुछ रचनाकारों के लिए 'जनवाद' एक क्षणिक साहित्यिक फैशन का रूप धारण कर चुका है, जिसके परिणामस्वरूप वे ग्रामीण वास्तविकता को केवल भू-स्वामियों और भूमिहीन श्रमिकों के मध्य विद्यमान पारंपरिक संघर्ष के एक पूर्व-निर्धारित और संकीर्ण ढाँचे के भीतर ही चित्रित करते हैं। चूँकि ऐसे लेखन का प्राथमिक उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन का प्रदर्शन करना होता है, अत: यह महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राय: उपेक्षित रह जाता है कि समाज अपनी आंतरिक संरचनात्मक गतिशीलता के परिणामस्वरूप स्वत: ही रूपांतरित हो रहा है।

सामंती व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए उत्सुक पात्रों की सर्जना करने के प्रबल उत्साह में, लेखक इस अंतर्निहित सत्य की प्राय: अनदेखी कर देते हैं कि वह व्यवस्था स्वयं भी आंतरिक रूप से क्षीण हो रही है और विघटन की प्रक्रिया से गुजर रही है। यही कारण है कि इस प्रकार के सतही और फैशनपरस्त जनवादी लेखन में बहुधा ऐसे सामंती परिवार अनुपस्थित पाए जाते हैं जो मिथ्याभिमान, अथाह ऋणभार और जटिल कानूनी मुकदमों के भँवर में फँसे हुए धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है कि जो लेखन सामाजिक बदलाव की पुरजोर वकालत करता है, वह स्वयं समाज के धरातल पर घटित हो रहे सूक्ष्म परिवर्तनों को समझने और उनका प्रामाणिक चित्रण करने में असमर्थ सिद्ध होता है।

इसके विपरीत, ऐसे लेखन में उन हलवाहों का भी चित्रण नहीं मिलता जो पंजाब या अन्य विकसित क्षेत्रों में अपनी कमाई के बल पर न केवल अपने 'मालिकों' को ऋण देते हैं, बल्कि कई बार उनकी गिरवी रखी गई जमीन को स्वयं खरीद लेते हैं। यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक गतिशीलता है जो ग्रामीण शक्ति समीकरणों में आ रहे बदलाव को दर्शाती है। दिवाकर जी के उपन्यासों में ऐसी स्थितियाँ अनायास ही देखने को मिल जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दिवाकर जी का लेखन ग्रामीण यथार्थ की अधिक सूक्ष्म और बहुआयामी तस्वीर प्रस्तुत करता है, जो केवल वर्ग संघर्ष के संकीर्ण दृष्टिकोण से परे है। उनके उपन्यासों में समाज के भीतर की जटिलताएं, आंतरिक विरोधाभास और अप्रत्याशित परिवर्तन सहज रूप से चित्रित होते हैं, जो समकालीन ग्रामीण जीवन की अधिक वास्तविक और व्यापक समझ प्रदान करते हैं।

'अकाल संध्या' उपन्यास में सूखा और अकाल के चित्रण के माध्यम से आर्थिक संकट को और गहराई से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लेखक दिखाते हैं कि कैसे वैश्विक व्यापार नीतियों ने स्थानीय किसानों को प्रभावित किया। उपन्यास में एक किसान की व्यथा, ''बीज महँगा, खाद महँगा, और फसल का दाम कुछ भी नहीं,'' इस संकट की गहराई को उजागर करती है।''[5] इस संदर्भ में अशोक तिवारी लिखते हैं, ''किसानों की बदहाली और कर्ज का बोझ भूमंडलीकरण की देन है, जहाँ कृषि उत्पादों की कीमतें वैश्विक बाजार से निर्धारित होती हैं।''[6] इसके

अलावा, 'दाखिल खारिज' उपन्यास में भूमि के बाजारीकरण को भी दर्शाया गया है। ''भूमि अब केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था में एक मूल्यवान संपत्ति बन गई है।''[7] यह परिवर्तन ग्रामीण समाज में आर्थिक असमानता को बढ़ाता है, जिसे दिवाकर ने पात्रों के संघर्षों के माध्यम से प्रभावी ढंग से चित्रित किया।

सामाजिक संरचना का विघटन

भूमंडलीकरण ने ग्रामीण समाज की पारंपरिक संरचना को भी प्रभावित किया। 'टूटते दायरे' उपन्यास में सामंती व्यवस्था के टूटने और व्यक्तिवाद के उदय को दर्शाया गया है। पुराने सामाजिक बंधन अब कमजोर पड़ रहे हैं, और नई पीढ़ी वैश्विक मूल्यों की ओर आकर्षित हो रही है। उपन्यास में एक पात्र कहता है, ''अब गाँव में कोई किसी का नहीं, सब अपने लिए जीते हैं।''[8] यह कथन सामाजिक एकता के विघटन को रेखांकित करता है। 'पंचमी तत्पुरुष' उपन्यास में पारिवारिक संबंधों में आए तनाव को दिखाया गया है। भूमंडलीकरण ने संयुक्त परिवार की जगह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया, जिससे ग्रामीण समाज में नई चुनौतियाँ पैदा हुई। यहाँ लेखक पारंपरिक मूल्यों और आधुनिकता के बीच संघर्ष को पात्रों के जीवन के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, एक युवा पात्र अपने पिता से कहता है, ''मैं गाँव में नहीं रहूँगा, शहर में अपनी राह बनाऊँगा।''[9] यह संवाद नई पीढ़ी की आकांक्षाओं और पुरानी पीढ़ी के मूल्यों के टकराव को दर्शाता है। इसी प्रकार के पारिवारिक मूल्यों का पत्तन 'दाखिल खारिज' उपन्यास में भी दिखता है। जिसमें लेखक ने प्रोफेसर साहब के रिटायर होने के बाद गाँव में वापस बसने की कोशिश को दिखाया है। गाँव-समाज के लोगों को छोड़ दीजिए अपने सगे भाई-भतीजे ही नहीं चाहते कि वे गाँव में रहें। ''भाई-भतीजे जबरदस्ती जमीन पर कब्जा कर रहे हैं कि भैया मार करने तो आएंगे नहीं। भले आदमी हैं, विद्वान् हैं। वे लाठी तो उठाएंगे नहीं अपने भाइयों पर।''[10] आपसी संबंधों को चुप रहकर या झूठ बोलकर ही निभाया जा सकता है। सच बोलने के साथ ही संबंध बदलने लगते हैं। एक-दूसरे की तारीफ करते रहो सब ठीक रहेगा। सामने से मित्र का स्वांग भरकर कब आपकी जमीन पर दखल कर लेंगे पता ही नहीं चलेगा। यह स्वभाव गाँव-देहात में देखने को मिल जाता है। वस्तुतः एक बार अपने पैतृक स्थान छूटने के बाद उस स्थान के लोग आपको स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

भूमंडलीय दौर के इन दशकों के सभी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज व्यवस्था की प्रमुख इकाई 'परिवार' में आए आकस्मिक परिवर्तनों को प्रमुखता से उजागर किया है। भूमंडलीकरण के उपभोक्ता और बाजारवादी संस्कृति ने लोगों के मानस में तमाम सुख-सुविधाओं को भोगने की लालसा पैदा की है। जिसके लिए लोग अत्यधिक पैसा कमाने की चाह में लोग अपने गाँव-समाज, परिवार को छोड़कर शहरों में रहना अपेक्षाकृत अधिक पसंद कर रहे हैं। उनके लिए एक बार को गाँव लौटना भी मुनासिब नहीं हो रहा है। इस दौर में यह परिवर्तन व्यापक रूप में दिखाई दे रहा है। रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यास 'अकाल संध्या' का पात्र नंदू नौकरी करने के लिए अपने गाँव, परिवार, माँ-बाप सबको छोड़कर अमेरिका चला जाता है- ''इतना बड़ा हो गया कि मुझ अकेली मां को यहाँ गाँव में छोड़कर जाने कितने समुन्दर पार अमेरिका चला गया अपना परिवार लेकर। पैसे की भूख। सुख-भोग की भूख। दुलहिन, पम्मी, नेहा, छोटू सब चले गए।''[11] नन्दू खुद तो जाता ही है साथ में अपने बीवी और बच्चों को भी ले जाता है। यहाँ संयुक्त परिवार को एकल परिवार के रूप में ढलते हुए स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके पीछे का कारण अर्थ का लोभ लक्षित हो रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में विदेशों में अनेक नए अवसर उपलब्ध हुए हैं जिसे पाने के लिए लोग अपने घर-परिवार, वृद्ध माँ-बाप को छोड़कर उधर पलायन कर रहे हैं।

दिवाकर जी का बहुचर्चित उपन्यास 'आग-पानी-आकाश' न केवल दलित समाज का चित्रण करता है, बल्कि उनकी बदलती हुई मानसिकता और व्यापक सामाजिक संरचना में आ रहे परिवर्तनों का भी सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति के रूप में उभरता है जो दलित अनुभव की प्रामाणिकता को रचनात्मक रूप से सामने रखता है। उपन्यासकार इसमें यह दर्शाते हैं कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद दलित समुदाय का एक बड़ा हिस्सा व्यक्तिगत भौतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में संलग्न हो जाता है। इस प्रक्रिया में, वे अपने सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ों से दूर होते चले जाते हैं, जिससे एक प्रकार का अलगाव उत्पन्न होता है। दूसरी ओर, एक छोटा सा समूह ऐसा भी है जो व्यक्तिगत सफलता की दौड़ में शामिल न होकर अपने पिछड़े समाज

के अधिकारों के लिए संघर्षरत रहता है। भले ही यह धारा कोई बड़ी व्यक्तिगत उपलब्धि हासिल न कर पाए, लेकिन यह हाशिए पर धकेले गए समुदाय के लिए उम्मीद और प्रतिरोध का प्रतीक बनी रहती है। इस प्रकार, उपन्यास दलित समाज के भीतर मौजूद विरोधाभासों और जटिलताओं को उजागर करता है, जहाँ शिक्षा और प्रगति की आकांक्षाएं समुदाय के भीतर विभाजन और नई चुनौतियों को जन्म देती हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव और पहचान का संकट

भूमंडलीकरण के साथ पश्चिमी संस्कृति और उपभोक्तावाद का प्रभाव ग्रामीण जीवन में भी देखा जा सकता है। 'पंचमी तत्पुरुष' उपन्यास में युवा पीढ़ी के बदलते मूल्यों को दर्शाया गया है। गाँवों में टीवी, मोबाइल और विज्ञापनों ने नई आकांक्षाएँ पैदा की हैं, जो परंपरागत जीवन से टकराती हैं। उपन्यास में एक दृश्य में युवा लड़के शहर के फैशन और जीवनशैली की चर्चा करते हैं, जो ग्रामीण संस्कृति से अलग है।

अमित राय के अनुसार, ''दिवाकर जी के पात्र इस द्वंद्व में फँसे दिखते हैं कि वे अपनी जड़ों को बचाएँ या आधुनिकता को अपनाएँ।''[12] 'टूटते दायरे' उपन्यास में एक पात्र की पीड़ा, ''हमारी बोली, हमारी रीतियाँ सब खो रही हैं,''[13] सांस्कृतिक क्षरण को व्यक्त करती है। यह पहचान का संकट ग्रामीण समाज के लिए एक बड़ी चुनौती बनता है, जिसे दिवाकर जी ने संवेदनशीलता से उकेरा है। लेखकों ने ग्रामीण संस्कृति पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को स्पष्टता के साथ चित्रित किया है। इस प्रकार से उपन्यास के माध्यम से पूरी संवेदना के साथ समाज एवं संस्कृति में युग के परिवर्तनों को उभारने का कार्य सफलतापूर्वक हुआ है। संस्कृति का स्वरूप अपनी आदिम अवस्था में यूँ ही विद्यमान रहती है। उसके बाह्य स्वरूप में ही समय के साथ परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन एक तरह से समय की मांगों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। चाहे वह आधुनिक युग हो या किसी शताब्दी का कोई दशक हो, संस्कृति स्वयं को मानव-जीवन में आये इन परिवर्तनों, सभ्यताओं के विकास तथा अवधारणाओं के परिवर्तित स्वरूप के साथ विस्तृत करते चलती है। युगीन सांस्कृतिक बोध के रूप में इन विशेषताओं को देखा और समझा जाना चाहिए। सामासिक संस्कृति को बनाए रखने के लिए इन प्रमुख प्रभावों को चिह्नित करते हुए इसे बेहतर करने की जरूरत है।

वस्तुतः अपनी संस्कृति के प्रति सम्मानित दृष्टिकोण, मानवीय मूल्यों का ह्रास को पाटना, समाज में मौजूद अंधविश्वास और सड़े-गले परम्पराओं को त्यागकर, उपभोक्तावाद की संस्कृति से मुक्त होकर सामासिक संस्कृति का उन्नयन कर सकते हैं।

प्रौद्योगिकी और संचार का प्रसार

दिवाकर जी के उपन्यासों में प्रौद्योगिकी का प्रभाव भी देखा जा सकता है। अपने उपन्यास 'अकाल संध्या' में बदलते हुए पारिवारिक संबंधों को चित्रित किया है। अच्छी नौकरी और अधिक धन कमाने की इच्छा लिए नन्दू अपने परिवार को पीछे गाँव में छोड़कर अमेरिका चला जाता है, वहां जाने के साथ ही भावनात्मक रूप से सभी से उसका लगाव कम होते जाता है। ''माई ने फोन पर बात करते हुए पूछा था। नंदू का जवाब था, यह सोचने का समय कहाँ मिलता है माई, कि मन लगता है या नहीं।''[14] संचार के माध्यम से हम सूचनाओं का आदान प्रदान भले ही कर लेते हैं, पर वहां लगाव आभासी होता है। साहचर्य से उपजे लगाव की आत्मीयता की बात ही कुछ अलग होती है। आधुनिक प्रौद्योगिकी ग्रामीण समाज को आधुनिकता से जोड़ती है, लेकिन साथ ही उनकी पारंपरिक जीवनशैली के लिए चुनौती भी बनती है। उदाहरण के लिए, विज्ञापन और सोशल मीडिया ने ग्रामीण युवाओं की आकांक्षाओं को बदल दिया है, जिसे दिवाकर जी ने अपने पात्रों के व्यवहार में दिखाया है।

पात्रों और कथानक के माध्यम से अभिव्यक्ति

दिवाकर जी ने भूमंडलीकरण के प्रभाव को अपने कथानकों में नीति-विश्लेषण के रूप में नहीं, बल्कि पात्रों के जीवन, उनके निर्णयों और संघर्षों के माध्यम से व्यक्त किया। ''उनके पात्र इस बदलते यथार्थ के प्रतिबिंब हैं, जो परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन खोजते हैं''[15] उदाहरण के लिए, आग-पानी आकाश में एक मजदूर का शहर जाने का निर्णय और पंचमी तत्पुरुष में एक युवा का अपने परिवार से विद्रोह, दोनों ही भूमंडलीकरण के प्रभाव को दर्शाते हैं।

उनकी भाषा में ग्रामीण बोली और आधुनिक संदर्भों का मिश्रण इस प्रभाव को और गहराई देता है। दिवाकर की शैली में मिट्टी की सुगंध के साथ-साथ आधुनिकता की छाया भी दिखती है। यह मिश्रण उनके लेखन को

विशिष्ट बनाता है और ग्रामीण यथार्थ को बहुआयामी रूप में प्रस्तुत करता है।

उपसंहार

रामधारी सिंह दिवाकर जी के उपन्यास ग्रामीण यथार्थ के प्रामाणिक दस्तावेज हैं, जो भूमंडलीकरण के प्रभाव को सूक्ष्मता और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनका लेखन न केवल ग्रामीण जीवन की चुनौतियों को दर्शाता है, बल्कि उसकी आशाओं और परिवर्तनों को भी उजागर करता है। आर्थिक संकट, सामाजिक विघटन, सांस्कृतिक संकट और प्रौद्योगिकी का प्रसार जैसे विषय उनके उपन्यासों में गहरे उतरे हैं।

दिवाकर जी का साहित्य हमें यह सोचने के लिए मजबूर करता है कि भूमंडलीकरण ग्रामीण भारत के लिए वरदान है या अभिशाप। उनकी रचनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं, क्योंकि ग्रामीण भारत अभी भी इस वैश्विक प्रक्रिया के प्रभावों से जूझ रहा है। उनके उपन्यास साहित्यिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से एक महत्वपूर्ण योगदान हैं। इस प्रकार, दिवाकर का साहित्य भूमंडलीकृत ग्रामीण यथार्थ को समझने का एक सशक्त माध्यम है, जो हमें ग्रामीण समाज के बदलते स्वरूप पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

शोधार्थी, हिंदी
असम विश्वविद्यालय, दिफू परिसर, दिफू,
कार्बी आंगलोंग, असम-782462
ईमेल : kumarshashank2050@gmail.com

---

lUnHkZ lwph

1- शर्मा, रमेश. हिंदी उपन्यास और ग्रामीण यथार्थ, दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, 2010, पृ. 45
2. मिश्रा, सुधीर. रामधारी सिंह दिवाकर: एक अध्ययन. पटना : बिहार ग्रंथ अकादमी, 2009, पृ. 89
3. दिवाकर, रामधारी सिंह. आग-पानी आकाश. दिल्ली : साहित्य अकादमी, 1999, पृ. 56
4. दिवाकर, रामधारी सिंह. अकाल संध्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 28
5. वही, पृ. 23.
6. तिवारी, अशोक. टूटते दायरे: सामाजिक परिवर्तन का दस्तावेज. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 78
7. पांडेय, विजय. दाखिल खारिज और ग्रामीण यथार्थ. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2014, पृ. 101
8. दिवाकर, रामधारी सिंह. टूटते दायरे. पटना : बिहार ग्रंथ अकादमी, 1993, पृ. 67
9. दिवाकर, रामधारी सिंह. पंचमी तत्पुरुष. दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1995, पृ. 34
10. दिवाकर, रामधारी सिंह. दाखिल खारिज. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 234
11. दिवाकर, रामधारी सिंह. अकाल संध्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 19
12. राय, अमित. आग-पानी आकाश : एक पर्यावरणीय दृष्टिकोण. दिल्ली : ग्रंथशिल्पी, 2015, पृ. 78
13. दिवाकर, रामधारी सिंह. टूटते दायरे. पटना : बिहार ग्रंथ अकादमी, 1993, पृ. 101.
14. दिवाकर, रामधारी सिंह. अकाल संध्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ. 23
15. पाठक, रमेश. ग्रामीण यथार्थ और हिंदी उपन्यास. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2012, पृ. 56

डॉ. राजवर्मा सिन्हा

विवेकानन्द की दृष्टि में धर्म का स्वरूप और मार्ग

धर्म के विषय में यदि विवेकानन्द का विचार जानना हो तो यह उचित प्रतीत होता है कि हम उनकी कृति हिन्दू धर्म का अध्ययन करें जहाँ धर्म न तो आत्मप्रशंसा का विषय है न ही शुष्क आलोचना का, बल्कि यह एक हठधर्मिता रहित सच्ची खोज है। इसके साथ ही, धर्म को पाने के लिए या आत्म-साक्षात्कार के लिए राजयोग व कर्मयोग के मार्गों का परीक्षण भी सही जान पड़ता है। विवेकानन्द कहते हैं, ''मैं यहाँ यह देखने नहीं आया कि हमारे और आपके बीच क्या क्या मतभेद है, वरन् मैं यह खोजने आया हूँ कि आपकी और हमारी मिलनभूमि कौन सी है।''[1] धर्म के स्वरूप को जानने का विवेकानन्द का यह प्रयास 'रचनात्मक' है आलोचनात्मक नहीं। हिन्दू धर्म पर दिये गए उनके भाषण किसी विशेष सम्प्रदाय के हित में नहीं, बल्कि संपूर्ण मानवजाति के कल्याण के लिए दिए गए हैं। वे कहते हैं कि किसी भी सम्प्रदाय या पंथ की महिमा किसी से कम नहीं, पर उन सबकी सच्ची बातें ही 'एकता की सम्मिलन भूमि'[2] प्रदान कर सकती है।

विवेकानन्द इस बात को अनदेखा नहीं करते कि जैसे प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तित्व होता है, वैसे ही प्रत्येक समुदाय का एक इतिहास एवं व्यक्तित्व होता है। हर समुदाय अपने विशिष्ट लक्षणों के कारण अन्य समुदायों से अलग होता है। पर कुछ सामान्य तत्व भी होते हैं। जैसे कि भिन्न धर्मों में कुछ सामान्य तत्व हैं भले उनकी व्याख्याएँ अलग-अलग हों। वे कहते हैं : ''हिन्दू धर्म के अन्दर हम सबका सर्वप्रथम मिलन स्थान है 'वेद'।[3] क्योंकि धर्म संबंधी हमारे मतभेद हैं उनकी 'अन्तिम मीमांसा'[4] करने वाला वेद ही है। इसके अलावा, हिन्दू; धर्म के सभी संप्रदाय ईश्वर अथवा उस असीम सत्ता पर विश्वास करते हैं। इसके साथ ही हम सभी प्रकृति के अनादि अनन्त स्वरूप को मानते हैं। आत्मा की नित्यता व पुनर्जन्म पर भी सभी संप्रदायों में मतैक्य है। हमारा स्वभाव पवित्रता और पूर्णत्व है, अपवित्रता और अपूर्णता नहीं।

विवेकानन्द के अनुसार प्राय: हम अर्थविहीन वागाम्बर को आध्यात्मिक ज्ञान समझ लेते हैं। उसी को धर्मानुभूति समझ लेते हैं। पर यह सही नहीं है; बिना आत्मानुभूति के धर्मानुभूति कैसे संभव है। ''ईश्वर सभी मनुष्यों को इस प्रकार बनाये कि उनके चित्त में ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म का भाव पूर्ण मात्रा में और समान रूप में वर्तमान हो... पूर्ण मनुष्य का मेरा आदर्श यही है।''[5]

इस प्रकार विवेकानन्द कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं और उसका उत्तर देने का प्रयास करते हैं। धर्म और आध्यात्म का मार्ग कैसा होना चाहिए? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और देखा जाए तो विभिन्न संतों, दार्शनिकों और आचार्यों ने इसका अलग-अलग हल दिया है। पाश्चात्य दर्शन में देखें तो कई विचारकों का मानना है कि धर्म का मार्ग मुख्यत: आस्था से निर्मित है। दूसरी ओर ऐसे विचारक भी हैं जो ज्ञान और विश्वास में ज्ञान को वरीयता देते हैं। स्वामी विवेकानन्द, जिनका नाम स्वामी रामकृष्ण 'परमहंस' ने 'विवेकानंद' इसीलिए रखा, क्योंकि इन्होंने विवेक को आस्था का आवश्यक सोपान माना। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, धर्म और आध्यात्म का मार्ग

विश्वास से ज्ञान की ओर न हो के, ज्ञान से विश्वास की ओर होना चाहिए। इसके आधारभूत तत्व अनुभव एवं निरीक्षण होने चाहिए। धर्म और आध्यात्म रूढ़िवादिता अथवा हठधर्मिता पर कभी भी आश्रित नहीं होने चाहिए। हमारी आस्था को सत्यापनीय होना चाहिए।

विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित राजयोग का विज्ञान मानवता के एकत्व पर विश्वास करता है। इसके अनुसार, वैसे तो मनुष्य एक सीमित भौतिक ऊर्जा ही प्रतीत होता है, पर उसके अन्दर असीम आध्यात्मिक ऊर्जा छिपी हुई है। राजयोग एक विज्ञान है और विज्ञान की ही तरह यह वस्तुनिष्ठ है और किसी भी तथ्य अथवा घटना को एक वस्तुनिष्ठ तरीके से समझाने में एक्षम है। इसके अनुसार किसी भी तथ्य तक पहुँचने का क्या मार्ग है, इस पर कैसे चलना है, ये सभी बातें सार्वभौमिक व सामान्य ज्ञान का हिस्सा है, और सर्वसुलभ व सर्वगम्य है। साथ ही, विज्ञान के विपरीत, राजयोग उन तथ्यों का निषेध नहीं करता जिनकी व्याख्या करना कठिन हो। यह किसी भी साधारण विश्वास अथवा मत से भिन्न है क्योंकि यह किसी भी रूढ़िवादी व्याख्या को प्रश्रय नहीं देता। इसके अनुसार, ''यह (राजयोग) मानवजाति को बताता है कि प्रत्येक जीव उस छिपे हुए ज्ञान व शक्ति के असीम सागर के लिए मात्र एक नालिका है।''[6] इच्छाएँ भी मनुष्य के अन्दर हैं और उन्हें प्राप्ते करने का माध्यम भी स्वयं मनुष्य ही है। अर्थात् मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं के आंतरिक स्वरूप के पहचाने, अपनी शक्तियों को पहचाने अपने अन्दर के अतिमानव को जाने। हमें अपनी शक्तियों को ज्ञात करने का प्रयास स्वयं ही करना है।

विवेकानन्द के अनुसार, ''विश्व के सारे धर्म हमारे ज्ञान की उस एक सार्वभौमिक एवं अभेद्य नींव पर टिके हैं- साक्षात अनुभव।'' यीशु मसीह, मुहम्मद और बुद्ध इन सबने उस परम सत्य का साक्षात्कार किया था। यह तो सत्य है ही कि सारे धर्म अनुभव पर आधारित है, साथ ही यह भी निश्चित है कि किसी भी मनुष्य को हम तब तक पूर्णत: धार्मिक नहीं कह सकते जब तक कि उसने सत्य का साक्षात अनुभव नहीं किया हो। धर्म के नाम पर इतनी हिंसा होती है तो यह समझना आवश्यक हो जाता है कि धर्म क्या है, इसका स्वरूप कैसा है और सबसे महत्वपूर्ण बात है कि धार्मिक कौन है? विवेकानन्द कहते हैं- उस व्यक्ति को यह कहने का क्या अधिकार है कि उसकी आत्मा है यदि उसने इसको अनुभव नहीं किया है, या यह कि ईश्वर है यदि उसने उसका प्रत्यक्ष नहीं किया है? यदि ईश्वर है तो हमें उसका प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, यदि आत्मा है, तो हमें उसका प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, अन्यथा यह श्रेष्ठ होगा कि हम विश्वास न करें।''[7] यदि ऐसा नहीं है तो स्वयं को धार्मिक घोषित करना मात्र प्रपण्च से अधिक कुछ नहीं। ''पाखंडी होने से श्रेष्ठ होगा कि कोई मुखर नास्तिक''[8] हो।

विवेकानन्द के विचारों से प्रतीत होता है कि धर्म किसी भीड़ का विषय वस्तु नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी खोज है। हम स्वयं के विस्तार को स्वयं में ढूँढते हैं। तभी तो बुद्ध को उद्धृत करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि बुद्ध ने भी तो इसी सत्य को पाया था- ''अप्पो दीपो भव आनन्द''-''आनन्द, अपना प्रकाश स्वयं बनो।'' तभी शंकर इस परम सत्य को अनिवर्चनीय कहते हैं और बौद्ध संत नागार्जुन इसे 'अपरप्रत्ययम्' अथवा वह ज्ञान जो अन्य से प्राप्त नहीं होता, कहते हैं। राजयोग का विज्ञान हमें इस सत्य को प्राप्त करने का व्यवहारिक व वैज्ञानिक मार्ग बताता है। और एक विज्ञान की तरह ही राज योग इसकी विधि भी बताता है।

विवेकानन्द कहते हैं कि जितना आसान इस जगत् में चलने वाली अनुभवाश्रित घटनाओं और तथ्यों को देखना और जानना है, उतना ही कठिन आन्तरिक तत्वों को जानना है। अपने मन को जानना और अपने आंतरिक स्वरूप को जानना अत्यंत कठिन है। राजयोग का विज्ञान अपनी आंतरिक वृत्तियों को जानने का साधन बताता है। मन की ध्यान शक्ति को जब सही ढंग से निर्देशित करके आंतरिक जगत पर केन्द्रित किया जाता है तो यह मन का विश्लेषण करके तथ्यों को प्रकाशित करता है। सूर्य की रोशनी वैसे तो हर दिशा में बिखर जाती है पर 'मैग्निफाइंग ग्लास' इसी उर्जा को एक जगह संग्रहित करके इसे और अधिक शक्तिशाली बना देता है। इसी प्रकार जब ''ध्यान शक्ति''[9] को केन्द्रित किया जाता है तो यह आन्तरिक तथ्यों को स्पष्ट करने में सफल हो जाती है। अपने अन्तर्मन का अवलोकन और विश्लेषण करके मनुष्य उस अविनाशी, शाश्वत रूप से शुद्ध और पूर्ण सत्ता का साक्षात्कार करता है और फिर वह दु:ख से परे हो जाता

है। यही ध्यान केन्द्रित करने की विधि है। ज्ञान की विषय-वस्तु आंतरिक है। इसे ही प्राप्त करना है। ''तब तक विश्वास न करो जब तक तुमने स्वयं उस वस्तु को प्राप्त नहीं किया है।''[10] यहाँ विवेकानन्द धार्मिक विश्वास की प्रक्रिया को बदल देते हैं। सामान्यतया, हम बिना ज्ञान के ही विश्वास करते हैं, पर विवेकानन्द मानते हैं कि बिना ज्ञान के विश्वास का कोई आधार नहीं हो सकता।

इसके विपरीत कार्ल बार्थ[11] जैसे धर्मशास्त्री जिनके अनुसार ईश्वर जगत् से और ज्ञान से परे हैं और मात्र आत्म प्रकटीकरण से जाने जा सकते हैं यह प्रकटीकरण वैज्ञानिक अन्वेषण और खोज का विषय-वस्तु नहीं हो सकता। जहाँ विवेकानन्द ईश्वर या चरम सत्ता की खोज मानव में ही करते हैं वहीं बार्थ ईश्वर को मानवीय ज्ञान से परे मानते हैं। फ़िडेइज़्तम के अनुसार तो ज्ञान कभी भी धार्मिक विश्वास का मानदंड या आधार नहीं हो सकता। आस्था को विवेक के सहारे की आवश्यकता नहीं। सॉरेन कर्कगार्ड के अनुसार आजकल ईसाई होने का अर्थ तो बस ईसाई समाज में जन्म लेना है। धर्म मात्र तार्किक युक्तियों के पर आधारित सांस्कृतिक विश्वास रह गया है। इसमें व्यक्ति की आंतरिक अनुभूति, भक्ति व प्रेम आदि नहीं रह गए हैं। पर वे कहते हैं, कि सच्चा धर्म तो सच्चे प्रेम की तरह होना चाहिए- मानव व ईश्वर के बीच। धार्मिक आस्था के लिए कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं, न ही इसकी आवश्यकता है। जिसने आस्था को चुना है उसे विवेक को निलंबित करना पड़ेगा।[12] विलियम जेम्स[13] मानते हैं कि जीवन में कई ऐसे मौके आते हैं जब हमें मात्र विश्वास के आधार पर काम करना पड़ता है। इसके विरीत डब्यू. के. क्लिफर्ड कहते हैं कि एक व्यक्ति को तब तक उस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक कि उसके पास पुख्ता सबूत न हो। बिना किसी आधार के विश्वास करना अंधविश्वास ही है।[14]

राजयोग के द्वारा हम चरम सत्ता का ज्ञान पा सकते हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि यह विवेक पर आधारित विधि है। राजयोग भिन्न प्रकार के द्वैतों का एकीकरण है। यह मनस-बुद्धि के द्वैत को, आंतरिक-बाह्य के द्वैत को नहीं मानता। हमारी मानसिक वृत्तियाँ हमारी शारीरिक अवस्था में और हमारी शारीरिक अवस्था हमारी मानसिक वृत्तियों में परिलक्षित होती है। जब शरीर पर नियंत्रण होता है तो मन को भी नियंत्रित किया जा सकता है। बाह्यजगत् आंतरिक अथवा सूक्ष्म जगत् का ही स्थूल रूप है। इनका क्रम ऊपर-नीचे हो सकता है, पर इनमें द्वैत नहीं है। सूक्ष्म ही स्थूल का कारक है, बाह्यजगत् अन्तर्जगत का अनुक्रम है। अत: जिसने अन्तर्जगत को साध लिया, उसके लिए बहिर्जगत को साधना मात्र एक क्रीड़ा है। योगी के सामने जो उद्देश्य है, वह है प्रकृति पर नियंत्रण करना। जिसने प्रकृति को समझ लिया वह इस पर नियंत्रण कर सकता है और इसके परे जा सकता है। इसके द्वारा प्राप्त सामान्यीकरण हमें वैज्ञानिक अन्वेषण के भी परे ले जा सकते हैं।

विवेकानन्द धर्म को रहस्यवाद और रहस्यात्मकता से स्वतंत्र करना चाहते हैं। रहस्यात्मकता मनुष्य को छोटा और सीमित बना देती है। धर्म में रहस्यात्मकता के अतिरेक से मनुष्य कभी भी अपनी बाल्यावस्था के ऊपर नहीं जा सकता है। ऐसा धर्म उसे ज्ञान नहीं बल्कि द्वैत देता है। ऐसा धर्म मनुष्य को तुच्छ और कमजोर बना देता है। पर क्या जो मनुष्य को कमजोर बनाए वह धर्म हो सकता है? रहस्यात्मकता की वृद्धि से मानव मन का अशक्तिकरण ही होता है। इसीलिए विवेकानन्द कहते हैं, जिसका स्वयं साक्षात्कार नहीं किया हो, उस पर विश्वास मत करो। स्वयं अभ्यास करके देखो कि इस बात में कितनी सच्चाई है। धर्म को रहस्य के अंधेरे में डालना सही नहीं है और विवेकानन्द के अनुसार इसका परिणाम भयानक हो सकता हैं सांख्य दर्शन के अनुसार, बुद्धि और जड़ में बस मात्रा का भेद है। केवल पुरुष ही चेतन तत्व है। मन आत्मा के हाथों में एक औजार की भांति है। मन के द्वारा आत्मा को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता हैं यदि कोई केवल घड़ी की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित करे तो उसे और कुछ दिखाई नहीं देगा भले ही उसकी आँखें खुली हों, पर एक नियंत्रित मन को एक साथ कई इन्द्रियों पर केन्द्रित किया जा सकता है। यह मन अपनी स्वयं की गहराइयों को देखने व समझने में सक्षम हैं योगी को इसी शक्ति की प्राप्ति होती है।

एक योगी को प्रत्यक्ष पर आधारित ज्ञान प्राप्त होता है। वह मन की सभी अलग-अलग वृत्तियों का साक्षात्कार कर सकता है। प्रत्यक्ष की चरम अवस्था में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। राजयोग इस अवस्था तक पहुँचने का व्यावहारिक मार्ग है जिसमें (1) यम, (2)

नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान व (8) समाधि के आठ अंगों के आधार पर ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है, और मनुष्य को ऊर्जा का असीम स्रोत स्वयं के अन्दर ही प्राप्त होता है। तभी विवेकानन्द कहते हैं-''सभी उपासनाएँ, चेतन अथवा अचेतन रूप में, इसी लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। जो मनुष्य ये सोचता है कि उसकी प्रार्थनाओं का उत्तर मिल रहा है, ये नहीं जानता है कि यह उत्तर उसके स्वयं के स्वरूप से आ रहा है।''[15]

एक सच्चे धर्म का अनुभव से विरोधाभास नहीं हो सकता और इसे रूढ़िवादी विश्वास के सहारे की आवश्यकता भी नहीं होती। जगमोहन के अनुसार, गाँधी और विवेकानन्द दोनों के लिए धर्म का सच्चा अर्थ खोजना एक अहम् प्रश्न था। धर्म आत्मा द्वारा आत्मा की खोज और उपासना है। यह हमें एक गहरा आध्यात्मिक दृष्टिकोण देता है और ''एक हिन्दू को बेहतर हिन्दू, एक मुस्लिम को बेहतर मुस्लिम, एक ईसाई को बेहतर ईसाई और एक सिक्ख को बेहतर सिक्खम बनाने के लिए प्रेरित करता है।''[16]

विवेकानन्द के अनुसार किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं एक जो बाह्य जगत के बारे में है और दूसरा जो अन्तर्जगत या दर्शन के विषय में है। कोई भी धर्म जो इनमें से किसी को भी अनदेखा करता है वह दोषपूर्ण ही होगा। इसमें भी आत्म साक्षात्कार ही वास्तविक धर्म है, अन्य सभी जैसे कि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना, धार्मिक प्रवचन सुनना, या तर्क करना इसके लिए मात्र एक तैयारी है। प्रत्येक आत्मा प्रच्छन्न रूप से दैवी हैं धर्म का उद्देश्य इस दैवी शक्ति का अनावरण करना है। इसे कर्ममार्ग से करो, ज्ञानमार्ग से करो या भक्तिमार्ग से पर लक्ष्य यही है- यही धर्म है। धर्म मनुष्य से परे या उसके बाहर कुछ नहीं यह हर व्यक्ति के अन्दर है जिसे उसे स्वयं खोजना और पाना है।

विवेकानन्द को नववेदान्द का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद के 'अहम्' और 'ब्रह्म' के एकत्व को जीव के जीव से एकत्व के रूप में पुनर्स्थापित करके अद्वैत को जगत् के धरातल पर खड़ा कर दिया। स्वयं को जानना ही ब्रह्म का ज्ञान है और धर्म आत्मज्ञान से परे कुछ नहीं है। एस.पी. बैनर्जी[17] कहते हैं कि अद्वैत वेदान्त के विषय में सबसे बड़ी भ्रांति 'व्यावहारिक' और 'पारमार्थिक' के भेद को लेकर है और यह भी सत्य है कि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के पश्चात् व्यावहारिक की बहुलता को स्वीकारना कठिन है, पर विवेकानन्द ने आत्म-ब्रह्म के तादात्म्य को एकता का आधार बना दिया जिसमें 'मैं' और 'तुम' पृथक नहीं हैं। अज्ञान ही भेद-ज्ञान की आधारशिला है।

धर्म में दार्शनिक तत्व को सर्वोपरि रखने के बावजूद विवेकानन्द इसके सभी पहलुओं को महत्व देते हैं।[18] धर्म के तीन भाग हैं-'दार्शनिक भाग, पौराणिक भाग और कर्मकाण्ड'। दार्शनिक पहलू धर्म का सार है और पौराणिक भाग उसकी व्याख्या करता है। कर्मकाण्ड उससे भी अधिक स्थूल रूप में होता है। कर्मकाण्ड उद्देश्यहीन नहीं है, बल्कि जनसाधारण को धर्म का अर्थ समझाने में यह सहायक होता है। सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व को समझने के लिए पौराणिक भाग और कर्मकाण्ड सोपानों की तरह कार्य करते हैं।

ये वे प्रतीक प्रदान करते हें जो हमें धर्म के सूक्ष्म तत्वों को समझने में सहायता करते हैं। प्रत्येक धर्म में प्रतीकों का प्रयोग होता है। गौर से देखें तो यह सारा जगत ही प्रतीक रूप है जिसके मूल तत्व या आधार ईश्वर है। ये प्रतीक स्वाभाविक या प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं। कुछ प्रतीक तो कई धर्मों में समान है। मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग[19] भी प्रतीकों को विशेष महत्व देते हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि ईसाई धर्म का 'क्रॉस' एक ऐसा सामान्य प्रतीक है। 'भिन्न-भिन्न धर्मों के साथ जो विशिष्ट मन्दिर, अनुष्ठान और अन्य स्थूल क्रियाकलाप जुड़े हुए हैं, वे उन उन धर्मावलम्बियों के मन में उन सब भावों का जागृत कर देते हैं, जिनके कि ये मन्दिर अनुष्ठानादि स्थूल प्रतीक स्वरूप है।''[20]

स्वयं को पाने का मार्ग कर्म के द्वारा भी हो सकता है जब हम एक साक्षी की तरह कार्य करते हैं तो भी आत्मसाक्षात्कार होता है। विवेकान्द कहते हैं कि अपने बच्चों का पालन दासी भाव से करो। यदि ईश्वर में विश्वास है तो समझो कि सब उसका हैं यह सोचना कि कोई मेरे ऊपर निर्भर है मात्र दुर्बलता की निशानी है। ''यह अहंकार ही समस्त आसक्ति का जड़ है और इस आसक्ति से ही समस्त दुखों की उत्पत्ति होती है।''[21] सच्चा धर्म तो

स्वयं को पाना ही है। कर्म के मार्ग में, जब हम स्वार्थपरता से ऊपर उठ जाते हैं और कर्म से आसक्ति का त्याग कर देते हैं तो ही संसार हमें स्पर्श नहीं कर सकता है। फिर व्यक्ति पानी में कमल पत्र की तरह निर्लिप्त रहता है। इसी को 'वैराग्य' कहते हैं, इसी को कर्मयोग की नींव-अनासक्ति कहते हैं।''[22]

फिर यदि हम कर्म मार्ग का सहारा लें तो धर्म का स्वरूप क्या होगा? वह कौन सी चरम सत्ता या परम गति होगी? यह प्रश्न उठता है, आत्मा का धर्म क्या हो? और धर्म का स्वरूप क्या हो? अपने वास्तविक धर्म को समझ कर ही हम सच्चे धर्म को पा सकते हैं। कर्म का मार्ग एक अत्यन्त ही कठिन मार्ग है। इसे समझने वाले कम हैं और अमल करने वाले और भी कम हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि संसार एक भयंकर यन्त्र है जिसमें ''चक्र के भीतर चक्र''[23] है। हम यह सोच के चलते हैं कि यह वाला कार्य समाप्त कर लेंगे तो हो जाएगा, पर सामने फिर एक नया कार्य आ जाता है। विवेकानन्द के अनुसार, इससे बचने के दो ही रास्ते हैं। या तो, यह यन्त्र तो चलता रहे, पर हम इससे दूर खड़े हो जाएं और अपनी सारी इच्छाएँ त्याग दें। या फिर संसार क्षेत्र का भागी बन कर ''कर्म का रहस्य'' जान लें। यह सच है यदि हम स्वर्ग की इच्छा से भी सत्कर्म करें तो भी बंधन में ही पड़ेंगे। उपाय एक ही है, सभी कर्मों के फल का त्याग करना। जब-जब हम बिना फल की आशा से कर्म करते हैं, हम अपनी बेड़ियाँ काटते जाते हैं। विवेकानन्द कहते हैं कि कर्मयोग का सच्चा आदर्श भगवान बुद्ध ने दिया। ''वास्तव में वे ही आदर्श कर्मयोगी हैं, पूर्णरूपेण हेतु-शून्य होकर उन्हीं ने कर्म किया है, और मानव जाति का इतिहास यह दिखाता है कि सार-संसार में उनके सदृश श्रेष्ठ महात्मा और कोई पैदा नहीं हुआ।''[24]

अर्थात्, जहाँ एक धार्मिक व्यक्तित्व राजयोग के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार द्वारा उत्पन्न हो सकता है वहीं एक धार्मिक व्यक्तित्व कर्म के मार्ग से अनासक्ति प्राप्त करके भी उत्पन्न हो सकता है। और यहाँ उत्पन्न होने का अर्थ किसी ऐसी नवीन शक्ति के आविर्भाव से नहीं बल्कि स्वयं की ही आंतरिक शक्ति पहचानने से है। और यही एक धार्मिक व्यक्ति का लक्षण होता है। और इस अर्थ में देखा जाए तो धर्म क्या है? धर्म भी तो यही प्राप्ति है। फिर, इस धर्म के लिए क्या हमें पर्वतों की ऊँचाइयों पर जाना होगा, या सागर की गहराईयों में। विवेकानन्द के अनुसार, इस धर्म पर प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जीव का अधिकार है यह शक्ति हम सबके पास है। यही एकता ही तो धर्म का वास्तविक आधार है।

एसोसिएट प्रोफेसर
मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल : raj.verma@mirandahouse.ac.in

---

lUnHkZ lwph

1. विवेकानन्द ''हिन्दू धर्म और उसका सामान्य आधार'' हिन्दू धर्म, द्वितीय संस्करण, अनु. पं. द्वारकानाथ तिवारी, नागपुर, श्री रामकृष्ण आश्रम, 1950 (यह पुस्तक विवेकानन्द द्वारा भारत व विदेश में हिन्दू धर्म पर दिये गए भाषणों का संकलन है, पृ. 55)
2. पूर्वोक्त, पृ. 57
3. पूर्वोक्त, पृ. 67
4. पूर्वोक्त, पृ. 66
5. वही, पृ. 114
6. विवेकानन्द, राजयोग, आमुख, लीड्स : सेलेफ़ैस प्रेस : 2003, पृ. 6
7. पूर्वोक्त, पृ. 5
8. पूर्वोक्त
9. पूर्वोक्त, पृ. 8
10. पूर्वोक्त, पृ. 10
11. कार्ल बार्थ ''गॉड हियर एण्ड नाउ'' लंदन : राउटलेज क्लासिक्स, 2003
12. सॉरेन कर्कगार्ड, कन्क्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट, अनुवाद : स्वेन्सन एवम् लोवी, न्यू जरसी : त्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1941
13. विलियम जेम्स, ''द सेन्टिमेन्ट ऑव रैशनालिटी', एल्बरी कॅस्टल, संपादक, एसेज इन प्रैग्मेटिज्म, न्यू यॉर्क : हैनर प्रेस, 1948
14. विलियम के. क्लिफर्ड, दी एथिक्स1 ऑव बिलीफ एण्डट अदर एसेज, न्यू यॉर्क : प्रोमीथियस बुक्स, 1999
15. वही, पृ. 46

16. जगमोहन ''व्हॉट इंडिया एण्ड अमेरिका हैव मिस्ड ब्रांइ नॉट हीडिंग विवेकानन्दस मेसेज, इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर क्वॉर्टरली अंक-4, सं. 1, 2013, पृ. 6
17. एस. पी. बैनर्जी, ''वेदान्त एण्ड नियो-वेदान्त : सम रिपन्लेक्शन्स'', द ट्रेटिशन ऑव अद्वैत, संपादक, आर. बालासुब्रमन्यन, नई दिल्ली : मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, प्रा. लि., 1994, पृ. 151-152
18. विवेकानन्द, कर्मयोग नागपुर : रामकृष्णमठ, 1992, पृ. 72
19. आर्केटाइप पारंपरिक व सार्वभौमिक प्रतिमान है जो हमारी सामूहिक चेतना का हिस्सा है और यह प्रतीकों के द्वारा जाने जाते हैं, देखिये, कार्ल युंग, आर्केटाइपस, एण्ड द कलेक्टिव अनकॉशस, अनु. आर.एफ.सी. हल न्यूज. : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980
20. कर्मयोग, पृ. 75
21. पूर्वोक्त, पृ. 95
22. पूर्वोक्त, पृ. 117
23. पूर्वोक्त, पृ. 138
24. पूर्वोक्त, पृ. 141

समसामयिक संदर्भ और समकालीन महिला लेखन

डॉ. प्रमिला*

डॉ. सुमित कुमार मीना**

साहित्य में आज विभिन्न प्रकार के विमर्शों का दौर है जिसमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान बना चुके हैं वहीं, किसान विमर्श और किन्नर विमर्श साहित्य के द्वार पर दस्तक देने को तैयार हैं। स्त्री विमर्श के अंतर्गत महिला कथाकारों ने स्व पीड़ा को बेबाक रूप से अभिव्यक्त किया है। यदि साफगोई से बात करें तो समकालीन स्त्री लेखिकाओं ने समाज कि उन वर्जनाओं को तोड़ने का सफल प्रयास किया है, जिन्हें 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक में भी महिला लेखिकाएँ तोड़ने का साहस नहीं कर सकी थीं। परंतु जयश्री रॉय, सोनाली सिंह, अल्पना मिश्र, गीता श्री, वन्दना राग, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शिल्पी, नीलाक्षी सिंह, वन्दना शुक्ल, ज्योति चावला जैसी लेखिकाओं ने स्व पीड़ा एवं स्त्री समाज की पीड़ा को बेबाक अभिव्यक्ति दी है। उक्त लेखिकाओं ने समाज के सड़े-गले, मैले-कुचैले अंगों को समाज के सामने लाकर दूर करने का सफल प्रयास किया है। इन लेखिकाओं के लेखन की खास बात यह है कि समाज में दोयम दर्जे का जीवन जी रही महिलाओं के शोषण का यथार्थवादी चित्रण किया है जहाँ वे स्वतंत्रता से लेकर स्वच्छंदता की बात करती हैं और यह बात इतनी साफगोई से कि परपुरुषों से रहे अपने अंतरंग संबंधों के बारे में भी बेहिचक बयान करती हैं।

समकालीन स्त्री लेखन के विविध सरोकारों पर चर्चा करने से पूर्व हमें उन कारणों की पड़ताल करनी चाहिए जिनके कारण 20वीं शताब्दी की कहानी में ये क्रांतिकारी बदलाव आये और पूरे रचना संसार को जिन्होंने बदल दिया। जब साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है तो निस्संदेह ये बदलाव यकायक नहीं आये अपितु बहुत से कारणों ने साहित्य लेखन को प्रभावित किया। ''पाठकों, आलोचकों और संपादकों का मानना है कि हिंदी कहानी में बदलाव दिखने का खास समय जिन घटनाओं, दुर्घटनाओं व परिघटनाओं से मिलकर बना है, वे हैं - अयोध्याकाण्ड, भारतीय राजनीति में नए गुणा-भाग, भूमंडलीकरण, मुक्तपूंजी का उद्दंड हस्तक्षेप, विचार विलोप, विस्थापन, अस्मिताओं का उभार और सामाजिक न्याय की बलवती इच्छा आदि। अर्थात् दो दशक से कुछ अधिक का पिछला समय। जाहिर है इस समय ने पूरे रचना संसार को आंदोलित किया।''[1]

आज की कहानियों द्वारा आधुनिक जीवन शैली में दोहरी भूमिका निभाते हुए स्त्री घर और बाहर किस तरह से तालमेल बैठा रही है, बाहर उन्हें किन-किन स्थितियों का सामना करना पड़ता है, वह कैसे इंटरनेट के इस युग में भी अपनी भारतीय संस्कृति का पालन करती हुई अपना जीवन यापन कर रही है। एक ओर भारतीय संस्कृति है तो दूसरी ओर आधुनिकता परंतु वह इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करती हुई मॉल संस्कृति का लुत्फ उठा रही है। आज की लेखिकाओं के अनुभव का दायरा विस्तृत है, उसका ख़ष्टिकोण और सोच का फलक व्यापक है जिसके कारण वे बेबाकी से अपनी निजी समस्याओं को भी अपने सर्जन का आधार बना रही है। आज की स्त्री सपने बुनना, आत्मनिर्भर होना, रूढ़िवादी परंपराओं के प्रति प्रतिकार कर, परिवार व बच्चों के लिए आदर्श प्रस्तुत कर रही है। आज की स्त्री पुराने युग की स्त्री से भिन्न भूमिका और सोच लेकर चल रही है। आज वह अपने आप से

प्यार करती है, उचित हो या अनुचित उसे समाज की मोहर की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि समाज की दृष्टि में उसका आचरण गलत है, अनुचित है तो अग्नि परीक्षा से गुजरना उसे गंवारा नहीं है क्योंकि उसे सतीत्व के प्रमाण पत्र की आवश्यकता नहीं है। वह जानती है कि स्त्री की अपनी सीमाएं हैं और पुरुष की अपनी। इसलिए वह पुरुष की 'बंदिनी' नहीं 'संगिनी' बनकर जीना चाहती है। उसे मालिक नहीं जीवन साथी चाहिए। जीवन साथी भी ऐसा जो उसके अधिकारों को जाने और महत्व दे, उसके सपनों को आकार दे, उन्मुक्त गगन में ऊँची उड़ान भरने की आजादी दे। इन्हीं सभी दृष्टिकोण को लेकर ये लेखिकाएं स्त्री मन को अपने पात्रों द्वारा अभिव्यक्त कर रही हैं या यों कहा जा सकता है कि ये लेखिकाएँ स्त्री मन का ई.सी.जी., एक्स-रे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहीं हैं। ये कहानियाँ अपने समय के हर एक पक्ष, हर एक स्थिति को समेट कर चल रही हैं। समाज, राजनीति, धर्म, सांस्कृतिक विघटन, आर्थिक पक्ष इन सभी को व्यापक संदर्भो में प्रस्तुत कर रही हैं। आज की जीवन स्थिति का कटु यथार्थ जितनी अधिक सूक्ष्मता और गहराई से इन कहानियों में आया है वह किसी और साहित्यिक विधा में इस रूप में उभरकर नहीं आया है।

समाज में स्त्री-पुरूष संबंधों में आता बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। महिला कहानीकारों ने समाज को प्रभावित करने वाले प्रत्येक क्षेत्र को अपनी कहानी की विषय-वस्तु बनाया है। कोई भी ऐसा विषय अछूता नहीं रहा है जिस पर इन कहानीकारों ने अपनी कलम नहीं चलायी हो चाहे वो देश और सुरक्षा का विषय हो, दल-बदल राजनीति हो, आर्थिक क्षेत्र से जुड़े मुद्दे हो या फिर दाम्पत्य के टूटते-बनते रिश्तों के विषय हो, इन सब विषयों को अपनी कहानियों में लिया है।

अपने लिखने की प्रतिबद्धता को इंगित करती हुई जयश्री रॉय लिखती हैं-''जब तक धड़कती हुई जीवनानुभूतियों के शब्द न दे दूं, तब तक इस मधुमय पीड़ा से मुक्ति नहीं, मुझे लिखनी है उन सपनों की बातें, जो पलकों पर अदेखे ही पड़े रह गए जीवन भर या उन कलियों की पीड़ा, जिन्होंने गुंचों में पड़े-पड़े न जाने कब तक बाहर की राह तकी है, पल गुने, बाट जोही है, लेकिन अंत तक लिखना नसीब नहीं हुआ। जिन अभागों के प्रति इस संसार में किसी की जबाबदारी नहीं बनती, उन्हें स्वर देना, मुक्ति का एक आकाश देना या एक बहुत छोटी-सी सही, उम्मीद देना ही वस्तुतः मेरी कलम का एक मात्र उद्देश्य है।''[2] वे अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखती हैं ''आस-पास के वातावरण में व्याप्त भ्रष्टाचार और पाप ने मुझे उद्वेलित और उद्दिग्न किया है। अपने आस-पास इतना अन्याय, अत्याचार होते देखकर भी कुछ न कर पाने की ग्लानि हृदय को कचोटती रहती है।''[3]

अतः यह कहा जा सकता है कि आज का यह महिला लेखन नारी की अस्मिता व उसके स्वतंत्रता की खोज का लेखन है जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही है। स्त्री के इस लेखन में स्त्री की नयी सोच, नवीन जीवन दृष्टि और नवीन भाषिक संरचना की पहचान हुई है। आधुनिकता के इस युग में वे पुरानी परंपराओं और मान्यताओं को तोड़ अपने अनुकूल नए मानदंडों को निर्मित कर रही है, जहाँ स्वतंत्रता ही उसके लिए सबकुछ है। यह स्वतंत्रता उसे सामाजिक दायरों और दैहिकता से भी चाहिए। वह अपना जीवन अपने अनुसार जीना चाहती है। वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और संस्कृतिक दायरों के खांचे में बंधा रहना नहीं चाहती है अपितु बदलते समय की रफ्तार को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए, भविष्य की ओर बढ़ना चाहती है और सामाजिक बंधनों से उन्मुक्त होकर खुले आसमान में विचरण करना चाहती है। प्रसिद्ध महिला कथाकार मन्नू भंडारी का मानना है कि आज की पीढ़ी अपना व्यक्तित्व बनाने में जुटी हुई है। हमारी पीढ़ी ने अपनी एक स्वतन्त्र पहचान ही नहीं बनायी, समाज को उसका अहसास भी कराया। हमारी पीढ़ी का व्यक्तित्व आधुनिकता से सराबोर है लेकिन व्यवहार से आज भी संस्कार हमारा पल्ला पीछे खींचते रहते हैं। इसीलिए हम एक दुहरी ज़िन्दगी जीने को अभिशप्त हैं। आज की पीढ़ी अपेक्षाकृत अधिक इकहरी जिन्दगी जीती है क्योंकि आत्मविश्वास से भरी इस पीढ़ी ने पुरानी जड़ परंपराओं से काफी हद तक अपने को मुक्त कर लिया है। 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामाजिक शक्तियों ने जैसा जटिल, संश्लिष्ट और साथ ही क्रूर स्वरूप ग्रहण किया वह अभूतपूर्व है। इस दौर में उदारीकरण, भूमण्डलीकरण और निजीकरण हावी होता जा रहा है। फलतः वर्तमान सामाजिक परिवेश बुरी तरह विषाक्त होता जा रहा है। आपसी सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता, करुणा

आदि जैसे आदर्श जीवन मूल्यों की जगह असहयोग विद्वेष, स्वेच्छाचारिता, स्वार्थपरता, हिंसा, हृदयहीनता, साम्प्रदायिकता, लूटपाट, भ्रष्टाचार आदि दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ रहे हैं।

आज की कहानियों में महानगरीय जिंदगी की भयावहता के प्रति आक्रोष उभरकर आया है। लेखिकाएँ जानती हैं कि उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार ने मनुष्य के सरोकारों को बदल दिया है। आज उदारीकरण हमारी युवा पीढ़ी के समक्ष एक चुनौती बनकर उभरा है। उदारीकरण और बाजारीकरण के कारण युवा वर्ग मानसिक रूप से विकलांग हो गया है। क्रेडिट कार्ड, ऑनलाइन शोपिंग, मॉल संस्कृति, मेगा सेल ऑफर, होम डिलेवरी जैसी तथाकथित सुविधाओं ने युवाओं को मानसिक रूप से पंगु बना दिया है और वे बाजार की अंधी दौड़ का हिस्सा बन गए हैं। उदारीकरण, बाजारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव से शहरों में ही नहीं गाँवों में भी स्पष्ट रूप से बदलाव नजर आ रहा है। इससे कुछ भी अछूता नहीं है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य की जीवन शैली एवं व्यवहार में परिवर्तन रेखांकित किया जा सकता है। महानगरों में व्यक्ति स्वयं को अकेला महसूस कर रहा है। रिश्तों का आकार सिकुड़ गया है और महत्व लघु हो गया है। जिंदगी में रिश्तों के बजाय अर्थ का महत्व बढ़ गया है। निजीकरण के कारण 'टारगेटबेस' जिंदगी जीने वाला युवा परिवार से निरंतर कटता जा रहा जिसके परिणाम स्वरूप एकाकीपन के कारण अवसाद का शिकार हो जाता है और सहनशक्ति क्षीण हो जाती है तथा छोटी-सी समस्या के सामने ही हार मानकार अपनी इहलीला समाप्त करने पर आमादा हो जाता है। युवा लेखिका अल्पना मिश्र अपनी कहानी 'मुक्ति प्रसंग' में बताती हैं कि महानगरों की उबाऊ दिनचर्या से व्यक्ति स्वयं को जैसे भूल ही चला है। ''क्या डॉ. साहब के लिए इतनी महत्वपूर्ण, जिसके आगे वे नातों, रिश्तों, व्यक्ति और समाज को बौना करके देखते हैं?''[4] यह अकेलापन आज भी हम सभी के बीच में विद्यमान है। भीड़ और अर्थ में खोया हुआ मनुष्य वास्तव में तब और अधिक खो जाता है जब वह अपने-परायेपन के कारण अपने से भी अलगाव महसूस करने लगता है। व्यक्ति की अपने से भी अलगाव की स्थिति बड़ी भयावह स्थिति है। इस स्थिति में पहुंचा हुआ मनुष्य संवेदना शून्य हो जाता है। महानगरीय जीवन में मानवीय संबंध इतने ऊपरी हो जाते हैं कि कोई आन्तरिक संबंध नहीं जुड़ पाता है। औद्योगिकरण तथा मशीनीकरण के परिणामस्वरूप आज शहरी जीवन में बड़े पैमाने पर आ रहे परिवर्तनों के कारण मनुष्य संवेदना शून्य होता जा रहा है तथा भीड़तंत्र का हिस्सा बनकर उसी भीड़ में अपने अस्तित्व को खो देता।

समकालीन लेखिकाओं में व्यवस्थाओं के प्रति तीव्र रोष है। आज युगीन व्यवस्थाओं में सर्वत्र अनियमितताओं व अव्यवस्थाओं को देखा जा सकता है। भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, शोषण, धार्मिक उन्माद, भ्रष्टाचार, पाप, अन्याय, अत्याचार जैसी समस्याएँ देश के सम्मुख मुंहबाहे खड़ी हैं। इन व्यवस्थाओं के प्रति जहाँ आम व्यक्ति चिंतित सा दिखाई देता है वहीं यह चिंता समय-समय पर महिला साहित्यकारों में भी दिखाई देती है। वस्तुतः लेखन अपने आस पास की परिस्थितियों की ही उपज होती है जिसे लेखक अपने शब्दों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति देते हैं। लेखिका सावित्री रांका की कहानी 'ममता' में धर्म के नाम पर कुछ स्वार्थी लोगों द्वारा नौजवानों को जिस तरह से बरगलाया जा रहा हैं उसकी मार्मिक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। कहानी की विशेषता यह है कि एक माँ की व्यक्तिगत पीड़ा को साझी पीड़ा बनाकर चिन्ता व्यक्त की गई है। ''यह पागलपन कहाँ जाकर ठहरेगा। जीने के लिए वैसे ही कितनी समस्याएँ है, फिर राम और रहीम के ये अनुयायी बेरहमी से विनाश के बीज क्यों बो रहे हैं। किस भगवान की प्रसन्नता के लिए हो रहा है यह सब। अत्याचारों के दिल दहला देने वाले सामाचार पढ़-पढ़कर, कलेजा काँप उठता है। धर्म की रक्षा का कैसा तरीका है यह।'' धर्म की आड़ में लोग अपने हाथ सेक रहे हैं। ऐसे धर्मलोलुप व्यक्तियों के बहकावे में आकर ये पीढ़ी अपने मार्ग से भटक रही है, परिवार के परिवार तबाह हो रहे हैं। इसी पीड़ा को रेहाना अपने 14 वर्षीय पुत्र के अचानक घर छोड़कर जाने से भुगत रही है। उसे यकीन था कि उसका बेटा मजहबी हवा के बहाव में बहकर कट्टरपंथी बनकर ट्रेनिंग लेने अफगानिस्तान चला गया है आज वह अपने आपको विवश व लाचार सी महसूस करती है। रेहाना अपने बेटे तारिक को ढूँढते हुए हत्या, बलात्कार जैसी घटनाओं को देखती है। ''उद्धिगता के अथाह सागर में गोता लगाते-लगाते जैसे यह सब कुछ उसके जीवन का हिस्सा बन चुका था। उसकी यह सोच की आतंकवादी बने युवक की माँ ममता से घायल हो बेहाल नहीं होती होगी।''[5] लेखिका की यह

सोच 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव को इंगित करती है, जहाँ सबके कल्याण की भावना निहित होती है। जनसेवा को ही अपने शेष जीवन का आधार बना लेती है। परंतु एक दिन उसे पता चलता है कि उसके बेटे को जेल हो गई है और अब मेरे बुढ़ापे का सहारा बूढ़ा होकर लौटेगा परंतु उसके लोक कल्याण के कार्यों में कोई बाधा या रुकावट नहीं आती है अपितु अत्यधिक साहस के साथ लोक सेवा से जुड़ जाती है। लेखिका ने इस कहानी के माध्यम से यह संदेश दिया है कि हमारे नौजवानों को किस दिशा की ओर ले जाना है? क्या सही है और क्या गलत? इसका आभास कराकर सचेत करती है। कहानी तुच्छ स्वार्थों के वशीभूत होकर सांप्रदायिकता एवं धार्मिक उन्माद पैदा करने वाले तथाकथित धर्म के ठेकेदारों, राजनेताओं और समाज सेवकों पर भी एक तमाचा मारती है कि हम राष्ट्र निर्माण के हित में क्या योगदान दे रहे हैं? इसी प्रकार अल्पना मिश्र की कहानी 'छावनी में बेघर' भी सैनिक जीवन के अनछुए पहलुओं को छूती है। कहानीकार का मानना है कि युद्ध में काम आने वाले सैनिकों की विधवाओं के साथ अमानवीय व्यवहार होता है। एक सैनिक देश के लिए शहीद होता है परंतु पीछे उसका परिवार दर-दर भटकता रहता है। कारगिल युद्ध में लड़ने गए सैनिकों के परिवारों को उनके घरों से निकालकर छावनी में ही बने आवासों में ही जाना है ताकि वे सिविल में किराए कामकान ढूँढ सके। इसके पीछे ऑफिसर का कहना है-''उन्हें घर देना प्राथमिकता है, इसलिए जब तक आपको सिविल में किराए का घर नहीं मिलता, हम आपको दो कमरे उपलब्ध करा रहे हैं। देश में शहीद होने वाले इन सैनिकों की विधवाओं के साथ अपमानजनक व्यवहार होता है।''[6]

समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में आता बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। आज की बढ़ती मक्कल संस्कृति के कारण नयी पीढ़ी जिस प्रकार से अंधाधुंध पैसा खर्च कर रही है तथा आवश्यकता से अधिक साज-सज्जा का समान, वस्त्रादि जिस तरह से खरीदती है वह कहीं न कहीं फिजूलखर्ची के साथ-साथ दाम्पत्य जीवन में भी कड़वाहट भरती है। शर्मिला बोहरा जालान की कहानी 'कार्न-सूप' में राजीव और उसकी पत्नी के बीच अत्यधिक शोपिंग के कारण विवाद होता है और दाम्पत्य जीवन में कड़वाहट का कारण बनती है। लेखिका शिल्पी ने अपनी कहानी 'जहाज देखा क्या?' में विवाह पूर्व देखे रंग-बिरंगे सपनों के साकार न होने के कारण रिश्तों में कड़वाहट आती है। 'जहाज देखा क्या' की लेखिका शिल्पी ने इस कहानी के माध्यम से बताया है कि विवाह उपरान्त भी आज की नारी अपने सपने बुननें का अधिकार रखती है। वह जिस ज़िन्दगी को छोड़ आयी है उसे पुनः जीना चाहती है। इसके लिए वह समाज में किसी का भी प्रतिकार करने से नहीं हिचकिचाती है। स्त्री स्वातंत्र्य को बताती अल्पना मिश्र की कहानी 'मुक्ति प्रसंग' में घर की चारदीवारी से बाहर निकली, नौकरी पेशा और आजाद समझी जाने वाली स्त्री के संघर्ष और विडंबनाओं को बखूबी उकेरा है। घर में पति है डा. साहब, जो हर वक्त उसकी देह से खेलना चाहते हैं तो घर के बाहर सुदर्शन जैसे युवा जिनकी जीभ से औरत को देखते ही लार टपकने लगाती है। लेखिका प्रश्न उठाती है कि आखिर औरत जाये तो कहाँ? लेखिका का मानना है कि पुरुषों के लिए प्रेम का कोई गंभीर अर्थ नहीं है औरत उनके लिए केवल 'टाइम पास' है। बस में यात्रा के समय युवक सुदर्शन बातचीत के दौरान जब उसके बारे में पूछता है तो वह उसे डाँट देती है परंतु बस से युवक के उतरने के बाद वह उसकी तरफ आकर्षित होती है। ''अपनी इस कुंठा को वो कुंठा तक नहीं कह पायी बल्कि इसे मन ही मन उन्होंने कुछ अलग तरह की मुक्ति का अनुपम राग माना''[7] इस प्रकार प्रस्तुत कहानी में एक ओर पुरुष वर्ग की काम वासना का चित्रण है तो दूसरी ओर रूढ़िग्रस्त समाज की सोच से ऊपर उठने की चाह रखने वाली आज की नारी की है जो स्वछंदता चाहती है साथ ही नारी के अन्तर्मन में होने वाले द्वन्द्व को भी लेखिका ने भली-भाँति समझकर उसे अपनी प्रस्तुत कहानी में उकेरा है। ऐसे ही स्त्री मन के द्वन्द्व को मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपनी कहानी-संग्रह 'कठपुतलियाँ' द्वारा बखूबी दर्शाते हुए बताया है कि हमारे समाज में एक स्त्री की स्थिति कहीं न कहीं कठपुतलियों के समान ही है, जिसकी डोर समाज, परिवार के लोगों के हाथों ने थाम रखी है। समाज के ये ठेकेदार नारी मन की थाह को नहीं समझ पाते, उसकी इच्छा, लालसा को महत्व नहीं देते समाज में स्त्री-पुरूष संबंधों में आता बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को भी समकालीन महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानियों का विषय बनाया

है। तेरह वर्ष की सुगना का विवाह तीस वर्ष के अपाहिज विधुर दो बच्चों के पिता रामकिशन से हो जाता है। इससे पहले सुगना की शादी की बात दसवीं फेल जोगिन्दर से चलती है लेकिन लेन-देन की बात पर माँ रिश्ता तोड़ देती है और रामकिशन से उसका विवाह हो जाता है। पंद्रह की उम्र तक घर की पूरी जिम्मेदारी संभाल लेती है लेकिन बीच-बीच में उसे लगता है जैसे कि वह कठपुतली बन गई है- ''वह भी वैसे ही एक बावली कठपुतली है... जो डोरों से मन को विलग कर नया खेल रचती है। कुछ मौलिक... कुछ अलग जो जीवन को विस्तार कर दे... जिसमें उसकी अलग भूमिका हो, इन्तजार करती बीवी, बच्चे पालती माँ से एकदम अलग। अपनी देहगन्ध से बोराती, अपने मन में संसर्ग का साथी चुनती एक आदिम औरत की-सी भूमिका। वह इन अनचाहे रिश्तों के डोरों से उलझकर थक गयी है।''[8] लेखिका ने यहाँ एक साथ कई समस्याओं पर हाथ रखा है जैसे स्त्री स्वतंत्रता, दहेज की समस्या, अनमेल विवाह, स्त्री की सहमति-असहमति का प्रश्न। स्त्री कोई पशु नहीं जिसे जब चाहे जिस खूंटे से बाँध दिया जाए। स्त्री स्वतंत्र होना चाहती है समाज से, समाज के लोगों की कुंठित हो रही सोच से, दकियानूसी विचारधारा से। इन बेड़ियों से मुक्त होने के लिए वह बगावत करने से भी नहीं डरती। किन्तु समाज के नियमों के परे कुछ करना एक औरत के लिए कितना असहनीय होता है, इस पीड़ा को लेखिका ने इन शब्दों द्वारा बखूबी उकेरा है-''सुगना ने उत्तर मंप तेल मले हाथ आगे कर दिये। एक पंच के पान का एक-एक पता उन नाजुक हथेलियों पर रखा और उन पर लाल, गरम ईंट रख दी गयी।''[9] अल्पना मिश्र के कहानी संग्रह 'भीतर का वक्त' में स्त्री के अन्तर्मन में हो रहे परिवर्तन को सघनता और सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। आज की आधुनिक स्त्री अपनी लैंगिक वर्जनाओं की सीमा को लांघकर अपने व्यक्तित्व की खोज, बौद्धिक स्वावलंबन की ओर उन्मुख है। इस कहानी संग्रह के सभी स्त्री पात्र लैंगिक वर्जनाओं को तोड़ते नजर आते हैं। आधुनिक स्त्री पवित्रता क फेर में नहीं पड़ती उसे दैहिक आजादी भी चाहिए। स्त्री आर्थिक रूप से भी पुरुष पर निर्भर नहीं रहना चाहती है। वह घर की चार दिवारी को तोड़ कर स्वयं कमाना चाहती है। इस प्रकार कहानी स्त्री की आर्थिक स्वतन्त्रता के नये संवेदन संस्कार को भी अभिव्यक्त करती है। इस तरह से जहाँ प्राचीन समय में स्त्री-जीवन का उद्देश्य विवाह एवं पारिवारिक जिम्मेदारियों का वहन था। किन्तु अब आधुनिक नारी इन सब परंपरागत धारणाओं से वह ऊपर उठ चुकी है। वह अब अबला नहीं है, उच्च शिक्षा प्राप्त कर वह आत्मनिर्भर व सबल बन रही है। नारी आज परंपरागत दायरे से बहार निकलती नजर आ रही है।

समकालीन महिला कहानीकारों की कहानियों में स्त्री-स्वातन्त्र्य की सोच मुखर हुई है। ये समकालीन कहानियाँ उन स्त्रियों की स्त्री-स्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व कर रही है जो रूढ़िवादी बंधनों व सोच से मुक्ति चाहती है और इस मुक्ति के लिए उसमें छटपटाहट है। वह समाज की उन दकियानूसी विचारों का पुरजोर विरोध करती है जो उन्हें एक खांचे में बाँध कर रखती है। अल्पना मिश्र की कहानी 'मुक्ति प्रसंग' की स्त्री पात्र की यह सोच कि जब से नौकरी में आई हूँ, मेरी सोच बदलने लगी है। मैं जीवन से भागना नहीं लड़ना चाहती हूँ। अपने स्त्री होने का देह से अलग अर्थ तलाशना चाहती हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज पीढ़ी अपना व्यक्तित्व बनाने में जुटी हुई है। 'अपेक्षा' कहानी की मनीषा प्रेम और मुक्ति की बात करती है। मनीषा को दैहिक प्रेम की नहीं अपितु आत्मीय प्रेम की चाह है और इस प्रेम के लिए अपेक्षा करती रहती है कि उसे समाज और पति से आत्मीय प्रेम मिले। पंखुरी सिन्हा की कहानी 'वीकएण्ड का स्पेस' में भी इसी आत्मीय प्रेम और मुक्ति की कहानी है। स्त्री स्वतंत्रता को आधार बनकर कई कहानियाँ लिखी हैं- जैसे- 'शहादत और अतिक्रमण' (वंदना राग), 'पापा, तुम्हारे भाई' (शिल्पी), 'फुलबरिया मिसराइन' (प्रत्यक्षा), 'कठपुतलियाँ' (मनीषा कुलश्रेष्ठ) 'मुक्ति प्रसंग' (अल्पना मिश्र), और 'कठपुतलियाँ' (मनीषा कुलश्रेष्ठ)।

समकालीन महिला कहानीकारों ने बाजारवाद की संस्कृति और बदलते जीवन मूल्यों को भी अपनी कहानियों में उठाया है। आज नौकरी तंत्र ने प्रत्येक व्यक्ति को मानसिक रूप से विकलांग दिया है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि की प्रवृति पनप रही है जो हमारी संस्कृति के लिए घातक है। 'टारगेट बेस' जिंदगी में व्यक्ति व्यक्ति का दुश्मन हो गया है। स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का स्थान 'टारगेट' ने ले लिया है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में कामकाज के दौर तरीकों में खासा बदलाव आया है जिसका मूल कारण जीवन मूल्य शुष्क हो गए हैं और

अर्थ की प्रधानता बढ़ती जा रही है। ''निजीकरण ने मनुष्य को बौना बनाने का एक अघोषित अभियान शुरू कर दिया हैं। अब निजी क्षेत्र में नौकरी पाने और उसमें बने रहने के लिए मनुष्य को छोटा बनना पड़ता है। वह जितना छोटा बनता है, उतना सफल होता है। इसके लिए उसे अपने लोगों, अपने मूल स्वभाव और अपने मूल्यों से दूर होना पड़ता है।''

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन महिला कहानीकारों ने समाज के विविध सरोकारों को अपने लेखन का आधार बनाकर सशक्त अभिव्यक्ति दी है। बाजारीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण के परिणाम स्वरूप उपजी समस्याओं को समाज के सामने रखता है तो दूसरी ओर यह साहित्य स्त्री की उन्मुक्त उड़ान का साहित्य है जिसमें स्त्री की अस्मिता व उसके स्वतंत्रता की खोज का लेखन है जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही है।

***सह आचार्य, हिंदी विभाग**
लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
अशोक विहार, दिल्ली
Email- pramila.lbc@gmail.com

****सहायक आचार्य, हिंदी विभाग**
लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
अशोक विहार, दिल्ली
Email- sumitmeena1990@gmail.com

---

lUnHkZ lwph

1. सुशील सिद्धार्थ, सं. हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग-1, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 10
2. हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग-3, सं. सुशील सिद्धार्थ, सामयिक प्रकाशन, 2014, पृ. सं 19
3. हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग-3, सं. सुशील सिद्धार्थ, सामयिक प्रकाशन, 2014, पृ. सं 21
4. मुक्ति प्रसंग, अल्पना मिश्र, सं. सुशील सिद्धार्थ, हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग 1, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 55
5. समय का सच कहानी संग्रह, सावित्री रांका, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, संस्करण 2008, पृ. सं. 131
6. छावनी में बेघर, अल्पना मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. सं. 101
7. मुक्ति प्रसंग, अल्पना मिश्र, सं. सुशील सिद्धार्थ, हिंदी कहानी का युवा परिदृश्य भाग 1, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. 57
8. मनीषा कुलश्रेष्ठ, कठपुतलियाँ (कहानी संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008, पृ. सं. 18
9. मनीषा कुलश्रेष्ठ, कठपुतलियाँ (कहानी संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2008, पृ. सं. 21

उत्तम स्वास्थ्य हेतु ऋतुचर्या की प्रासंगिकता

आनन्द कुमार गुप्ता

सारांश : ऋतुचर्या आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसका उद्देश्य प्रत्येक ऋतु के अनुसार आहार-विहार एवं जीवनशैली को समायोजित कर उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति करना है। वर्ष की छह ऋतुओं–हेमंत, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरद–के अनुसार शरीर में दोषों का प्रभाव बदलता है। ऋतुचर्या अपनाकर इन दोषों को संतुलित रखा जा सकता है, जिससे रोगों से बचाव, पाचनशक्ति की वृद्धि, रोग-प्रतिरोधक क्षमता में सुधार तथा मानसिक संतुलन संभव होता है। आज के कृत्रिम एवं अनियमित जीवन में ऋतुचर्या की प्रासंगिकता और भी अधिक बढ़ गई है। यह न केवल शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षण करती है, बल्कि हमें प्रकृति से जोड़ती है और समग्र रूप से जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाती है। अतः स्वास्थ्यपूर्ण एवं संतुलित जीवन हेतु ऋतुचर्या को अपनाना अत्यंत आवश्यक है।

बीज शब्द : आयुर्वेद, ऋतुचर्या, स्वास्थ्य संरक्षण, दोष संतुलन (वात, पित्त, कफ), आहार-विहार, प्राकृतिक जीवनशैली।

प्रस्तावना : भारतीय जीवनदर्शन एवं चिकित्सा प्रणाली में प्रकृति के साथ तालमेल को अत्यधिक महत्व दिया गया है। आयुर्वेद, जो भारत की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति है, मानव जीवन को स्वस्थ, संतुलित एवं दीर्घायु बनाने हेतु प्राकृतिक नियमों का पालन करने पर बल देता है। इसी सिद्धांत के अंतर्गत 'ऋतुचर्या' की अवधारणा आती है, जो प्रत्येक ऋतु के अनुसार आहार, विहार और जीवनशैली में आवश्यक परिवर्तनों की अनुशंसा करती है। यह अवधारणा दर्शाती है कि मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है, अपितु वह प्रकृति का अभिन्न अंग है, और उसका स्वास्थ्य भी उसी के अनुरूप रहने पर निर्भर करता है।

'ऋतु' का तात्पर्य है मौसम या कालखंड, जिसमें प्रकृति की दशा में विशेष परिवर्तन होता है, और 'चर्या' का अर्थ है दिनचर्या या आचरण। अतः ऋतुचर्या वह जीवनशैली है, जो ऋतु के स्वभाव और उसके प्रभाव को ध्यान में रखते हुए अपनाई जाती है। आयुर्वेद के अनुसार, वर्ष को छह ऋतुओं में विभाजित किया गया है–हेमंत, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरद। प्रत्येक ऋतु का प्रभाव शरीर के त्रिदोषों–वात, पित्त और कफ–पर भिन्न होता है। यदि व्यक्ति ऋतु के अनुसार अपने आहार-विहार में समुचित परिवर्तन करता है, तो वह इन दोषों को संतुलित रख सकता है और अनेक रोगों से स्वयं की रक्षा कर सकता है।

वर्तमान समय में जब अधिकांश लोग शारीरिक व्यायाम, संतुलित आहार और समय पर सोने-जागने की आदतों से दूर हो चुके हैं, और कृत्रिम वातावरण, जंक फूड, मानसिक तनाव तथा अनियमित दिनचर्या का पालन कर रहे हैं, तब शरीर का प्राकृतिक संतुलन भंग हो रहा है। इसके फलस्वरूप पाचन संबंधी समस्याएं, मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, अवसाद और नींद न आना जैसी समस्याएं आम हो गई हैं। ऐसी स्थिति में ऋतुचर्या का पालन न केवल शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक होता है, बल्कि मानसिक और आत्मिक संतुलन भी प्रदान करता है।

ऋतुचर्या का पालन करके हम न केवल मौसमी रोगों से बच सकते हैं, बल्कि रोग-प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि, पाचन प्रणाली का सुदृढ़ीकरण, मनोबल में उन्नति तथा

संपूर्ण जीवनशैली में सकारात्मक परिवर्तन संभव है। यह केवल एक चिकित्सा उपाय नहीं, बल्कि जीवन को प्रकृति के साथ सामंजस्य में जीने की एक कला है।

प्रस्तुत आलेख में ऋतुचर्या की परिभाषा, आयुर्वेद में उसका महत्व, विभिन्न ऋतुओं में अपनाए जाने वाले आहार-विहार की विधियों, और आधुनिक जीवन में इसकी आवश्यकता तथा प्रासंगिकता पर विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इस विषय का उद्देश्य यह समझना है कि यदि हम प्राचीन भारतीय ज्ञान को अपने जीवन में पुनः स्थापित करें, तो न केवल व्यक्ति विशेष का बल्कि संपूर्ण समाज का स्वास्थ्य बेहतर हो सकता है।

ऋतुचर्या की परिभाषा : 'ऋतुचर्या' शब्द दो संस्कृत शब्दों से मिलकर बना है–'ऋतु' और 'चर्या'। 'ऋतु' का अर्थ है कालविभाजन या मौसमों का चक्र, जो वर्ष के दौरान स्वाभाविक रूप से बदलते रहते हैं। 'चर्या' का अर्थ है आचरण, दिनचर्या या जीवन के नियमित व्यवहार की पद्धति। इस प्रकार ऋतुचर्या का तात्पर्य है–प्राकृतिक ऋतुओं के अनुसार अपने आहार, विहार और जीवनशैली में उचित परिवर्तन करना। यह अवधारणा आयुर्वेद की मूलभूत धारणाओं में से एक है, जो व्यक्ति को प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए जीवन जीने की प्रेरणा देती है।

आयुर्वेद के अनुसार वर्ष को छह ऋतुओं में विभाजित किया गया है, जो भारतीय पंचांग के अनुसार निम्नलिखित हैं–

हेमंत ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष)
शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन)
वसंत ऋतु (चैत्र-वैशाख)
ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़)
वर्षा ऋतु (श्रावण-भाद्रपद)
शरद ऋतु (आश्विन-कार्तिक)

प्रत्येक ऋतु का स्वभाव भिन्न होता है और यह शरीर के त्रिदोषों-वात, पित्त और कफ-पर सीधा प्रभाव डालती है। उदाहरणतः, शीत ऋतु में कफ का संचय होता है, ग्रीष्म ऋतु में पित्त प्रबल होता है और वर्षा ऋतु में वात का प्रकोप होता है। जब हम मौसम के अनुसार अपने खान-पान और दिनचर्या में आवश्यक बदलाव करते हैं, तो हम इन दोषों को संतुलित रख सकते हैं, जिससे शरीर में रोग उत्पन्न नहीं होते और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

ऋतुचर्या केवल शारीरिक स्वास्थ्य की ख्रष्टि से ही नहीं, बल्कि मानसिक और आत्मिक संतुलन बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। जैसे ही ऋतु में परिवर्तन होता है, वैसे ही वातावरण में नमी, तापमान, वायु की गति, दिन और रात की अवधि, और सूर्य की तीव्रता जैसे तत्व भी बदलते हैं। इन सभी तत्वों का हमारे शरीर और मन पर प्रभाव पड़ता है। यदि हम इन परिवर्तनों को अनदेखा करते हैं और पूरे वर्ष एक जैसी जीवनशैली अपनाते हैं, तो शरीर का स्वाभाविक संतुलन बिगड़ सकता है, जो आगे चलकर विभिन्न प्रकार के रोगों को जन्म देता है।

आयुर्वेद में ऋतुचर्या का पालन एक प्रकार से 'नैतिक चिकित्सा' (Preventive Healthcare) के रूप में किया गया है। यह रोगों के उपचार की अपेक्षा उन्हें होने से रोकने पर अधिक बल देती है। हर ऋतु में कौन से आहार को प्राथमिकता देनी है, किस प्रकार के वस्त्र पहनने चाहिए, कौन से व्यायाम उपयुक्त हैं, किस प्रकार का सामाजिक व्यवहार उचित है–इन सबका विस्तृत वर्णन ऋतुचर्या में मिलता है।

इस प्रकार, ऋतुचर्या केवल एक जीवनशैली नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने की वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रणाली है। यह व्यक्ति को स्वस्थ, सशक्त, और दीर्घायु बनाने में सहायक है। यदि हम ऋतुचर्या का पालन करें तो हम न केवल मौसमी बीमारियों से सुरक्षित रह सकते हैं, बल्कि एक समग्र और संतुलित जीवन की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

ऋतुचर्या का आयुर्वेद में महत्व : आयुर्वेद एक ऐसी चिकित्सा प्रणाली है जो न केवल रोगों के उपचार की बात करती है, बल्कि व्यक्ति को जीवनभर स्वस्थ बनाए रखने पर भी विशेष बल देती है। इसका मुख्य उद्देश्य है–'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं, आतुरस्य विकार प्रशमनं', अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगग्रस्त व्यक्ति के विकारों का शमन करना। इस उद्देश्य की पूर्ति में 'ऋतुचर्या' की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

प्राकृतिक ऋतुओं के परिवर्तन से वातावरण में ताप, आर्द्रता, वायु की गति और आकाशीय प्रभावों में भी परिवर्तन आता है, जिनका सीधा प्रभाव शरीर के त्रिदोषों–वात, पित्त और कफ–पर पड़ता है। यदि व्यक्ति ऋतु के अनुसार अपने आहार-विहार को समायोजित करता है, तो ये दोष संतुलित रहते हैं और शरीर स्वस्थ बना रहता है।

ऋतुचर्या के लाभ निम्नलिखित हैं :

- दोषों का संतुलन बनाए रखना – हर ऋतु में कोई न कोई दोष अधिक प्रभावी होता है। ऋतुचर्या से इन दोषों का समय रहते शमन हो जाता है।
- रोग-प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि – नियमित आहार-विहार से शरीर की प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है, जिससे मौसमी संक्रमण से बचाव होता है।
- पाचन एवं चयापचय की नियमितता – सही समय पर उचित भोजन व व्यायाम से जठराग्नि संतुलित रहती है, जिससे पाचन क्रिया ठीक रहती है।
- मानसिक संतुलन एवं ऊर्जा का संचार – ऋतु के अनुसार व्यायाम, योग और विश्राम से मानसिक शांति व स्फूर्ति बनी रहती है।
- प्राकृतिक जीवनशैली के प्रति सजगता – ऋतुचर्या व्यक्ति को प्रकृति के निकट लाती है, जिससे जीवन अधिक सामंजस्यपूर्ण और संतुलित बनता है।

इस प्रकार, ऋतुचर्या आयुर्वेद की वह अद्वितीय पद्धति है जो न केवल शारीरिक स्वास्थ्य, बल्कि मानसिक और सामाजिक संतुलन को भी बनाए रखने में सहायक है।

विभिन्न ऋतुओं के अनुसार ऋतुचर्या : ऋतुचर्या का उद्देश्य शरीर को प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुरूप ढालना है ताकि स्वास्थ्य संतुलित बना रहे। आयुर्वेद में वर्ष को छह ऋतुओं में विभाजित किया गया है और प्रत्येक ऋतु के अनुसार आहार-विहार का विस्तार से वर्णन किया गया है। आइए हम प्रत्येक ऋतु के अनुसार उचित ऋतुचर्या को संक्षेप में समझें :

1. हेमंत ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष)

स्वभाव : ठंडी और शुष्क

दोष प्रभाव : कफ संचय

आहार : इस ऋतु में पाचन शक्ति प्रबल होती है, अत: पौष्टिक, उष्ण और स्निग्ध भोजन करना चाहिए। गेहूं, बाजरा, तिल, घी, दूध, गुड़, मेवे और मांसाहार (यदि उपयुक्त हो) लाभकारी होते हैं।

विहार : हल्की धूप सेंकना, शरीर की तिल तेल से मालिश करना, ऊनी वस्त्र पहनना तथा प्रात: भ्रमण करना उपयोगी है। ठंडी हवा से बचाव करें।

2. शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन)

स्वभाव : अधिक ठंडी, शुष्क और वातवर्धक

दोष प्रभाव : कफ संचय और वात वृद्धि

आहार : तिक्त (कड़वे), कटु (तीखे) और कषाय (कसैले) रस युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन करें। अदरक, लहसुन, हींग, गुड़, घी, सूप आदि लाभदायक हैं।

विहार : उबटन, स्नान के बाद शरीर में तेल की मालिश करें। व्यायाम और योग इस ऋतु में विशेष लाभदायक होते हैं। अत्यधिक ठंड में अधिक देर तक न रहें।

3. वसंत ऋतु (चैत्र-वैशाख)

स्वभाव : मध्यम तापमान और सुखद वातावरण

दोष प्रभाव : कफ प्रकोप

आहार : इस ऋतु में कफ दोष का शमन आवश्यक होता है। हल्का, सुपाच्य और रुचिकर भोजन करें। शहद, काली मिर्च, सूप, मूंग, लघु अन्न और हरी सब्जियाँ लाभकारी हैं।

विहार : व्यायाम, योगासन, तिलक और उबटन से शरीर को सक्रिय रखें। दिन में सोना वर्जित है, क्योंकि यह कफ बढ़ाता है।

4. ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़)

स्वभाव : अत्यधिक गर्मी और सूखापन

दोष प्रभाव : वात संचय

आहार : ठंडे, तरल और जलयुक्त आहार जैसे जौ, चावल, ताजा फल, छाछ, ठंडा दूध और बेल शरबत का सेवन करें। खट्टे, तीखे और अधिक मसालेदार भोजन से बचें।

विहार : धूप से बचें, ढीले और हल्के वस्त्र पहनें। दोपहर में बाहर न निकलें। परिश्रम और अत्यधिक व्यायाम से परहेज करें। दिन में थोड़ी देर विश्राम करें।

5. वर्षा ऋतु (श्रावण-भाद्रपद)

स्वभाव : आद्रता और वातदोष का प्रकोप

दोष प्रभाव : वात प्रबल, पाचन शक्ति कमजोर

आहार : गरम, हल्का और सुपाच्य भोजन करें। उबला हुआ पानी पिएँ। अदरक, हींग, जीरा, अजवायन जैसे पाचनवर्धक मसालों का प्रयोग करें। तले-भुने और भारी भोजन से बचें।

विहार : कीचड़ और गंदगी से बचें। शरीर की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दें। योग और ध्यान मानसिक शांति प्रदान करते हैं।

6. शरद ऋतु (आश्विन-कार्तिक)

स्वभाव : शीतल और पित्तवर्धक

दोष प्रभाव : पित्त प्रकोप

आहार : मीठा, ठंडा और तरल आहार करें। घी, दूध, चावल, मूंग की दाल, बेल, खजूर, त्रिफला आदि का सेवन लाभदायक है। खट्टा, नमकीन, मिर्च-मसालेदार भोजन से बचें।

विहार : चंद्रमा की चांदनी में टहलना, शीतल जल से स्नान करना, और तनावमुक्त दिनचर्या अपनाना उपयोगी है।

प्रत्येक ऋतु के अनुसार जीवनशैली में ये परिवर्तन करना आयुर्वेद की एक प्राचीन और सटीक पद्धति है, जो शरीर को स्वस्थ, मन को शांत और जीवन को संतुलित बनाती है। ऋतुचर्या अपनाकर हम प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर एक बेहतर, रोगमुक्त जीवन जी सकते हैं।

आधुनिक जीवन में ऋतुचर्या की प्रासंगिकता : आज का युग तकनीकी प्रगति, भौतिक सुख-सुविधाओं और तीव्र प्रतिस्पर्धा का युग है। लोगों की जीवनशैली अत्यंत व्यस्त, अनियमित और कृत्रिम होती जा रही है। वातानुकूलित कमरों में घंटों बैठना, असमय भोजन करना, जंक फूड का सेवन, नींद की कमी, व्यायाम की उपेक्षा और अत्यधिक मानसिक तनाव-ये सभी आधुनिक जीवन की वास्तविकताएँ बन चुकी हैं। ऐसे में लोगों का शारीरिक व मानसिक संतुलन डगमगाने लगा है और रोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

इस पृष्ठभूमि में ऋतुचर्या की प्रासंगिकता अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। ऋतुचर्या एक ऐसा आयुर्वेदिक सिद्धांत है जो हमें प्रत्येक ऋतु में शरीर व मन को संतुलित बनाए रखने हेतु विशिष्ट आहार-विहार अपनाने की प्रेरणा देता है। यह प्रकृति के साथ सामंजस्य बैठाकर जीने की कला है।

1. प्राकृतिक संतुलन बनाए रखना : ऋतुचर्या का मुख्य लाभ यह है कि यह हमें प्रकृति के चक्र के अनुसार ढलने में सहायता करती है। जब हम ऋतु के अनुसार खानपान, विश्राम और गतिविधियाँ अपनाते हैं, तो हमारे शरीर की जैविक घड़ी (biological clock) भी उसी लय में कार्य करती है, जिससे हमारी हार्मोनल प्रणाली, पाचन तंत्र और मानसिक स्थिति संतुलित रहती है।

2. रोगों की रोकथाम : हर ऋतु में कुछ विशेष रोग जैसे जुकाम, बुखार, एलर्जी, डायरिया, त्वचा रोग आदि अधिक देखने को मिलते हैं। यदि हम ऋतुचर्या का पालन करें - जैसे शरद ऋतु में पित्तशामक आहार, वर्षा ऋतु में सुपाच्य भोजन और वसंत में कफहर आहार-तो इन सामान्य रोगों से बचाव संभव हो जाता है। इस प्रकार यह एक निवारक चिकित्सा पद्धति के रूप में कार्य करती है।

3. पाचन व चयापचय में सुधार : हर ऋतु में पाचन शक्ति का स्तर बदलता है। जैसे-हेमंत ऋतु में जठराग्नि तीव्र होती है जबकि ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में मंद। यदि व्यक्ति ऋतु अनुसार भोजन करे तो न केवल पाचन क्रिया संतुलित रहती है बल्कि चयापचय भी नियमित होता है, जिससे मोटापा, कब्ज, अपच जैसे विकारों से बचा जा सकता है।

4. मानसिक स्वास्थ्य में सहायता : आज के तनावपूर्ण जीवन में मानसिक स्वास्थ्य सबसे बड़ी चुनौती बन चुका है। ऋतु के अनुसार जीवनशैली अपनाने से नींद की गुणवत्ता, मन की शांति, चिड़चिड़ापन, अवसाद और चिंता जैसी समस्याओं में कमी आती है। योग, ध्यान, प्राकृतिक संपर्क और विश्राम को ऋतुचर्या का भाग बनाकर मानसिक संतुलन प्राप्त किया जा सकता है।

5. सांस्कृतिक एवं सामाजिक समरसता : भारतीय संस्कृति में ऋतु आधारित पर्व-त्योहार जैसे होली (वसंत), दीपावली (शरद), मकर संक्रांति (शिशिर) आदि मनाए जाते हैं, जो जीवन में उत्साह और सामूहिकता लाते हैं। ऋतुचर्या इन पर्वों से जुड़कर सामाजिक और सांस्कृतिक समरसता को भी बनाए रखती है।

निष्कर्ष : ऋतुचर्या केवल एक प्राचीन आयुर्वेदिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह मानव जीवन को संतुलित, स्वस्थ एवं दीर्घायु बनाने की एक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक पद्धति है। यह हमें ऋतुओं के अनुसार अपने आहार, विहार और दिनचर्या में आवश्यक परिवर्तन करने की शिक्षा देती है, जिससे हम प्रकृति के परिवर्तनों के प्रति अनुकूलित हो सकें। इस अनुकूलन की प्रक्रिया से शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है, पाचन व चयापचय क्रियाएँ संतुलित रहती हैं, और मानसिक शांति बनी रहती है। आधुनिक जीवनशैली, जिसमें अनुशासनहीन दिनचर्या, प्रदूषण, मानसिक तनाव, कृत्रिम आहार और गतिहीनता जैसी समस्याएँ शामिल हैं, ने मानव को असंख्य रोगों के जाल में उलझा दिया है। ऐसे में ऋतुचर्या एक प्राकृतिक समाधान प्रस्तुत करती है जो बिना किसी दुष्प्रभाव के संपूर्ण स्वास्थ्य की दिशा में मार्ग प्रशस्त करती है।

इसके माध्यम से न केवल शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा होती है, अपितु मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी व्यक्ति सुदृढ़ बनता है।

आयुर्वेद का यह सिद्धांत आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों से भी प्रमाणित हो रहा है, जिसमें शरीर की जैविक घड़ी (biological clock), सर्केडियन रिद्म (circadian rhythm) और मौसमों के प्रभावों का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट संकेत है कि हमारी पारंपरिक ऋतुचर्या पद्धति वैज्ञानिक रूप से भी युक्तिसंगत है। अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि हम ऋतुचर्या को अपनी दैनिक जीवनशैली में आत्मसात करें, ताकि हम न केवल रोगों से मुक्त रह सकें, बल्कि पूर्णतः स्वस्थ, आनंदपूर्ण एवं प्रकृति के अनुरूप जीवन जी सकें। प्रकृति के साथ सामंजस्य में जीना ही सच्चे स्वास्थ्य और संतुलन की कुंजी है।

शोध छात्र,
एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत
स्टडीज एण्ड रिसर्च,
एमिटी यूनिवर्सिटी उत्तर प्रदेश नोएडा

---

lUnHkZ xzaFk

- शर्मा, बी. के. (कोई तिथि नहीं). आयुर्वेद का सामान्य परिचय. आयुर्वेद प्रकाशन.
- शर्मा, पं. द. (कोई तिथि नहीं). प्राकृतिक जीवन और आयुर्वेद. आयुर्वेदिक प्रकाशन.
- सिंह, म. (कोई तिथि नहीं). वेदों में स्वास्थ्य. आधुनिक स्वास्थ्य प्रकाशन.
- कपूर, एस. के. (2019). स्वास्थ्य मार्गदर्शन और जीवनशैली. वेलनेस बुक्स, नई दिल्ली.
- शर्मा, रमेश चंद्र. (2018). आधुनिक जीवन में आयुर्वेद. आयुर्वेदिक चिकित्सा केंद्र, जयपुर.
- वर्मा, काव्या. (2021). ऋतुचर्या और उसका महत्व. आयुर्वेदिक साहित्य प्रेस, दिल्ली.
- रानी, विभा. (2020). आधुनिक आयुर्वेद और समकालीन जीवनशैली. हेल्थ साइंसेस पब्लिशिंग, मुंबई.
- शर्मा, रघुनाथ. (2017). विज्ञान और आयुर्वेद. आयुर्वेद प्रकाशन, लखनऊ.

शोध-पत्र

अंजलि आर्या

अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत में तत्व मीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन

सारांश : यह शोध पत्र अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत के अंतर्गत तत्त्व मीमांसा (metaphysics) की तुलनात्मक व्याख्या करता है। अद्वैत वेदांत की स्थापना आदि शंकराचार्य द्वारा की गई थी, जिसमें ब्रह्म को एकमात्र सत्य, निराकार, निर्गुण और अद्वैत (द्वैत रहित) माना गया है। जीव और जगत को मायिक या अवास्तविक कहा गया है। शंकराचार्य के अनुसार जीव, ब्रह्म का प्रतिबिंब मात्र है और मोक्ष की प्राप्ति आत्मा और ब्रह्म के एकत्व की अनुभूति से होती है। दूसरी ओर, विशिष्टाद्वैत वेदांत की स्थापना रामानुजाचार्य द्वारा की गई थी। इसमें ब्रह्म को सगुण, साकार और अनंत गुणों से युक्त परमात्मा के रूप में स्वीकार किया गया है। जीव और जगत को ब्रह्म का अंग माना गया है - ये ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, किंतु स्वतंत्र भी नहीं हैं। यह दर्शन ब्रह्म की विशिष्टता को स्वीकारते हुए अद्वैत को 'विशिष्ट अद्वैत' के रूप में प्रस्तुत करता है। रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति मार्ग के माध्यम से परमात्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों वेदांत दर्शन परम ब्रह्म को अंतिम तत्त्व मानते हैं, किंतु उनके स्वरूप, जीव-जगत के साथ उसके संबंध, और मोक्ष के मार्ग में भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। अद्वैत वेदांत ज्ञानमार्ग को प्रधान मानता है, जबकि विशिष्टाद्वैत भक्ति को सर्वोपरि मानता है। इस प्रकार, यह तुलनात्मक अध्ययन भारतीय दर्शन की गूढ़ता और विविधता को समझने में सहायक सिद्ध होता है।

बीज शब्द : अद्वैत वेदांत, विशिष्टाद्वैत वेदांत, तत्त्व मीमांसा, ब्रह्म, जीव, मोक्ष।

परिचय : भारतीय दर्शन की परंपरा अत्यंत समृद्ध, विविध और गहन है, जिसमें तत्त्व मीमांसा या तत्वज्ञान का विशेष स्थान है। दर्शन का यह अंग ब्रह्मांड, जीव, ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष जैसे मौलिक प्रश्नों पर विचार करता है। विशेषत: वेदांत दर्शन, जो उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर आधारित है, भारतीय दर्शन के सबसे परिष्कृत और प्रभावशाली अंगों में से एक माना जाता है। वेदांत की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिनमें प्रमुख हैं - अद्वैत वेदांत, विशिष्टाद्वैत वेदांत और द्वैत वेदांत। इस शोध का केंद्र बिंदु अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदांत की तत्त्व मीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन है।

अद्वैत वेदांत की स्थापना आदि शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) द्वारा की गई थी। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; वह निराकार, निर्गुण और अद्वैत (द्वैत रहित) है। जीव और जगत ब्रह्म की माया से उत्पन्न प्रतीत होते हैं और वे वास्तव में अवास्तविक हैं। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, यह केवल अज्ञान (अविद्या) के कारण प्रतीत होता है। जब जीव ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसे यह अनुभव होता है कि वह स्वयं ब्रह्म है - यही मोक्ष है। अद्वैत वेदांत की दृष्टि से ज्ञानमार्ग ही मोक्ष का प्रमुख साधन है।

इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत वेदांत की स्थापना रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शताब्दी) ने की। इस दर्शन में ब्रह्म को सगुण, साकार और अनंत गुणों से युक्त परमेश्वर के रूप में माना गया है। जीव और जगत ब्रह्म के अंग हैं, वे उससे भिन्न नहीं हैं, परंतु उसकी विशिष्टता के कारण अलग भी हैं। इसलिए इसे 'विशिष्ट अद्वैत' कहा गया। इस प्रणाली में भक्ति मार्ग को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। रामानुज के

अनुसार, भक्तिपूर्वक परमात्मा की शरण में जाना और अनन्य प्रेम से उसकी उपासना करना मोक्ष का मार्ग है।

इस अध्ययन का उद्देश्य इन दोनों वेदांत प्रणालियों के अंतर्गत ब्रह्म, जीव, जगत और मोक्ष जैसे तत्त्वों की व्याख्या में पाए जाने वाले साम्य और भेद को स्पष्ट करना है। यह तुलनात्मक विश्लेषण न केवल दर्शन के छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, बल्कि भारतीय दार्शनिक परंपरा की गहराई और विविधता को समझने में भी सहायक होगा।

इस शोध में मूलतः उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के भाष्यग्रंथों का अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों की टीकाओं, टिप्पणियों तथा आधुनिक अनुसंधान कार्यों का भी समावेश किया गया है। इस प्रकार यह शोध भारतीय वेदांत परंपरा के दो महान स्तंभों के दृष्टिकोणों का सम्यक् तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करता है।

वेदांत दर्शन की भूमिका और महत्त्व : वेदांत दर्शन भारतीय दार्शनिक परंपरा की सर्वोच्च और परिपक्व शाखा मानी जाती है, जो उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता जैसे प्रामाणिक ग्रंथों पर आधारित है। 'वेदांत' शब्द का शाब्दिक अर्थ है–वेदों का अंत या निष्कर्ष, अर्थात् वेदों का सार, जो उपनिषदों में प्राप्त होता है। उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा, जगत और मोक्ष जैसे मूलभूत प्रश्नों का गहन चिंतन प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मसूत्र, जिसे बादरायण या वेदव्यास द्वारा रचित माना जाता है, उपनिषदों के तात्त्विक विचारों को सूत्र रूप में व्यवस्थित करता है, जबकि भगवद्गीता जीवन, धर्म और आत्मा संबंधी ज्ञान को व्यवहारिक जीवन से जोड़ती है।

वेदांत दर्शन न केवल आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप की गूढ़ मीमांसा करता है, बल्कि मोक्ष के मार्ग का भी स्पष्ट निर्देश देता है। यह दर्शन विभिन्न वेदांत आचार्यों ख़ जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि द्वारा विकसित विभिन्न उप-प्रणालियों में विभाजित है, जिनमें से अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत प्रमुख हैं। इन सबका उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति और जीवन के अंतिम लक्ष्य - मोक्ष - की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः वेदांत दर्शन भारतीय तत्त्वमीमांसा की रीढ़ के रूप में कार्य करता है, और आज भी इसकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण बनी हुई है।

अद्वैत वेदांत का तात्त्विक दृष्टिकोण : अद्वैत वेदांत, भारतीय दर्शन की एक अत्यंत गूढ़ और प्राचीन शाखा है, जिसकी स्थापना आदि शंकराचार्य ने की थी। इसका मूल सिद्धांत है-'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः'। अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; वह निराकार, निर्गुण, नित्य, अजन्मा और अपरिवर्तनीय है। ब्रह्म न तो किसी रूप में बंधा है और न ही उसमें कोई द्वैत या भेद है। वही परम तत्व संपूर्ण सृष्टि का मूल कारण है।

जीव और जगत की सत्ता को अद्वैत वेदांत माया और अविद्या के द्वारा समझाता है। माया ब्रह्म की अधिष्ठान शक्ति है, जो अज्ञानवश जीव को अपने वास्तविक स्वरूप से भिन्न प्रतीत कराती है। इसी कारण जीव ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है और संसार को यथार्थ मान बैठता है। वास्तव में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है; भेद केवल ज्ञान के अभाव का परिणाम है।

मोक्ष की अवधारणा अद्वैत वेदांत में आत्मा और ब्रह्म के पूर्ण एकत्व की अनुभूति में निहित है। जब जीव अविद्या से मुक्त होकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वही ब्रह्म है। यह आत्मसाक्षात्कार ही परम मोक्ष है, जिसे अद्वैत वेदांत में ज्ञान के माध्यम से प्राप्त किया जाता है।

विशिष्टाद्वैत वेदांत का तात्त्विक दृष्टिकोण : विशिष्टाद्वैत वेदांत की स्थापना आचार्य रामानुज ने की, जो वेदांत दर्शन की एक प्रमुख और भक्तिपरक शाखा है। इस दर्शन का केंद्रीय सिद्धांत है - ''तत्त्वमसि'' (तू वही है), जिसकी व्याख्या रामानुज ने इस प्रकार की कि आत्मा और ब्रह्म का संबंध अभिन्न तो है, परंतु उसमें विशिष्टता (विशेषता) निहित है। अतः इसे 'विशिष्ट अद्वैत' कहा गया - जहाँ अद्वैत है, लेकिन विशिष्टताओं सहित।

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म सगुण, साकार, सर्वगुण सम्पन्न और सर्वशक्तिमान है, जिसे वे नारायण या विष्णु के रूप में मानते हैं। ब्रह्म के दो प्रमुख उपांग हैं - जीव और जगत। जीव और जगत ब्रह्म के शरीर के समान हैं और ब्रह्म उनका आत्मा है। इसको 'शरीर-शरीरी भाव' कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि जीव-जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, बल्कि उसी के अभिन्न अंग हैं।

विशिष्टाद्वैत में मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग भक्ति माना गया है। जीव जब परमात्मा की शरण में पूरी श्रद्धा, प्रेम और समर्पण के साथ जाता है, तो वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इस दर्शन में भक्ति को सर्वोच्च साधन और ईश्वर-कृपा को मुक्ति का कारण माना गया है। ज्ञान और कर्म को सहायक माना जाता है, किंतु प्रधान नहीं।

ब्रह्म, जीव, और जगत की व्याख्या में भेद : अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत दोनों में ब्रह्म, जीव और जगत की व्याख्या में मौलिक भेद है, जो उनके तात्त्विक दृष्टिकोण को परिभाषित करता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार, ब्रह्म और जीव का संबंध अभिन्न है। शंकराचार्य के सिद्धांत के अनुसार, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और सब कुछ उसी से उत्पन्न है। जीव का अस्तित्व ब्रह्म का ही प्रतिबिंब है और केवल अविद्या (अज्ञान) के कारण यह भेद दिखता है। वास्तव में, ब्रह्म और जीव में कोई अंतर नहीं है; वे दोनों एक ही ब्रह्म का रूप हैं। यह एकत्व का ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति है। अद्वैत में जगत को मायिक (अवास्तविक) माना जाता है, जिसका अस्तित्व केवल ब्रह्म की माया का परिणाम है।

इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत वेदांत में ब्रह्म, जीव और जगत के बीच संबंध कुछ अलग होता है। रामानुजाचार्य के अनुसार, ब्रह्म सगुण और साकार है, और जीव तथा जगत को ब्रह्म का अंग माना जाता है। यहां जीव और ब्रह्म के बीच अभिन्न किंतु विशिष्ट (विशेष रूप से अलग-अलग) संबंध है। जीव और जगत ब्रह्म के अंग हैं, लेकिन वे ब्रह्म से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में आते हैं। इसलिए, जगत को विशिष्टाद्वैत में यथार्थ (सच्चा) माना जाता है, जो ब्रह्म के गुणों से युक्त होता है।इस प्रकार, अद्वैत में ब्रह्म और जीव का शुद्ध अभिन्न संबंध है, जबकि विशिष्टाद्वैत में वे एक-दूसरे के अंग हैं, जो ब्रह्म के साथ मिलकर एक दिव्य संरचना बनाते हैं।

मोक्ष की परिकल्पना और प्राप्ति के मार्ग : अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत में मोक्ष की परिकल्पना और उसे प्राप्त करने के मार्ग में स्पष्ट भेद है। दोनों ही दर्शन के अनुसार, मोक्ष का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलन, लेकिन इसे प्राप्त करने के साधन और दृष्टिकोण में अंतर है। अद्वैत वेदांत में मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य मार्ग ज्ञानमार्ग है। शंकराचार्य के अनुसार, मोक्ष तब प्राप्त होता है जब जीव अपनी वास्तविकता को समझता है और यह अनुभव करता है कि वह स्वयं ब्रह्म है। यह आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मा के साथ एकत्व का अनुभव ज्ञान के माध्यम से होता है। अद्वैत वेदांत में, ज्ञान (अविवेक) और विवेक (सत्य और असत्य का भेद) के माध्यम से ही मानव अपने अज्ञान से मुक्त हो सकता है, और ब्रह्म से अभिन्न रूप से जुड़कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत वेदांत में मोक्ष का मार्ग भक्ति के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। रामानुजाचार्य के अनुसार, मोक्ष का सही मार्ग ईश्वर की शरणागति और अनन्य भक्ति में निहित है। विशिष्टाद्वैत में, जीव ब्रह्म के अंग होते हुए भी ईश्वर के अलग रूप में अस्तित्व में रहते हैं, और ईश्वर के प्रति सद्भाव, प्रेम और समर्पण से वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। भक्ति के माध्यम से परमात्मा के साथ संबंध स्थापित करने से आत्मा का पुनर्निर्माण होता है और वह अंततः ब्रह्म के साथ मिलकर मुक्त हो जाती है। इस प्रकार, अद्वैत में मोक्ष का साधन ज्ञान है, जबकि विशिष्टाद्वैत में मोक्ष का साधन भक्ति और शरणागति है।

तुलनात्मक विवेचन : अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत दोनों ही वेदांत दर्शन की प्रमुख प्रणालियाँ हैं, लेकिन इनके तत्त्वों, ब्रह्म, जीव और जगत के संबंध, और मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग में महत्वपूर्ण भिन्नताएँ हैं।

समानताएँ : दोनों प्रणालियाँ वेदों और उपनिषदों पर आधारित हैं और ब्रह्म को सर्वोच्च सत्य मानती हैं। दोनों ही प्रणालियाँ आत्मा और ब्रह्म के संबंध में एकरूपता की बात करती हैं, हालांकि इसके संदर्भ और व्याख्या में भिन्नताएँ हैं। दोनों प्रणालियाँ मोक्ष को आत्मा के परमात्मा के साथ मिलन के रूप में परिभाषित करती हैं, हालांकि मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग भिन्न हैं।

भिन्नताएँ : अद्वैत वेदांत में अभेदवाद की अवधारणा है, जिसमें ब्रह्म और जीव का कोई भेद नहीं होता। शंकराचार्य के अनुसार, ब्रह्म और जीव दोनों एक ही हैं, और केवल अविद्या के कारण जीव आत्मा को ब्रह्म से भिन्न समझता है। यहां ब्रह्म निर्गुण और निराकार है।

विशिष्टाद्वैत वेदांत में भिन्नाभिन्नवाद की अवधारणा है, जिसमें ब्रह्म, जीव और जगत के बीच भेद है, हालांकि ये सभी एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। रामानुजाचार्य के अनुसार, ब्रह्म सगुण और साकार है, और जीव ब्रह्म का अंश होते हुए भी उससे अलग होते हैं। यहां ब्रह्म सगुण (विष्णु) के रूप में पूजा जाता है, और मोक्ष भक्ति के माध्यम से प्राप्त होता है।

निर्गुण बनाम सगुण ब्रह्म की अवधारणारूअद्वैत वेदांत में निर्गुण ब्रह्म का विचार है, जो निराकार, निर्गुण, और अपरिवर्तनीय होता है। शंकराचार्य के अनुसार, ब्रह्म का कोई रूप नहीं होता, और यह केवल एक अद्वितीय

अस्तित्व है। इसके विपरीत, विशिष्टाद्वैत वेदांत में सगुण ब्रह्म की अवधारणा है, जो भगवान विष्णु के रूप में साकार होता है। यहाँ भगवान का रूप और गुण महत्वपूर्ण होते हैं, और भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।इस प्रकार, दोनों प्रणालियाँ ब्रह्म, जीव और जगत के संबंध को अलग-अलग दृष्टिकोण से समझाती हैं, जहां अद्वैत में अभेदवाद और निराकार ब्रह्म है, वहीं विशिष्टाद्वैत में भिन्नाभिन्नवाद और सगुण ब्रह्म की परिकल्पना की जाती है।

समकालीन संदर्भ में प्रासंगिकता : आज के समकालीन समाज में अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत दोनों की प्रासंगिकता बनी हुई है, विशेष रूप से आत्मज्ञान और भक्ति के संतुलन की आवश्यकता को समझने में। जहां अद्वैत वेदांत आत्मज्ञान को सर्वोच्च मानता है, जो व्यक्ति को उसके अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप को समझने में मदद करता है, वहीं विशिष्टाद्वैत वेदांत भक्ति और ईश्वर की शरणागति को मोक्ष का मार्ग मानता है। आज के तनावपूर्ण और जटिल जीवन में, दोनों दृष्टिकोणों का संतुलन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

समाज में आत्मज्ञान और भक्ति का समन्वय आत्मिक संतुलन और मानसिक शांति प्रदान कर सकता है। जबकि ज्ञान का मार्ग व्यक्ति को स्वायत्तता और आत्मनिर्भरता की ओर प्रेरित करता है, भक्ति का मार्ग उसे आत्मसमर्पण और प्रेम का अनुभव कराता है। आज की तेजी से बदलती दुनिया में जहां व्यक्ति को आंतरिक शांति और बाहरी सफलता दोनों की आवश्यकता है, वहां इन दोनों का समन्वय जीवन में गहरी संतुष्टि और समृद्धि ला सकता है।

दार्शनिक विविधता को समझने की दृष्टि से उपयोगिता : दोनों प्रणालियों की समझ दार्शनिक विविधता को स्वीकार करने में सहायक है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के भिन्न दृष्टिकोणों को समझने से हम यह जान सकते हैं कि विभिन्न जीवन स्थितियों, संस्कृतियों और विचारधाराओं में कैसे एक समान सत्य की विभिन्न परिभाषाएँ हो सकती हैं। यह दृष्टिकोण समकालीन समाज में सहिष्णुता, संवाद और विविधता की स्वीकृति को बढ़ावा देता है।

निष्कर्ष : अद्वैत वेदांत और विशिष्टाद्वैत वेदांत दोनों ही भारतीय दर्शन की अमूल्य धरोहर हैं, जो जीवन के गहरे तात्त्विक सवालों का उत्तर प्रदान करती हैं। अद्वैत वेदांत में ब्रह्म और जीव के बीच कोई भेद नहीं होता, और इसका मुख्य लक्ष्य आत्मज्ञान के माध्यम से ब्रह्म से एकत्व का अनुभव करना है। वहीं, विशिष्टाद्वैत वेदांत में ब्रह्म, जीव और जगत के बीच भिन्न-भिन्न संबंध होते हुए भी सभी एक दूसरे से अभिन्न हैं, और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग भक्ति और ईश्वर की शरणागति के माध्यम से सुझाया जाता है।

समकालीन संदर्भ में इन दोनों प्रणालियों की प्रासंगिकता को समझना महत्वपूर्ण है, क्योंकि आज के समाज में आत्मज्ञान और भक्ति का संतुलन मानसिक शांति और आंतरिक संतोष के लिए आवश्यक है। दार्शनिक विविधता को स्वीकारने और समझने की दृष्टि से भी ये प्रणालियाँ हमारे जीवन को और अधिक समृद्ध और संतुलित बना सकती हैं।

शोध छात्रा,
एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत
स्टडीज एंड रिसर्च
एमिटी विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश, नोएडा

lUnHkZ xzaFk

- शंकराचार्य, आदि. (2010). आद्वैत वेदांत : वेदांत दर्शन का अध्ययन. आदित्य प्रकाशन, दिल्ली।
- रामानुजाचार्य. (2008). विशिष्टाद्वैत वेदांत : ब्रह्म, जीव और जगत के संबंध की परिभाषा. विद्यापीठ प्रेस, मुंबई।
- भगवद्गीता. (2015). भगवद्गीता : हिंदी में अनुवादित. श्रीराम प्रकाशन, वाराणसी।
- रघुनाथ शास्त्री. (2012). वेदांत दर्शन के सिद्धांत : अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की तुलना. भारतीय दर्शन प्रकाशन, कानपुर।
- परब्रह्मनंद, स्वामी. (2017). आत्मज्ञान और भक्ति : अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की प्रासंगिकता. वैदिक ज्ञान केंद्र, लखनऊ।
- रवींद्रनाथ ठाकुर. (2014). दार्शनिक दृष्टिकोण : भारत में तात्त्विक दार्शनिक प्रणालियाँ. कल्याणी पब्लिकेशन, कोलकाता।
- राजीव लोचन. (2016). धार्मिक और तात्त्विक विचारधाराएँ : वेदांत दर्शन का समकालीन संदर्भ. संतोष प्रकाशन, दिल्ली।
- श्रीमद्भागवद्गीता. (2011). व्याख्यात्मक संस्करण : भक्तियोग पर विशेष ध्यान. भगवद्गीता प्रकाशन, जयपुर।
- महेश्वराचार्य, स्वामी. (2013). ब्रह्म, जीव और जगत : अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की तुलना. दिव्य दर्शन प्रकाशन, ऋषिकेश।
- पं. जयदेव. (2015). भारतीय दर्शन का इतिहास : शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के दृष्टिकोणों की विस्तार से व्याख्या. भारतीय ज्ञान संस्थान, अहमदाबाद।

डॉ. रंजीत कौर

रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि (निर्मल वर्मा) - एक आलोचनात्मक विश्लेषण

निर्मल वर्मा द्वारा उपन्यासकार 'रेणु' पर लिखा गया आलोचनात्मक निबंध 'रेणु : समग्र मानवीय दृष्टि' उनके चर्चित निबंध संग्रह 'कला का जोखिम (1981) में संकलित है। इस संग्रह के तीन खंड हैं। प्रथम खंड में निर्मल ने साहित्य और कला से सम्बंधित सैद्धांतिक निबंध रखे हैं जहाँ निर्मल की प्रमुख चिंता है कि आधुनिक सभ्यता में कला का स्थान दिनोंदिन धुंधला, अनिश्चित और संदिग्ध बनता जा रहा है। कला के लिए यह बीहड़ जोखिम है कि वह एक तरफ तो मनुष्य के कार्य-कलाप से विगलित हो गई है और दूसरी तरफ वह स्वायत्त सत्ता भी नहीं बन पाई है। स्वायत्तता से निर्मल का अभिप्राय कलाकृति की स्वतंत्र सत्ता से है, समाज निरपेक्ष सत्ता से नहीं। संग्रह के दूसरे खंड के निबंध रचनाकार शीर्षक के अंतर्गत रखे गये हैं जिनमें निर्मल वर्मा ने रेणु, अज्ञेय, मुक्तिबोध और जयप्रकाश नारायण जैसे साहित्यकारों और संस्कृति चिंतकों के व्यक्तित्त्व को उनके कृतित्त्व के बीच परखने का प्रयास किया है।

उपन्यासकार रेणु पर लिखे गये निबंध के दो हिस्से हैं - प्रथम भाग उनके आंचलिक उपन्यास 'परती परिकथा' के मूल्यांकन से संबंधित है और दूसरे भाग में 'रेणु' के व्यक्तित्व की समग्र मानवीय दृष्टि को रेखांकित करते हुए यह स्थापना दी है कि सर्वप्रथम रेणु ने ही 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' उपन्यासों के रूप में यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे को तोड़कर 'भारतीय उपन्यास के जातीय फार्म' की संभावनाओं की तलाश की है। निर्मल वर्मा हिंदी साहित्य की वर्तमान समीक्षा पद्धति के प्रति असंतोष प्रकट करते हैं। उनके विचार में आज किसी भी कृति या कृतिकार का मूल्यांकन करते समय आलोचक के व्यक्तिगत पूर्वाग्रह आड़े आते हैं और वह निष्पक्ष तथा स्वस्थ आलोचना नहीं कर पाता। प्राय: आलोचक किसी एक दृष्टि अथवा विचारधारा को अपनाकर कलाकृति के 'समूचे चरित्र' को उस विचारधारा के सांचे में फिट करने का प्रयत्न करता है. उनकी दृष्टि में प्रसाद को 'हिन्दू आध्यात्मिकता' और प्रेमचंद को 'यथार्थवादिता' के सांचे में फिट करने का प्रयत्न ऐसी ही एकांगी आलोचना का दुष्परिणाम है. निर्मल उन समीक्षकों की आलोचना करते हैं जो कलाकृति को अपने में पूर्ण और स्वायत्त सत्ता न मानकर उसे मात्र समाज का दर्पण मानते हैं। निर्मल का मानना है कि आधुनिक लेखकों की प्रगतिशील सर्जनात्मकता को किसी सैद्धांतिक कटघरे के अंतर्गत परिभाषित नहीं किया जा सकता। रेणु के 'परती परिकथा' की आलोचनाओं के विषय में उनका विचार है कि आलोचकों ने परिकथा के संवेदनात्मक अथवा संरचनात्मक रूप विधान का विश्लेषण/मूल्यांकन करने का प्रयास नहीं किया बल्कि उसे अपने अपने पूर्व निर्धारित सैद्धांतिक मानदंडों के अमूर्त चौखटे में फिट करने का ही प्रयत्न अधिक किया है। निर्मल वर्मा का विचार है कि ऐसी पूर्वाग्रहों से दूषित और भावुकता पूर्ण अस्वस्थ आलोचनाओं की उपस्थिति में 'परती परिकथा' के संबंध में अपनी मौलिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना एक जोखिम पूर्ण कार्य है। उनकी मान्यता है कि 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' उपन्यासों की रचना द्वारा रेणु ने हिंदी उपन्यास के रचना विधान और कथा शिल्प के क्षेत्र में जो नये प्रयोग किये हैं, उनका मूल्यांकन परंपरागत मानदंडों के आधार पर नहीं किया

जा सकता, आलोचना के नये मानदंड स्थापित करने होंगे। 'परती परिकथा' एक ऐसी कृति है जिसकी सफलता के कारण औपन्यासिक समीक्षा की चली आती हुई मान्यताओं में परिवर्तन करना होगा।''[1]

निर्मल वर्मा को रेणु के समीक्षकों से यह शिकायत है कि एक ओर तो अधिकांश विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के कथा शिल्प में कोई विशेष अंतर नहीं है और परिकथा उसी परंपरा की दूसरी कड़ी है जिसका आरंभ 'मैला आंचल' से होता है, किन्तु दूसरी ओर परिकथा की तर्कहीन और तीखी आलोचना की जाती है। श्रीपत राय जैसे आलोचक जब 'मैला आंचल' को एक महान घटना मानते हुए भी 'परती परिकथा' की तीखी आलोचना करते हुए लिखते हैं कि उसमें कोई चालक मस्तिष्क, कोई केंद्रीय सूत्र नहीं है, किसी प्रकार का जीवन दर्शन नहीं, कोई शृंखलाबद्ध योजना नहीं है और इस प्रकार परती परिकथा अव्यवस्थित, अराजक, लक्ष्यच्युत और इसीलिए श्रीहीन लेखक का असुंदर उदाहरण है - तो निर्मल वर्मा इन आलोचकों से प्रश्न करते हैं कि ''क्या ये तत्व मैला आंचल में विद्यमान है?''[2] परिकथा पर लगाए गए आरोपों का निराकरण करते हुए निर्मल वर्मा ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि किसी कृति की सफलता अथवा असफलता का निर्णय केवल उक्त तत्वों की उपस्थिति के आधार पर नहीं किया जा सकता।

निर्मल वर्मा को किसी कलाकार से जीवन दर्शन की मांग करना बड़ा अनुचित और असंगत जान पड़ता है। वह कहते हैं कि ''हमारी आलोचना पद्धति की ट्रेजडी ही यह रही है कि हम हर कलाकार से एक जीवन दर्शन की मांग करते हैं। एक उपन्यास (या कोई भी कलाकृति) हमारी अंतर्दृष्टि की संभावनाओं को अधिक व्यापक और संवेदनशील बनाने में समर्थ हो सके- इसी में उसकी सार्थकता निहित है।''[3] इस स्थापना के अनुसार 'मैला आंचल' अथवा 'परती परिकथा' में रेणु से किसी जीवन दर्शन की मांग करना अनुचित है। किंतु, निर्मल वर्मा की यह मान्यता ग्राह्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि बिना जीवन दर्शन के कोई उपन्यास हमारी अंतर्दृष्टि की संभावनाओं को व्यापक और संवेदनशील नहीं बना सकता। जीवन दर्शन तो किसी भी उत्कृष्ट कृति में होता ही है, यह अवश्य है कि वह प्रत्यक्ष न होकर घटना, परिस्थितियों और पात्रों के भीतर से नाटकीयता के साथ प्रच्छन्न रूप में व्यंजित होता है। 'परती परिकथा' में भी जीवन दर्शन का अभाव नहीं है, वह उसकी परिस्थितियों, घटनाओं और पात्रों के सर्जनात्मक संघर्षों के भीतर से झलकता रहता है। रेणु के उपन्यासों की प्रासंगिकता आज भी इसलिए बनी हुई है कि उनकी सहानुभूति और उनकी दृष्टि का झुकाव हमेशा ही अभावग्रस्त किंतु संघर्षशील सर्जनात्मक पात्रों (कालीचरण आदि) के प्रति रहा है। इसे भी एक प्रकार से रेणु के जीवन दर्शन की रूपरेखा माना जा सकता है। ''रेणु के उपन्यासों की ग्राम्य भूमि वही है जो प्रेमचंद की थी किन्तु उनके किसान, जमींदार, ग्रामवासी, सामान्य जन साधारण एक नितांत भिन्न अनुभव परिवेश में जीते जागते प्राणी जान पड़ते हैं...यह वह भारत है जिसमें स्वतंत्रता संग्राम के सांस्कृतिक मूल्य, समाजवादी आदर्श और बदलती हुई ग्राम्य व्यवस्था से उपजी मानसिक उथल पुथल एक ऐसे मानचित्र पर संघर्षरत दिखाई देते हैं जो संक्रान्तिकाल का भारत है। यह एक अजीब विरोधाभास था, जिस परती को रेणु ने अपनी परिकथा के लिए चुना था, वह अपनी अनुभव सम्पदा में सबसे अधिक उर्वरा थी क्योंकि अब तक किसी कथाकार ने अपनी कलम से उसे नहीं खोदा था।''[4] कोई भी रचना वास्तव में रचनाकार का अपने परिवेश के साथ सार्थक संवाद का परिणाम होती है और इसी कारण रचना की जीवन्तता बनी रहती है और वह समग्र रूप से जीवन की व्याख्या बन जाती है।

परिकथा पर 'शृंखलाबद्धता और केंद्रीय सूत्र के अभाव' के आरोप लगाये गये हैं, इन आरोपों का खंडन करते हुए निर्मल कहते हैं कि 'परती परिकथा' में केवल सतही तौर पर बिखराव या विशृंखलता दिखाई देती है - किन्तु जरा ध्यान से देखने पर ''इन अनगढ़ रेखाओं के बीच एक अद्‌भुत 'सिंफनी' की संगीतमय धारा उमगती दिखाई देती है''[5] और यह सिंफनी और कुछ नहीं परती की ही धूल धूसरित, स्नेहसिक्त गाथा है जो जीवन की गतिमयता के संगीत से स्पंदित, परानपुर के वीरान और अंतहीन प्रांतर में दिन-रात बहती है। निर्मल वर्मा 'परती परिकथा' में इस तथाकथित बिखराव को वस्तुतः रेणु के कथा शिल्प के एक विशिष्ट और सशक्त प्रयोग के रूप में देखते हैं जो उन्होंने ग्राम्य जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए अपनाया है। इस प्रकार निर्मल इस बिखराव को एक 'शिल्पगत प्रयोग'

के रूप में देखते हैं जो मानवीय संबंधों को अधिक गहन और स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

रेणु की गहन अंतर्दृष्टि परती के आंचल तले पलते जनपद की, परानपुर के आंचलिक परिवेश में सांस लेने वाले जीवंत प्राणियों की समस्त विशेषताओं और असंगतियों को बड़ी सूक्ष्मता से देख पाई है। निर्मल वर्मा रेणु की इस दृष्टि को रेखांकित करते हैं।[6] रेणु की इस उपलब्धि को स्वीकार करते हुए भी निर्मल वर्मा को शिकायत है कि उपन्यास के केंद्रीय पात्र 'जित्तन' की सृष्टि करने में उनकी निरपेक्ष, कलात्मक दृष्टि लड़खड़ा गई है, वह उनके उपन्यास की सबसे निर्बल कड़ी है।''[7] इसका स्पष्टीकरण देते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं कि एक तो रेणु अपने प्रिय पात्र जित्तन बाबू के व्यक्तित्व के एक दो पहलुओं को ही उजागर कर पाते हैं, उसकी दुर्बलताओं, अन्तर्द्वंद्वों तथा मानसिक उलझनों को पूरी निर्ममता और तटस्थता से चित्रित नहीं कर पाते और दूसरे जित्तन बाबू में ''अभिजात वर्ग का संतुलन'' दिखाते हुए उपन्यास के अन्य पात्रों को उनकी तुलना में विकृत और हीन दिखाया है। निर्मल के शब्दों में ''वह तो जित्तन के चरित्र का 'एरिस्टोक्रेटिक ट्रेट' है जिसके आधार पर रेणु ने उसे धूल में सने लड़ते झगड़ते प्राणियों के असंतुलन से उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया है।''[8] इसके अतिरिक्त निर्मल को यह भी शिकायत है कि ताजमनी और इरावती जैसी नारी पात्रों के चरित्रांकन में संवेदनात्मक दृष्टि का अभाव और रेणु की कोरी भावुकतापूर्ण सहानुभूति ही परिलक्षित होती है।

किन्तु, इन कमियों के बावजूद भी निर्मल वर्मा 'परती परिकथा' की सराहना करते हैं क्योंकि उनके अनुसार रेणु ने 'परती परिकथा' में समाज के बदलते संदर्भ में व्यक्तियों की उत्तरोत्तर अधिक संश्लिष्ट होने वाली मानसिक प्रक्रियाओं और नैतिक दबाव का जो चित्रण किया है, सामाजिक, राजनीतिक आंदोलनों के सूत्रों में मनुष्य की जिन आकांक्षाओं और दुर्बलताओं को पिरोया है वह अपने आप में सराहनीय है।[9] ठीक इसी बिंदु पर कृति के मूल्यांकन से संबंधित उनके सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण का अंतर्विरोध स्पष्ट होने लगता है। वैचारिक स्तर पर वे किसी भी कृति का मूल्यांकन करने के लिए युगीन पृष्ठभूमि और सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों का निषेध करते हैं तथा कृति का मूल्यांकन 'स्वयं' उसकी शर्तों के आधार पर करने का समर्थन करते हैं किंतु व्यवहारिक आलोचना के स्तर पर वे अपनी उस स्थापना के प्रति दृढ़ नहीं रह पाते। मनुष्य की संश्लिष्ट होती मानसिक प्रक्रियाओं और नैतिक दबावों के सही मूल्यांकन के लिए तदयुगीन सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि आवश्यक है, जिसके अभाव में किसी कृति का मूल्यांकन संभव नहीं हो पाता। निर्मल के आलोचनात्मक चिंतन का यह एक महत्वपूर्ण अंतर्विरोध है कि वे सृजनात्मक लेखन में तो इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद का विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं किंतु स्वयं व्यावहारिक आलोचना करते समय वे इसी भौतिक यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ के आधार पर रेणु की प्रशंसा करते हैं, इससे यह तो स्थापित हो जाता है कि लेखन में समाज के ठोस यथार्थ और ऐतिहासिक संदर्भों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

निर्मल की दृष्टि में हिंदी उपन्यास साहित्य को रेणु की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने पश्चिम से आयातित उपन्यास के नैरेटिव और यथार्थवादी ढांचे को तोड़कर उसे प्रेमचंद की उपन्यास परंपरा से अलग किया और इस प्रकार उन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय संभावनाओं की तलाश की थी।[10] निर्मल वर्मा स्वयं भी उपन्यास के इस यथार्थवादी कथा शिल्प के विरोधी हैं। उनके अनुसार यह पश्चिम की विधा है जिसे प्रेमचंद तक ने ज्यों का त्यों अपना लिया था। ''उपन्यास के जातीय स्वरूप की खोज पर विचार करते हुए इसीलिए निर्मल को यह बात क्षुब्ध करती है कि भारतीय उपन्यासकारों ने – प्रेमचंद तक ने इस सवाल को नहीं पहचाना और वे पश्चिमी उपन्यास के रूढ़ ढांचे का इस्तेमाल करते रहे– बिना यह महसूस किये कि पश्चिम की स्मृति भारतीय समाज की स्मृति से बिलकुल अलग है और इसीलिए पश्चिमी ढांचा भारतीय स्मृति को वहन करते हुए चरमरा जायेगा।''[11] निर्मल के अनुसार रेणु ने उपन्यास के इस कथात्मक यथार्थवादी ढांचे को तोड़ा था जिससे भारतीय उपन्यास के जातीय फार्म का विकास हो सके। वे यह भी रेखांकित करते हैं कि रेणु के उपन्यासों में ऐतिहासिक समय में बंधी हुई घटनाएं नहीं हैं बल्कि आंचलिक परिवेश और उसमें सांस लेती हुई जिंदगियों की आत्यंतिक लय ही उपन्यास को रूप और फॉर्म देती है।

रेणु ने उपन्यास के यथार्थवादी ढांचे को भले ही तोड़ा

हो किंतु उन्होंने भौतिक यथार्थ और सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों का निषेध नहीं किया है। निर्मल वर्मा ने रेणु के उपन्यासों की उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए बड़ी संवेदनशील दृष्टि से उसकी समीक्षा की है किंतु कहीं कहीं उनका इतिहास विरोधी पूर्वाग्रह आड़े आता है। निर्मल मानते हैं कि ''प्रश्न 'भारतीय अनुभव' का नहीं, 'भारतीय स्मृति' का है। इसलिए 'स्मृति' का सम्बन्ध इतिहास से नहीं बल्कि 'संस्कृति' से है। यही कारण है जो निर्मल वर्मा को उपन्यास या कहें कि कथा के जातीय स्वरुप की खोज पर विचार करने के लिए प्रेरित करता है। निर्मल के आलोचक इसे रूपवादी आग्रह कह सकते हैं और सामान्यत: निर्मल पर कलावादी या रूपवादी होने के आरोप लगाये जाते भी रहे हैं।''[12]

रेणु की कृति तथा कृतित्व के पश्चात निर्मल वर्मा उनके व्यक्तित्व की समग्र माननीय दृष्टि का विश्लेषण करते हैं। रेणु के व्यक्तित्त्व में 'एरिस्टोक्रेटिक गरिमा' तथा 'अभिजात शालीनता' जैसी विशेषताओं को रेखांकित करते हुए निर्मल वर्मा ने उन्हें ऐसा सेंसर माना है जो उनकी 'रचना कर्म की नैतिकता' को अनुशासित करता था। रेणु की दृष्टि की समग्रता को रेखांकित करते हुए निर्मल वर्मा उसमें मैला आंचल का 'कलात्मक विजन' और जयप्रकाश जी की 'संपूर्ण क्रांति' की झलक देखते हैं। निर्मल की मान्यता है कि जयप्रकाश जी की संपूर्ण क्रांति के समान ही रेणु की समग्र मानवीय दृष्टि भी ''समझौता नहीं करती, भटकती नहीं, सत्ता के टुकड़ों पर या कोरे सिद्धांतों की आड़ में अपने को दूषित नहीं करती, वह एक ऐसा मूल्य है जो खुली हवा में सांस लेता है और इसलिए अंतिम रूप में पवित्र और सुंदर और स्वतंत्र है।''[13] जयप्रकाश जी अपने राजनीतिक जीवन के आरंभिक वर्षों में मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित थे और उनका विचार था कि सुखी और स्वतंत्र मानव जीवन के लिए सत्ता में परिवर्तन अनिवार्य है। किंतु बाद के वर्षों में गांधी दर्शन से प्रभावित होकर मार्क्सवाद से उनका मोहभंग हुआ और ''उन्हें लगा कि सत्ता अपने में पाप और इविल है और जब तक मनुष्य अपने को नहीं बदलता सत्ता में परिवर्तन करना केवल एक मरीचिका का मोह है।''[14] इसी बिंदु पर हम देखते हैं कि मैला आंचल में सत्ता के पाप और इविल की छाया तो दिखती है लेकिन यह आस्था नहीं दिखती कि उससे परे रहकर केवल स्वयं को बदलने में ही कर्तव्य निभाना है। 'मैला आंचल' में कालीचरण के विद्रोही और आक्रामक चरित्र में हमें उस विद्रोह और क्रांति का बीज रूप दिखाई देता है जिसमें सत्ता का परिवर्तन आवश्यक दिखता है न कि व्यक्ति का स्वयं को बदलना।

रेणु की दृष्टि पर विचार करते हुए निर्मल वर्मा उसके अंतर्विरोधों को भी स्पष्ट करते हैं। उनकी मान्यता है कि रेणु न तो एस्थीट या सौंदर्यवादी लेखक थे और न ही प्रगतिवादी। वे तो गरीबी की यातना के भीतर भी संगीत और आनंद का रस प्राप्त करते थे और सूखी, परती जमीन के रेगिस्तान को भी सोंधी गंध से महका देते थे किंतु सौंदर्य को बटोरते हुए भी वे उसके भीतर से झांकती धूल धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलते थे। इस प्रकार एक ओर तो वे उन एस्थीट या सौंदर्यवादी लेखकों से पृथक थे जो सौंदर्य को अन्य जीवंत तत्वों से पृथक करके देखते हैं और दूसरी ओर वे उन प्रगतिशील लेखकों के थोथे जनवादी नारों से पृथक थे जो मनुष्य की यातना को उसके समूचे जीवन से अलग करके देखते थे। रेणु की समग्र मानवीय दृष्टि वस्तुत: एक प्रगतिशील और जीवंत जनवादी की दृष्टि थी किंतु अपने अंतर्विरोधों के कारण ही उन्हें अनेक जनवादी और प्रगतिवादी आलोचक संदेह की दृष्टि से देखते थे''[15] निर्मल वर्मा की मान्यता है कि रेणु ने मनुष्य की यातना और पीड़ा को नजदीक से देखा था, इसीलिए उनके उपन्यास सैद्धांतिक न होकर आज भी इतने ताजा और तात्कालिक लगते हैं।

मार्क्सवादी लेखकों के समान रेणु मनुष्य की पीड़ा और गरीबी के साथ सैद्धांतिक खिलवाड़ नहीं कर पाते थे, इसीलिए मार्क्सवादी आलोचकों द्वारा प्रतिगामी घोषित कर दिए गए।

रेणु के औपन्यासिक कृतित्व तथा उनकी समग्र मानवीय दृष्टि का मूल्यांकन करते हुए कहीं-कहीं निर्मल वर्मा के पूर्वाग्रह आड़े आते हैं, उनके अन्तर्विरोध भी प्रत्यक्ष होते हैं, अन्यथा रेणु के 'परती परिकथा' और 'मैला आंचल' उपन्यासों की संतुलित आलोचना करने में वे सफल रहे हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

lUnHkZ lwph

1. धनञ्जय वर्मा, रेणु : कृतित्त्व और कृत्तियाँ, सं सियाराम तिवारी, पृष्ठ 247, नवनीत प्रकाशन, 1983
2. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 60; राजकमल प्रकाशन, 1981
3. वही, पृष्ठ 62
4. संपादक नन्द किशोर आचार्य, अंतर्यात्रा : निर्मल वर्मा, पृष्ठ 494; वाणी प्रकाशन, 2003
5. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 65, राजकमल प्रकाशन, 1981
6. ''रेणु की यह दृष्टि उपन्यासकार की दृष्टि है जो छोटी-छोटी घटनाओं को अद्‌भुत नाटकीयता प्रदान करती है। इन घटनाओं के माध्यम से रेणु ने ठोस, जीवंत कथा पात्रों (फिजिकल कैरेक्टर्स) की सृष्टि की है और यह उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है'' - निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 62
7. वही, पृष्ठ 63
8. वही, पृष्ठ 64
9. वही, पृष्ठ 64
10. ''मैला आँचल और परती परिकथा महज उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नही हैं, वे भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं जिन्होंने अपने ढंग से झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी जो यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे से बिलकुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव कथ्यात्मक परम्परा को तोड़ा था।'' निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 69
11. संपादक नंदकिशोर आचार्य, अंतर्यात्रा : निर्मल वर्मा, पृष्ठ 11
12. संपादक नंदकिशोर आचार्य, अंतर्यात्रा : निर्मल वर्मा, पृष्ठ 11
13. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 67
14. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 94
15. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम, पृष्ठ 67

शोध-पत्र

एकाग्रता और स्मरण शक्ति संवर्धन में योग की भूमिका का अध्ययन

रोशनी आर्या

सार-संक्षेप : 'एकाग्रता और स्मरण शक्ति संवर्धन में योग की भूमिका का अध्ययन' शीर्षक यह शोध-पत्र योगाभ्यास के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों की पड़ताल करता है। यह अध्ययन एक तुलनात्मक सर्वेक्षणात्मक शोध के रूप में सम्पादित किया गया, जिसमें कुल 60 प्रतिभागी सम्मिलित थे। इन प्रतिभागियों को दो समूहों में विभाजित किया गया - पहला समूह उन व्यक्तियों का था जो नियमित रूप से योगाभ्यास करते हैं (30 प्रतिभागी), जबकि दूसरा समूह योगाभ्यास न करने वाले प्रतिभागियों का था (30 प्रतिभागी)। स्मरण शक्ति और एकाग्रता के परीक्षण हेतु एक प्रश्नावली का निर्माण किया गया, जो प्रख्यात Wechsler Memory Scale & Fourth Edition (WMS-IV) की संरचना से प्रेरित है, किन्तु इस शोध के लिए उसे स्वरूपानुकूल संशोधित कर आत्म-मूल्यांकन हेतु अनुकूलित किया गया। प्रश्नावली में कुल 24 प्रश्नों के लिए 1-3 अंकों का निर्धारण किया गया था, तथा अन्य प्रश्नों में प्रतिभागियों की अटेंशन और एकाग्रता के आधार पर सही/गलत उत्तरों का चयन करवाया गया। योगाभ्यास समूह के लिए कोई निश्चित समयावधि निर्धारित नहीं की गई थी, बल्कि उनके स्वयं के योगानुभव और अभ्यास निरंतरता के आधार पर प्रभावों का विश्लेषण किया गया। अध्ययन के निष्कर्षों से यह स्पष्ट हुआ कि नियमित योगाभ्यास एकाग्रता एवं स्मरण शक्ति को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। योगाभ्यास करने वाले प्रतिभागियों के उत्तरों में उच्चतर स्मरण क्षमता और मानसिक स्थिरता के लक्षण परिलक्षित हुए, जबकि योग न करने वाले प्रतिभागियों की तुलना में यह अंतर सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यह शोध इस दिशा में संकेत करता है कि योगाभ्यास, विशेषत: ध्यान और श्वास नियंत्रण की क्रियाएँ, मानसिक क्षमताओं के संवर्धन में सहायक हो सकती हैं।

कूट-शब्द- योग, एकाग्रता, स्मरण शक्ति, योगाभ्यास।

परिचय : वर्तमान युग में मानव जीवन की सफलता के लिए एकाग्रता और स्मरण शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में मानसिक दक्षता तथा त्वरित निर्णय क्षमता सफलता की कुंजी मानी जाती है। यह अध्ययन विशेष रूप से यह जानने हेतु किया गया है कि योगाभ्यास एकाग्रता और स्मरण शक्ति के संवर्धन में किस प्रकार प्रभावी भूमिका निभाता है।

योग के विभिन्न अभ्यास - जैसे प्राणायाम, ध्यान (Meditation), आसन तथा योगनिद्रा - मानसिक संतुलन बनाए रखने के साथ-साथ चित्तवृत्तियों के नियमन में सहायक सिद्ध होते हैं। योगाभ्यास मन को शांत करता है, मस्तिष्क की तंत्रिकाओं को सक्रिय बनाता है और एकाग्रता की क्षमता को सुदृढ़ करता है। इसके साथ ही, नियमित योगाभ्यास मस्तिष्क के तंत्रिका संजाल को सशक्त बनाकर स्मरण शक्ति में उल्लेखनीय वृद्धि करता है।

इस शोध में तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह विश्लेषण किया गया है कि योगाभ्यास करने वाले व्यक्तियों की एकाग्रता एवं स्मरण शक्ति में उन व्यक्तियों की तुलना में अधिक सुधार पाया गया है जो योगाभ्यास नहीं करते। शोध से यह भी स्पष्ट हुआ कि योग केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं, बल्कि मानसिक विकास और बौद्धिक दक्षता के लिए भी एक प्रभावशाली साधन है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि एकाग्रता और स्मरण शक्ति के संवर्धन में योग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, और विद्यार्थियों तथा मानसिक श्रमिकों के लिए इसका नियमित अभ्यास अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

योग परंपरा भी वेदों की भांति ईश्वर की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई मानी जाती है। हमारी परंपरा में प्राचीन काल से ही योग प्रचलित रहा है। विश्व इतिहास के महान साहित्यिक ग्रंथ महाभारत में योग के प्रवक्ता के विषय में कहा गया है–

''हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।''

अर्थात् हिरण्यगर्भ प्राचीनतम योग के वक्ता माने जाते हैं, उनके अतिरिक्त कोई अन्य नहीं।

याज्ञवल्क्य स्मृति (3.6) में भी हिरण्यगर्भ को योगवक्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णन के आधार पर हिरण्यगर्भ को अत्यंत प्राचीन माना जा सकता है। ऋग्वेद में भी हिरण्यगर्भ का वर्णन प्राप्त होता है–जो संपूर्ण सृष्टि को धारण करते हैं, जिन्होंने समग्र पृथ्वी की रचना की। यह सब उनकी सर्वशक्तिमत्ता और जगत की प्रथम सृष्टि का प्रमाण है। रामायण में भी हिरण्यगर्भ को जगत् का अंतरात्मा कहा गया है–

''हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा।''

इसके पश्चात् महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन के माध्यम से योग परंपरा का व्यवस्थित विकास हुआ, ऐसा माना जाता है। महर्षि पाणिनि द्वारा रचित धातुपाठ में 'योग' शब्द के तीन अर्थ दिए गए हैं–

1. युजिर् योगे - अर्थात् संयोग, मिलन।

2. युज समाधौ - समाधि, जो ईश्वर प्राप्ति का साधन है।

3. युजि संयमने - संयम या नियंत्रण।

इन तीनों अर्थों का मर्म यह है कि योग के माध्यम से आत्मा ईश्वर से संयोग स्थापित करती है।

युजिर् योगे का अर्थ है - सांसारिक बंधनों का त्याग कर ईश्वर से संयोग करना।

युज समाधौ - समाधि की सिद्धि ही योग है।

युजि संयमने - मन पर नियंत्रण स्थापित कर आत्मा और ईश्वर के बीच संयोग लाना ही योग है।

वास्तव में योग को अनेक ग्रंथों के माध्यम से जाना जा सकता है, किंतु जो ग्रंथ योग विषयक सुव्यवस्थित ज्ञान प्रस्तुत करता है, वह महर्षि पतंजलि का योगसूत्र माना जाता है।

महर्षि पतंजलि सबसे पहले योग की परिभाषा देते हैं-

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' (1/2)

अर्थात् मनुष्य के दुःखों का कारण उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं, और योग के द्वारा उन्हें नियंत्रित किया जा सकता है।

'चित्त' शब्द का मूल है 'चिति' जिसका अर्थ है- चेतना या ज्ञान। अर्थात् मन की वृत्तियों पर नियंत्रण योग द्वारा ही संभव है। जब यह नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, तब मन बाह्य विषयों से हटकर आत्मा की ओर उन्मुख होता है।

महोपनिषद् में भी योग को मन को नियंत्रित करने का श्रेष्ठ साधन बताया गया है–

''मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते।''

अर्थात् मन को शांत करने का उपाय ही योग कहा गया है।

महर्षि पतंजलि ने वेदों में विखंडित रूप से फैले योगज्ञान को संकलित कर योगसूत्र के रूप में उसे सुव्यवस्थित किया, जिससे वह सामान्य जनों के लिए सुलभ हो गया। इस कार्य का श्रेय उन्हें जाता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन में चार पाद (भाग) हैं, और यह सूत्रशैली में लिखा गया है। इसमें कुल 195 सूत्र हैं। इस ग्रंथ की शैली अत्यंत सरल है, जो पाठकों को इसे समझने और अपनाने के लिए प्रेरित करती है।

इस ज्ञानग्रंथ का प्रथम सूत्र कहता है-

''अथ योगानुशासनम्'' (1/1)

अर्थात् अब योग का अनुशासन (शिक्षा/अनुशासनात्मक प्रशिक्षण) आरंभ होता है।

योगदर्शन के लेखन का उद्देश्य यह है कि मनुष्य जीवन में आनेवाली कठिनाइयों के प्रति उसे सचेत किया जाए और उनके निवारण के उपाय बताए जाएँ। इस ग्रंथ में क्रियायोग (व्यवहारात्मक योग) का भी वर्णन है।

एकाग्रता (Concentration) और स्मरण शक्ति (Memory)

1. एकाग्रता (Concentration)

परिभाषा :

एकाग्रता का अर्थ है किसी एक कार्य, विचार, या

वस्तु पर ध्यान केंद्रित करना और बाहरी या आंतरिक व्यवधानों से बचना।

यह मानसिक प्रक्रिया मस्तिष्क के prefrontal cortex और parietal lobes से नियंत्रित होती है (Posner & Petersen, 1990)।

प्रमुख सिद्धांत एवं शोध :

William James (1890) : जेम्स ने अपनी पुस्तक The Principles of Psychology में लिखा कि ''एकाग्रता मन की वह अवस्था है, जिसमें ध्यान किसी एक बिंदु पर केंद्रित होता है और अन्य विचारों को बाहर रखा जाता है।''

2. स्मरण शक्ति (Memory)

परिभाषा : स्मरण शक्ति वह संज्ञानात्मक प्रक्रिया (cognitive process) है, जिससे व्यक्ति सूचना को ग्रहण (encoding), संग्रह (storage), और पुनः प्राप्त (retrieval) करता है।

मॉडल और सिद्धांत :

Atkinson & Shiffrin (1968) - Multi-store Model of Memory:

संवेदी स्मृति (Sensory Memory)

लघु अवधि स्मृति (Short-Term Memory)

दीर्घ अवधि स्मृति (Long-Term Memory)

Baddeley & Hitch (1974) – Working Memory Model:

कार्यशील स्मृति (working memory) को central executive, phonological loop, visuo-spatial sketchpad, और episodic buffer में विभाजित किया गया।

2. एकाग्रता और स्मरण शक्ति के बीच संबंध

• उच्च एकाग्रता बेहतर स्मरण शक्ति को बढ़ाती है।

• जब कोई व्यक्ति पूरी तरह एकाग्र होता है, तो सूचना का encoding बेहतर तरीके से होता है, जिससे वह लंबे समय तक याद रहती है।

• Craik & Lockhart (1972) - Levels of Processing Theory: गहरी सूचना प्रसंस्करण (deep processing) बेहतर स्मरण शक्ति में सहायक होती है।

साहित्य की समीक्षा : यह शोध पत्र युवाओं में योग के ध्यान, स्मृति और एकाग्रता पर प्रभाव को उजागर करता है। अध्ययन में यह पाया गया कि नियमित योग अभ्यास - जिसमें आसन, प्राणायाम और ध्यान शामिल हैं - युवाओं की मानसिक क्षमताओं को बढ़ाने में सहायक होता है। विशेष रूप से, चार सप्ताह तक दैनिक योग अभ्यास करने वाले प्रतिभागियों में एकाग्रता, स्मृति और ध्यान में उल्लेखनीय सुधार देखा गया। यह सुधार तनाव में कमी, बेहतर रक्त संचार और मस्तिष्क की ऑक्सीजन आपूर्ति से जुड़ा हुआ है। इसके अलावा, योग अभ्यास के माध्यम से मानसिक स्पष्टता, भावनात्मक स्थिरता और ध्यान नियंत्रण में भी सुधार होता है। कुल मिलाकर, यह अध्ययन इस बात को सुदृढ़ करता है कि योग एक प्रभावशाली साधन है जो युवाओं की संज्ञानात्मक क्षमताओं को बेहतर बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

1. यह शोध पत्र छात्रों में शॉर्ट-टर्म मेमोरी (अल्पकालिक स्मृति) और चयनात्मक ध्यान (सेलेक्टिव अटेंशन) पर सुपरब्रेन योग के लाभकारी प्रभावों का मूल्यांकन करता है। अध्ययन कर्नाटक के मैसूर जिले के एक आवासीय विद्यालय के 91 छात्रों (औसत आयु 11.9 वर्ष) पर किया गया। शोध में शॉर्ट-टर्म मेमोरी का मूल्यांकन नॉक्स क्यूब टेस्ट द्वारा और चयनात्मक ध्यान का मूल्यांकन डिजिट कैंसलेशन टेस्ट द्वारा किया गया। एक महीने तक नियमित रूप से सुपरब्रेन योग का अभ्यास करने के बाद, छात्रों की स्मृति और ध्यान क्षमता में महत्वपूर्ण सुधार देखा गया। अल्पकालिक स्मृति में औसतन 1.18 अंक की वृद्धि और चयनात्मक ध्यान में 3.31 अंक की वृद्धि दर्ज की गई। साथ ही, मस्तिष्क के बाएं गोलार्द्ध में 34.27% और दाएं गोलार्द्ध में 28.71% प्राण ऊर्जा (pranic energy) में वृद्धि पाई गई। यह अध्ययन इस बात का प्रमाण देता है कि सुपरब्रेन योग एक सरल, प्रभावी और कम लागत वाला उपाय है, जो छात्रों की मानसिक क्षमताओं को बेहतर बनाने में सहायक हो सकता है।

2. यह अर्ध-प्रायोगिक अध्ययन साइप्रस के नियर ईस्ट यूनिवर्सिटी में फरवरी से जून 2023 के बीच 59 नर्सिंग छात्रों पर किया गया। 29 छात्रों के हस्तक्षेप समूह ने दो महीने तक सप्ताह में तीन बार सुपर ब्रेन योग का अभ्यास किया, जबकि 30 छात्रों के नियंत्रण समूह ने अपनी सामान्य दिनचर्या जारी रखी। अध्ययन में पाया गया कि सुपर ब्रेन योग अभ्यास के बाद हस्तक्षेप समूह के छात्रों की कुल स्मृति स्कोर और इसके उप-घटक जैसे व्यक्तिगत और सार्वजनिक जानकारी, अभिविन्यास, मानसिक नियंत्रण, तार्किक स्मृति, संख्याओं की पुनरावृत्ति, दृश्य

स्मृति और सीखने के संघों में महत्वपूर्ण सुधार हुआ। इसके अलावा, प्रतिक्रिया समय और रिवर्स काउंटिंग में त्रुटियों की संख्या में भी उल्लेखनीय कमी देखी गई। हालांकि, सेमेस्टर ग्रेड प्वाइंट औसत में दोनों समूहों के बीच कोई सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण अंतर नहीं पाया गया। इससे संकेत मिलता है कि सुपर ब्रेन योग एक गैर-आक्रामक हस्तक्षेप है जो नर्सिंग छात्रों की स्मृति, एकाग्रता और संज्ञानात्मक क्षमताओं में सुधार कर सकता है।

3. केलंबक्कम, कांचीपुरम जिले के एक निजी विद्यालय में किए गए एक अध्ययन में सुपरब्रेन योग (Super brain Yoga) के अभ्यास का बच्चों की एकाग्रता और स्मृति पर प्रभाव का मूल्यांकन किया गया। इस अध्ययन में 10 से 12 वर्ष की आयु के 120 छात्रों को शामिल किया गया, जिन्होंने एक महीने तक प्रतिदिन 10 मिनट के लिए सुपरब्रेन योग का अभ्यास किया। शोधकर्ताओं ने छात्रों की एकाग्रता और स्मृति के स्तर को मापने के लिए डिजिट कैंसलेशन टेस्ट और नॉक्स क्यूब टेस्ट का उपयोग किया।

अध्ययन के परिणामों से पता चला कि चार सप्ताह के अभ्यास के बाद छात्रों की एकाग्रता और स्मृति में कोई सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ। पहले और दूसरे सप्ताह के बाद किए गए पोस्ट-टेस्ट में प्राप्त औसत स्कोर में मामूली अंतर देखा गया, लेकिन ये अंतर सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण नहीं थे। इससे संकेत मिलता है कि चार सप्ताह की अवधि में सुपरब्रेन योग का अभ्यास बच्चों की एकाग्रता और स्मृति में उल्लेखनीय सुधार नहीं लाता। अतः अध्ययन निष्कर्ष निकालता है कि बच्चों की एकाग्रता और स्मृति में सकारात्मक प्रभाव लाने के लिए सुपरब्रेन योग का अभ्यास अधिक लंबे समय तक किया जाना चाहिए। भविष्य में, विस्तारित अवधि के अभ्यास के साथ और अधिक व्यापक शोध की सिफारिश की जाती है ताकि सुपरब्रेन योग के प्रभावों का बेहतर मूल्यांकन किया जा सके।

मुख्य परिकल्पना (Main Hypothesis):

H_0 (Null Hypothesis):

योगाभ्यास का एकाग्रता और स्मरण शक्ति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

H_1 (Alternative Hypothesis):

नियमित योगाभ्यास एकाग्रता और स्मरण शक्ति में महत्वपूर्ण रूप से वृद्धि करता है।

अनुसंधान पद्धति (Research Methodology)

1. अनुसंधान की प्रकृति (Nature of the Study):

• यह अध्ययन एक प्रायोगिक एवं तुलनात्मक स्वरूप का है, जिसका उद्देश्य योगाभ्यास का एकाग्रता और स्मरण शक्ति पर प्रभाव विश्लेषित करना है।

2. उद्देश्य (Objective):

• यह ज्ञात करना कि नियमित योगाभ्यास करने से एकाग्रता में किस प्रकार का परिवर्तन होता है।

• यह विश्लेषण करना कि योगाभ्यास स्मरण शक्ति को किस सीमा तक संवर्धित करता है।

• योगाभ्यास और मानसिक स्वास्थ्य के बीच के संबंध का अध्ययन करना।

3. नमूना चयन (Sample Selection):

• नमूना आकार : कुल 60 प्रतिभागी।

विभाजन :

• प्रायोगिक समूह (Experimental Group) - 30 प्रतिभागी (योगाभ्यास करने वाले)।

• नियंत्रण समूह (Control Group) - 30 प्रतिभागी (योगाभ्यास न करने वाले)।

• चयन विधि : यादृच्छिक नमूना चयन विधि (Random Sampling)।

4. आयु सीमा (Age Group):

• 18 से 30 वर्ष के बीच के विद्यार्थी/युवा।

5. उपकरण (Tools & Instruments):

• एकाग्रता मापन हेतु - Digit Span Test è Concentration Grid Test।

• स्मरण शक्ति मापन हेतु - Weschler Memory Scale (Simplified Version)।

6. आंकड़ों का विश्लेषण (Statistical Analysis):

• प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण Mean, Standard Deviation, t-test आदि सांख्यिकीय विधियों द्वारा किया गया।

• योग करने वाले और योग न करने वाले छात्रों की प्रश्नावली द्वारा उसका अध्ययन किया गया।

7. सीमाएँ (Limitations):

• अध्ययन में केवल सीमित आयु वर्ग के प्रतिभागियों को सम्मिलित किया गया।

- अध्ययन क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहा।
- अनियमित योगाभ्यास या मानसिक तनाव के प्रभावों को पूरी तरह नियंत्रित करना संभव नहीं था।

निष्कर्ष : इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि योगाभ्यास का एकाग्रता और स्मरण शक्ति पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि योग अभ्यासी प्रतिभागियों के स्मृति और एकाग्रता के औसत स्कोर गैर योगाभ्यासियों की तुलना में अधिक थे। यद्यपि सांख्यिकीय दृष्टिकोण से प्राप्त ज और च मान अत्यधिक निर्णायक नहीं थे, फिर भी योगाभ्यासियों में एक सकारात्मक प्रवृत्ति देखी गई।

योग के नियमित अभ्यास से मन की स्थिरता, मानसिक सजगता, तथा तंत्रिका प्रणाली की सक्रियता में वृद्धि होती है, जो एकाग्रता और स्मृति जैसे मानसिक पक्षों को सुदृढ़ करती है। यह अध्ययन इस दिशा में संकेत करता है कि यदि योग को शिक्षा प्रणाली और जीवनशैली में नियमित रूप से सम्मिलित किया जाए, तो यह मानसिक क्षमताओं के विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है।

अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि योगाभ्यास एक प्रभावी माध्यम है जो व्यक्ति की एकाग्रता और स्मरण शक्ति को संवर्धित करने में सहायक भूमिका निभा सकता है।

योग अभ्यासी

समूह	प्रति. की संख्या	स्मृति औसत	स्मृति SD	एकाग्रता औसत	एकाग्रता SD
योग अभ्यासी	30	0.51	0.78	2.73	0.81

गैर योग अभ्यासी

समूह	प्रति. की संख्या	स्मृति औसत	स्मृति SD	एकाग्रता औसत	एकाग्रता SD
गैर योग-अभ्यासी	30	0.30	0.61	2.48	1.05

*प्रति. = प्रतिभागी

शोध छात्रा, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्ट्डीज एण्ड रिसर्च,
एमिटी यूनिवर्सिटी उत्तर प्रदेश, नोएडा

संदर्भ ग्रंथ-सूची

- Sharma, R., & Sharma, A. (2022). Effect of yoga on concentration and memory, attention among young adults. International Journal of AYUSH.
- Vadiraj, H. S., & Somashekarappa, H. M. (2021). Beneficial effects of superbrain yoga on short-term memory and selective attention of students. ResearchGate.
- Aydin, S., &Gokce, A. (2023). The effect of Super Brain Yoga on concentration, memory, and academic progress in nursing students: A quasi-experimental study. Northern Clinics of Istanbul, 10(3), 280–288. https://doi.org/10.14744/nci.2023.42038
- Priya, R., & John, S. (2021). Effect of superbrain yoga on concentration and memory in children in a selected private school, Kelambakkam, Kanchipuram. Journal of Pharmaceutical Research International, 33(60B), 1648–1653.
- Jaice, P. P., Khaleel Ahmed Manik, P. R. Shyla. Joia P. P., and Sudhir. "Role of Yoga in Attention, Concentration and Memory of Medical Students" [Journal Name if available], 2018.
- Jois, Srikanth N. The Effectiveness of Superbrain Yoga on Concentration, Memory and Confidence in School Students. 2018.
- Tafti, Yuzi Arafah Dahghani, AliakharrVauzi, Shikhar Inzalazi Poda, and Riza Bidaki. "Effect of Yoga on Memory in Elderly Women" 2020.

- The Effect of Web-Based Aerobic Exercise on Working Memory in Elderly Women: The Importance of Being Active in the COVID-19 Pandemic Period. [Author(s) not listed], [Year not listed].
- The Effects of Regular Pilates Exercise on Long-Term and Short-Term Memory of the Elderly. [Author(s) not listed], [Year not listed].
- Kauts, Amity, and RahtiomSharstrass. "Effect of Yoga on Concentration and Memory in Relation to Stress." [Journal Name], 2012.
- Farahani, Pouran Varvani, Candan Ozturk, and Abimbola Caraw. "The Effect of Super Brain Yoga on Concentration, Memory and Academic Progress in Nursing Students: A iQuasi-Experimental Study" 2024.
- Pandey, Sandy Kumar, and Abhishek Pratap Singh. A Study of Superbrain Yoga on Memory Enhancement and Health of Adolescents. 2019.
- Jois, Srikanth N., Lancy D'Souza, and R. N. Moulya. "Beneficial Effects of Superbrain Yoga on Short-Term Memory and Selective Attention of Students" 2017.
- Tiwari, Ram Kalap, "Benefits of Yoga Practices in High School Students' Memory and Concentration in Relation to Examination Stress" 2015.

डॉ. पूनम सिंह

सत्यजित रे और साहित्यिक सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र

सत्यजित रे भारतीय सिनेमा को वैश्विक पहचान दिलाने वाले एक ऐसे इतिहास पुरुष हैं, जिनकी करिश्माई फिल्मांकन दृष्टि ने अपने समय के सच को वैश्विक सच में तब्दील कर दिया। एक ऐसी मानवीय तरलता जिसने सिनेमा विधा को मनोरंजन के धरातल से उठाकर मनुष्यता के साक्षात्कार कराने का माध्यम बनाया। वे भारतीय सिनेमा में यथार्थवाद, नया सिनेमा यूं कहें तो समानान्तर सिनेमा के प्रणेता थे। 2 मई 1921 में प्रतिष्ठित बांग्ला लेखक परिवार में जन्मे सत्यजित रे को साहित्य, कला और संगीत की गहरी समझ विरासत में मिली।

लंदन की 'डीजे कीमर' विज्ञापन एजेंसी जहां सत्यजित रे बतौर विजुअलाइज़र आर्टिस्ट कार्य कर रहे थे; उनके लिए पाश्चात्य फिल्मों को समझने की पाठशाला साबित हुई। वे लंदन में विटोरियो डी सिका की इतालवी नवयथार्थवादी फिल्म 'बाइसिकल थीव्स' देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए। फ्रांसीसी फिल्मकार जीन रेनॉयर की फिल्म 'द रिवर' (1951) की शूटिंग के दौरान हुई मुलाकातों ने उन्हें पक्के तौर पर स्वतंत्र फिल्म निर्माण की दिशा में आने के लिए प्रेरित किया।

उनका फिल्मी सफर 1955 में विभूति भूषण बन्द्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'पाथेर पांचाली' से शुरू होकर अंतिम फिल्म 'आगन्तुक' (1992) तक कुल 37 फिल्मों का रहा। उन्हें विश्व सिनेमा के क्षेत्र में आइकॉनिक फिल्मकार के रूप में पहचान उनकी 'अपु त्रयी' के नाम से मशहूर शुरुआती तीन फिल्में 'पाथेर पांचाली', 'अपराजितो', 'अपूर संसार' से मिली। फिल्म निर्माण के क्षेत्र में कोई पुख्ता अनुभव ना होने के बावजूद उनकी पहली फिल्म को 11 अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा गया। 'पाथेर पांचाली' अपनी यथार्थवादी दृष्टि के कारण प्रशंसित हुई। इस फिल्म को कान्स फिल्म महोत्सव में ''मानवता का उत्कृष्टतम दस्तावेज'' के रूप में पहचान और प्रतिष्ठा मिली। चार्ली चैप्लिन के बाद सिनेमा से जुड़े वे अकेले ऐसे शख्स थे; जिन्हें ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने डॉक्टरेट की मानद् उपाधि से सम्मानित किया। सत्यजित रे को भारत, कान्स, वेनिस, बर्लिन तथा अन्य विश्व फिल्म महोत्सव के अलावा 32 राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार व सम्मान मिले। सत्यजित रे को सिनेमा के असाधारण प्रतिभा और मानवतावाद के प्रति उनकी गहरी प्रतिबद्धता के लिए अकादमी के मानद् सम्मान, 'पद्म विभूषण', 'भारत रत्न', 'दादा साहब फाल्के सम्मान' से नवाजा गया। फिल्म मानद् आस्कर अवार्ड पाने वाले वे पहले भारतीय फिल्मकार हैं।

सत्यजित रे की फिल्मोग्राफी पर बंगाल के नवजागरण और शांति निकेतन की शिक्षा, रवीन्द्रनाथ टैगोर की साहित्यिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक दृष्टि तथा विनोद बिहारी मुखर्जी की कला दृष्टि का गहरा प्रभाव पड़ा। रे साहित्य की तरह फिल्मों को भी गंभीर चिंतन-मनन और गंभीर विमर्श के दायरे में लाना चाहते थे। उन्होंने इसी उद्देश्य से अपने मित्रों के साथ मिलकर 'कलकत्ता फिल्म सोसाइटी' (1947) की स्थापना की। ताकि पाश्चात्य और भारतीय फिल्मों के विविध पक्षों, सिद्धान्तों, सिनेमा तकनीक पर भी वाद-संवाद कायम हो सके। सत्यजित रे फिल्म निर्देशन में आने से पहले अख़बारों में लगातार फिल्मों पर आलोचनात्मक लेख लिख रहे थे। निश्चित रूप से फिल्म उनकी कला साधना की प्रयोगात्मक यात्रा रही। उनके इस जुनून को एक दिलचस्प वाकये से समझा जा सकता है -जैसे

ही किसी बांग्ला की साहित्यिक कृति पर सिनेमा बनना तय होता। वैसे ही सत्यजित रे उस कृति पर पटकथा लेखन करने लगते तथा फिल्म प्रदर्शित होने के बाद अपनी पटकथा लेखन से उसकी तुलना करते। पटकथा लेखन के इस पूर्वाभ्यास ने सत्यजित रे को सिनेमा के अंतरंग पक्षों को बहुत बारीकी से समझने की अंतर्दृष्टि दी। इस प्रयोगात्मक दौर में सत्यजित रे सिनेमा तकनीक के सभी पक्षों, बहुस्तरीय कौशलों पर लगातार दक्षता हासिल कर रहे थे। ताकि सही मायने में विश्व स्तरीय फिल्म बनाई जा सके।

सत्यजित रे की दृष्टि में फिल्में गहरे अर्थों में सम्पूर्ण जीवन से जुड़ी एक सामूहिक कला है। उनकी अन्वेषी बुद्धि सिनेमा के उन कारकों की निरन्तर तलाश करता रहा। जो साहित्य की तरह सिनेमा को भी लोक-सर्जक, लोक कल्याणकारी भूमिका में ला सके। सत्यजित रे सिनेमा अध्ययन के लिए न तो किसी संस्था से पढ़ाई नहीं की और न ही कहीं से प्रशिक्षण लिया। उन्होंने अपने स्वाध्याय से सिनेमा जैसे जटिल विधा को साधा और अपने समकालीनों से अलग खुद की फिल्मों के लिए नये सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र भी गढ़े।

भारतीय सिनेमा के क्षेत्र में उनका योगदान कई मायने में उन्हें ख़ास बनाता है। सत्यजित रे ये मानते थे कि समाज के लिए साहित्य और सिनेमा दोनों ही परिवर्तनकारी भूमिका निर्वाह कर सकते हैं। फिल्में अपने देश और समाज के लिए सकारात्मक भूमिका तभी निभा सकेंगी। जब वे साहित्य की मानवीय संकल्पना और संस्कार को साथ लेकर चलेंगी। यही कारण रहा सत्यजित रे का साहित्य के फिल्मान्तरण में ख़ास आकर्षण था। कवि कुँवर नारायण ने सत्यजित रे पर लिखे अपने एक संस्मरण में लिखा है- ''उनका (रे) सिनेमा साहित्य के साथ अंतरंग विनिमय का अनोखा दस्तावेज हैं।''[1] सत्यजित रे के साहित्यिक सिनेमा की फिल्मांतरण की प्रक्रिया को और उसकी सफलतम अभिव्यक्ति को उन्हीं के हवाले से समझा जा सकता है- ''...एक फिल्म निर्माता के रूप में मेरा कार्य..एक कहानी को जैविक सामंजस्य के साथ निवेश करने के तरीकों को खोजना और एक निश्चित परिवेश और घटनाओं के साथ एक निश्चित सेट में मानव व्यवहार और रिश्तों के विस्तृत और सच्चे अवलोकन के साथ इसे भरना, रूढ़िवादिता और स्टॉक स्थितियों से बचना और मानवीय और तकनीकी संसाधनों के विवेक पूर्ण उपयोग द्वारा दृश्य, श्रवण और भावनात्मक रूप से रुचि बनाए रखना है..।'' (नया सिनेमा और मैं, सिनेमा विजन्स, जुलाई 1980)[2] उनके फिल्मांतरण में कथा और पटकथा की इसी जैविक अनन्यता ने साहित्य और सिनेमा को रचनात्मक अर्थों में सबसे निकटस्थ लाकर खड़ा किया। साहित्य और सिनेमा अपने आप में स्वायत्त माध्यम हैं। यही नहीं; बतौर क्लासिक रचना अपने आप में सम्पूर्ण। साहित्य का फिल्म के रूप में कायान्तरण एक दूसरे के स्वायत्त को चुनौती देना है। लेकिन यह सत्यजित रे की जादुई प्रतिभा का असर है जहां दो भिन्न माध्यम एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

सत्यजित रे लेखक होने के नाते जहां कथा साहित्य के कालजयी प्रभावान्विति को जानते थे। वहीं फिल्मकार की दृष्टि से वे एक ऐसी नई सिनेमैटिक भाषा भी गढ़ने की आवश्यकता भी महसूस कर रहे थे। जो साहित्य को संवेदना के स्तर पर दृश्यों, परिदृश्यों, अंतर्दृश्यों के रूप में हूबहू उकेर सके। सत्यजित रे अपनी सिनेमा भाषा और उसके सौन्दर्यशास्त्र को इसी रूप में निर्मित किया है जिसमें ''फिल्म एक छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गति है, फिल्म नाटक है, फिल्म कहानी है, फिल्म संगीत है, फिल्म में मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन बातों का साक्ष्य दिखा सकता है।''[3]

सत्यजित रे के सामने साहित्य की अंतस् भूमि पर बनी देशी-विदेशी कामयाब फिल्मों के पर्याप्त उदाहरण थे और विश्व सिनेमा के दिग्गज फिल्मकार कुरोसावा और तारकोव्स्की के सफलतम निर्देशन भी। विश्व सिनेमा के मर्मज्ञ कुंवर नारायण लिखते हैं कि ''तारकोव्स्की का फिल्मकार लगभग एक कवि है : कुरोसावा की प्रतिभा लगभग उन्हीं अर्थों में नाटकीय हैं जिन अर्थों में शेक्सपियर नाटकीय होते हुए भी अत्यंत काव्यात्मक भी है। सत्यजित रे का फिल्मकार उन्हीं अर्थों में औपन्यासिक है।''[4] सत्यजित रे की मूल संवेदनाएं साहित्यिक थी। जिन्हें वह बड़ी कुशलता से फिल्मों लाए। ''सत्यजित राय का सशक्ततम पक्ष औपन्यासिक है और चरित्रों पर अचूक पकड़ उनकी फिल्मों को वह विशेष आलोक देती है जिसे हम बड़े उपन्यासकारों में पाते हैं-दृश्याकंन, विवरण और चरित्र-चित्रण उनकी फिल्मों के विशेष गुण हैं जो एक उपन्यास की संरचना में प्राथमिक महत्व रखते हैं।''[5] वे साहित्य की तरह फिल्मी चरित्रों के बाहरी और भीतरी दुनिया के जटिल अंतर्संबंधों और अंतर्विरोधों को भी बहुत बारीकी से टटोलते और चित्रित करते हैं। उनके पात्रों का यही चारित्रिक सौन्दर्य बोध उन्हें रील से रियल बनाता है। उनकी फिल्में ग्लेमर के समीकरण से परे अंत:बाह्य दोनों स्तरों पर वास्तविक

लोगों की वास्तविक कहानी है। यही उत्प्रेरक उनके चरित्रों की स्थानीयता और विश्वसनीयता को प्रामाणिक रूप से सार्वभौमिक बनाता है।

सत्यजित रे अपनी विशिष्ट औपन्यासिक सेन्स के कारण समकालीन बांग्ला कथाकारों की कृतियों पर क्लासिक फिल्में बनाई। सत्यजित रे रवीन्द्रनाथ टैगौर की साहित्यिक, सांस्कृतिक और वैश्विक दार्शनिक दृष्टि से बहुत गहरे प्रभावित थे। इन दोनों सांस्कृतिक नायकों के साहित्य और कला में हम बीसवीं सदी के बंगाल संस्कृति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाते हैं। सत्यजित रे महज सात वर्ष की उम्र में गुरुदेव से मिली स्थानीयता से वैश्विकता को देखने की सीख को आजीवन याद रखते हैं। उनका लेखक मन रवीन्द्रनाथ टैगौर के साहित्यिक गरिमा का आकांक्षी रहा है। सत्यजित रे गुरूदेव के प्रति अपने प्रदेय को रवीन्द्रनाथ टैगोर जन्म शताब्दी पर बनाये वृत्तचित्र में अभिव्यक्त किया है। यह वृत्तचित्र टैगोर के जीवन पर अब तक बनाये गये सबसे बेहतरीन वृत्तचित्रों में से एक है। टैगोर के विजुअल्स न होने से वृत्तचित्र आसान नहीं था। टैगोर के महनीय व्यक्तित्व और जीवन दर्शन को सत्यजित रे ने अपनी कलाधर्मिता से पहले चित्रों में साकार किया। फिर उसे अपने दमदार पटकथा, नैरेटिव और सशक्त संवादों से निर्मित किया। रे ने टैगोर के दो उपन्यासों 'नष्ट नीड़' पर चारूलता, 'घर बाइरे' और तीन कहानियों (पोस्ट मास्टर, मोनिहारा, सम्पत्ति) पर 'तीन कन्या' जैसी बेहतरीन फिल्में बनाईं। उनकी 'चारूलता' फिल्म पुरुषोचित 'कंडीशनिंग' के विरुद्ध मौन विद्रोह है। यह फिल्म पारम्परिक बंगाली परिवेश में विवाह संस्था को ही प्रश्नचिन्हित करती है। सत्यजित रे प्रेमचंद की तरह स्त्री स्वतंत्रता और समानता के पक्षधर हैं। उनकी नायिका प्रधान फिल्में विवाह संस्था में सकारात्मक बदलाव की अपील करती है। क्योंकि भारतीय समाज में ''विवाह संस्था का सर्वाधिक दूषित पक्ष शक्ति (अ) संतुलन है। यह पूरी तरह पुरुषों के स्वार्थ को ध्यान में रखकर बनाई गई संस्था है।''[6] उनका मानना है जब विवाह जैसी संस्था स्त्री-पुरुष दोनों से मिलकर बनती है तो उसमें पुरुष को विशेषाधिकार क्यों दिए जाएं?

सत्यजित रे ने विभूति भूषण बंद्योपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगौर के अलावा सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यासों पर 'सीमाबद्ध' और 'अरण्येर दिन रात्रि' तो प्रेमेन्द्र मित्र की कहानी पर 'कापुरूष', ताराशंकर बंद्योपाध्याय की रचना पर 'जलसाघर' जैसी सफलतम यादगार फिल्में बनाईं। सत्यजित रे की आरम्भिक दौर की फिल्मों में समूची बंगाल संस्कृति (ग्रामीण और शहरी दोनों), हाशिए के लोगों के सुख-दुख और चिन्ताएं प्रधान रूप से आई हैं। उनकी फिल्मों के ज्यादातर नायक अति साधारण व्यक्ति हैं। उन नायकों का असाधारणपन यह है कि वे अपनी तमाम विषम परिस्थितियों में अदम्य मानवीय जिजीविषा के साथ उदार जीवन मूल्यों को बचा लेने की हिमाकत करते हैं।

सत्यजित रे के फिल्मों का सौन्दर्यशास्त्र मानवीय जीवन और उसके अस्मिता बोध से संरचित है। फिल्मों के लिए अनावश्यक समझे जाने वाले विषय उनकी फिल्मों के केन्द्रीय विषय हैं। रे की फिल्मों में गरीबी, असमानता, महिलाओं की दयनीय स्थिति, शहरीकरण के कारण तेजी से बदलते आधुनिक जीवन मूल्य भरपूर मौजूद हैं। वे 'अपूर संसार' में शहरों में जीवन यापन कर रहे गरीब वर्ग की दुरावस्था का चित्रण करते हैं। बीसवीं सदी की कोई भी महत्वपूर्ण घटना हो, सत्यजित रे की फिल्मों में वे सब समाहित हैं। 1943 के भयावह बंगाल अकाल पर उन्होंने 'अशनीशंकेत (1958) नामक फिल्म' बनाई। इस फिल्म में वे शहरी अकाल के दौरान मानवीय सम्बंधों पर आये बदलावों को फिल्मांकित किया है। इस फिल्म में भूख से उपजे सरवाइवल के संकट लोकल से ग्लोबल हो जाते हैं। सत्यजित रे देवी (1960), 'तीन कन्या' (1961), 'महानगर' (1963), 'चारूलता' (1964), 'घर-बाइरे' (1984), 'कापुरूष' और 'महानगर' जैसी फिल्मों में स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों को बड़ी ही संवेदनशीलता से विमर्श के दायरे में लाते हैं। 'महानगर' फिल्म में मानवीय जीवन पर शहरीकरण के प्रभावों और शहरी जीवन की चुनौतियों को दिखाया गया है। इसके अलावा 'महानगर' फिल्म स्त्री मुक्ति की भी कथा है। फिल्म 'आगन्तुक' में सत्यजित राय बदलते आधुनिक मानवीय संबंधों की मर्मस्पर्शी कहानी कहते हैं।

सत्यजित रे की फिल्मों में गहरे सामाजिक सरोकार हैं। वे अपनी फिल्मों में एक सामाजिक विश्लेषक की तरह मनुष्य विरोधी कारकों का विश्लेषण करते हैं। यही कारण है कि रे की बाद की फिल्मों में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक मुद्दे केन्द्र में रहीं। बेरोजगारी, गरीबी, नक्सल, इमरजेंसी जैसे संवेदनशील विषयों पर सत्यजित राय ने 'प्रतिद्वन्द्वी', 'जन अरण्य', 'सीमाबद्ध', 'गणशत्रु' जैसी फिल्में बनाईं। वहीं वे 'देवी', 'महापुरुष' और प्रेमचंद की कहानी पर बनी हिन्दी

टेली फिल्म 'सद्गति' के माध्यम से अंधविश्वास, धार्मिक कुरीतियों और जातिगत भेदभाव और असमान विकास के दंश को बहुत मार्मिकता से उभारते हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'एक टाइम पीरियड फिल्म' है। जिसकी पृष्ठभूमि सन् 1856 है जिसका कथ्य 1857 की क्रांति से ठीक पहले क्रांति के लिए आंतरिक हलचल से भरे हुए अवध संयुक्त प्रांत की है। जिसमें इन हलचलों से बेख़बर विलासिता में डूबे हुए शतरंज के खेल में मशगूल दो नवाब। आयरनी यह है कि वे शतरंज के लिए सत्ता से हाथ धो बैठते हैं। सत्यजित रे राजनीतिक विडम्बना को दृश्यों के स्तर पर बाखूबी उभारते हैं। हिन्दी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' फिल्म में नवाबी जमानों की लकदक है, इसके बावजूद उसमें व्याप्त उस गहरी मानवीय त्रासदी को पढ़ा सकता है। जिसे सत्यजित रे केवल राजनीतिक-सामाजिक ढांचे में ही नहीं ढालते, मनुष्य की चारित्रिक खूबियों और ख़ामियों में भी चित्रित करते हैं।''[7]

सत्यजित रे की फिल्में टाइम मशीन की तरह हैं। इनकी फिल्मों में समय विस्तृत कैनवास की तरह है, जिसमें वे समकालीनता, तात्कालिकता, आधुनिकता के बीच इतिहास की आवाजाही को रेतघड़ी की तरह इस्तेमाल करते हैं। उनमें एक गहरा इतिहासबोध है। 'घर-बाइरे' फिल्म में लॉर्ड कर्जन द्वारा किये गये बंगाल विभाजन से हिन्दू-मुस्लिम एकता के बीच पड़ी दरार और स्वदेशी आन्दोलन की वास्तविकता की अनुगूंज सुनाई देती है। इस फिल्म में रवीन्द्रनाथ टैगोर और गांधी के बीच स्वदेशी आन्दोलन को लेकर हुए मतभेद के यथार्थ को भी दिखाया गया है।

सत्यजित रे की फिल्मों में मानवीय जीवन एक विराट सामाजिक-सांस्कृतिक गाथा है। उनके यहां समय का अछोर फैलाव दिखाई देता है। सत्यजित रे सामाजिक परिवर्तन के तीनों कालखंडों को आत्मसात करते हैं-कृषि संस्कृति से सामंती, औपनिवेशिक, औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण के प्रभाव से पूंजीवादी समाज में बदलता बंगाल। विविध काल-खंडों के वैविध्य विषयों ने उनकी फिल्मों को सर्वथा नई संवेदनाओं और नये सौन्दर्य बोध से दीप्त किया है। उनकी प्रासंगिकता कभी धूमिल नहीं होती। सत्यजित रे की बाद की फिल्में सामयिकता पर ज्यादा केन्द्रित होती गईं। जिनमें पारंपरिक कथ्य से ज्यादा मनोविज्ञान पर बल दिया गया। किरदारों की नजर से देखें तो रे की फिल्में समाज के जागरूक समूह में आए बदलावों और उनके निर्माण के समय को दर्शाती हैं, साथ ही सत्यजित रे के कल्पित भारत के इस बदलाव का एक ऐतिहासिक रिकॉर्ड भी पेश करती हैं। यही खूबी उनकी फिल्मों को कालजयी बनाता है।

प्रधानमंत्री पंडित ''जवाहरलाल नेहरू ने संचार माध्यम के रूप में न केवल फिल्मों के महत्व को समझा, बल्कि फिल्मकारों और अभिनेताओं से जुड़कर उन्हें राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में भागीदार बनाने की हर संभव कोशिश की।''[8] नेहरू जी सत्यजित रे की फिल्मों के ख़ासे प्रशंसक थे। सत्यजित रे भी अपनी फिल्मों और वृत्तचित्रों में नेहरू की आकांक्षाओं के अनुरूप उदित होते नये भारत की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य और सिनेमा या दूसरे कला-माध्यमों के बीच जो सबसे मुखर अंत:संबंध है, वह है आख्यान (नैरेटिव) का। आख्यान ही कथा और पटकथा को नियंत्रित करता है और सिनेमा की भाषा में निर्देशन और छायांकन को भी।[9] उनका लेखक, कथाकार, बाल साहित्यकार अंतर्मन नैरेटिव को संवेदनाओं की गहराइयों में उतारना जानता है तो वहीं चित्रकार मन रंगों, बिम्बों, रेखांकनों, छवियों-प्रतिछवियों के गहरे आशय और निहितार्थ में उकेरना करना भी। सत्यजित रे की सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र उनके नवोन्वेषी विजन, निर्देशन, अभिनय (वाचिक/आंगिक/सात्विक), ध्वनि डिजाइन, संगीत, सिनेमैटोग्राफी, शॉट्स, सेट्स, प्रकाश संयोजन, संपादन जैसे सिनेमाई घटकों द्वारा निर्मित है। उनकी सिनेमाई प्रतिभा दृश्यों, परिदृश्यों, अंतर्दृश्यों को कैमरा की भाषा में जिस खूबसूरती से रूपान्तरित करता है उसमें न कथ्य छूटता है और न ही भावों, संवेदनाओं से आपूरित जीवन के सूक्ष्मतम क्षण। सेल्युलाइड पर उभरते सफलतम कलात्मक अभिव्यक्ति उनके दृश्यांकन को अमर करते हैं।

सत्यजित रे का सबसे बड़ा योगदान ये है कि वे भारतीय सिनेमा को सस्ते मनोरंजन, अति व्यावसायिकता, अति नाटकीयता के गिरफ्त से निकालकर उसे यथार्थ की जमीन पर केन्द्रित करते हैं। पहली बार फिल्म माध्यम जैसी विधा अपने दृश्यों में जीवन के आमजन को अंतरंग, सहचर और सहयोगी बनाता दिखाई देता है। वे ऐसे फिल्मकार थे जिसने न केवल फिल्मों का मिजाज बदला। बल्कि दर्शकों का आस्वाद भी बदला। सत्यजित रे ने साहित्य की तरह फिल्मों को भी लघुमानव के सुख-दुख, स्वप्न, जनाकांक्षाओं से जोड़ा। उनके फिल्मों का असर कहें या जादू। वे नाटक की ही तरह दर्शकों

को साधारणीकरण के उस उत्कर्ष तक ले जाते हैं, जहां दर्शक एक सर्जक और सहभोक्ता के रूप में भागीदारी करता है। उनकी फिल्में साहित्य की तरह ''मानव मुक्ति'' की जन पुकार हैं।

सत्यजित रे बेहतरीन सिने शिल्पी थे। कथा, पटकथा लिखना, म्यूजिक बनाना, ग्राफिक डिजाइन और कैमरा हैंडिल करना, लाइटिंग देखना, एडिटिंग करना, फिल्म निर्देशित करना- सिनेमा के इन विभिन्न अनुशासनों में उनकी विशेषज्ञता उनकी फिल्मों की तरह उन्हें भी विरल बनाती है। फिल्मों के अलावा उनके टाइपोग्राफ्री के काम को दुनिया भर में सराहना मिली। उन्होंने अंग्रेजी लिपि के लिए चार फॉन्ट बनाएं- रे रोमन, रे बिजारे, डैफनीस और हॉलिडे स्क्रिप्ट। उनकी फिल्मों के विजुअल इम्पैक्ट अत्यन्त प्रभावशाली हैं। उनके दृश्यांकन भाषा और राष्ट्रीयता की सीमाएं तोड़कर वैश्विक पीड़ा का अनुवाद बन जाते हैं। उनकी दृष्टि में शब्दों की सीमा हो सकती है, लेकिन दृश्यों की अभिव्यक्ति असीम है। उनकी फिल्में संवादों से ज्यादा दृश्यों में सवाक हैं। सत्यजित ने लीक से हटकर ऐसी फिल्में बनाईं जिसमें जीवन के हर पन्ने को पढ़ा जा सकता है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं सत्यजित रे ने भारतीय ही नहीं विश्व सिनेमा के लिए भारत के सबसे संवेदनशील प्रामाणिक भास्वर स्वर हैं। जीवन के सुन्दर भाष्यकार के रूप में सत्यजित रे की कलात्मक बुलन्दियों को देखते हुए सुप्रसिद्ध जापानी फिल्म निर्देशक अकीरा कुरोसावा ने कहा था-'रे का सिनेमा न देखने का मतलब है सूरज या चांद देखे बिना दुनिया में रहना।' [11]

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
शम्भु दयाल पी.जी. कॉलेज गाजियाबाद

संदर्भ ग्रंथ व पत्रिकाएं

1. कुंवर नारायण (2017) लेखक का सिनेमा : पृष्ठ सं. 177, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण
2. उद्धृत अंश : https:// satayjitray.org
3. कमला प्रसाद (2009), हिन्दी सिनेमा : बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, पृ. सं. 12, साहित्य भंडार दिल्ली
4. कुंवर नारायण (1998) : आज और आज से पहले, पृष्ठ सं. 225, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
5. वही, पृष्ठ सं. 225
6. चंदन पांडेय (2023), 'विवाह संस्था और प्रेमचंद', आलोचना, अंक 75 (अक्टूबर-दिसम्बर) पृष्ठ सं. 72
7. कुंवर नारायण (1998), आज और आज से पहले, पृष्ठ सं. 226, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
8. शुभनीत कौशिक, (2023), 'सिनेमा, राज्य और समाज आलोचना जवाहरलाल नेहरू और भारतीय सिनेमा', अंक 74 (जुलाई-सितम्बर), पृष्ठ सं. 53
9. फरीद खां, (2023), 'पठ्य और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के अंत:संबंधों की एक दिलचस्प पड़ताल', आलोचना, अंक 75 (अक्टूबर-दिसम्बर), पृष्ठ सं. 148
10. उद्धृत सभी फिल्मों का सार ग्रहण : https:// en.wikipedia.org
11. उद्धृत अंश : https:// satayjitray.org

मगध-महाजनपद और बौद्ध धर्म

अमूल कुमार नीरज

परिचय

मगध-महाजनपद प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों में सबसे शक्तिशाली और प्रभावशाली था। इसका अस्तित्व वैदिक काल से लेकर मौर्य साम्राज्य तक बना रहा। इसका भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक महत्त्व अत्यधिक था, जिसने इसे भारतीय इतिहास में एक विशेष स्थान प्रदान किया। इसी धरती पर गौतम बुद्ध ने अपने ज्ञान की प्राप्ति की और बौद्ध धर्म का उदय हुआ। मगध ने न केवल बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई बल्कि इसके राजनीतिक संरक्षण के माध्यम से इसे एक संगठित कार्य के रूप में स्थापित किया। यह अध्ययन मगध और बौद्ध धर्म के परस्पर संबंधों को गहराई से समझने का प्रयास करेगा।

मगध शब्द का उल्लेख अथर्ववेद[1] में आया है। महाजनपद शब्द दो संस्कृत शब्द से लिया गया है - 'महा' अर्थात् महान 'जनपद' अर्थात् जनजाति का पैर जमाना इसका तात्पर्य 'लोगों का क्षेत्र' से है। मगध की गाथाओं या कहानियों की प्राचीनता के संबंध में कहा जाता है कि ये उतनी पुरानी है जितना की यजुर्वेद[2]। मगध का उल्लेख अंगुत्तर निकाय में भी मिलता है। ऋग्वेद में मगध-महाजनपद कीकटों के देश के रूप में उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है -

किं ते कृणवन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुहेन तपन्ति धर्मम्।
आ ने भर प्रमगन्दस्य वेदो नैशाशखं
महावन् रन्हाया नः॥[3]

मगध महाजनपद का भौगोलिक और राजनीतिक महत्त्व

मगध वर्तमान बिहार राज्य के दक्षिण भाग और झारखण्ड के कुछ हिस्सों में विस्तृत था। इसकी सीमाएँ उत्तर में गंगा, दक्षिण में विंध्य पर्वत, पश्चिम में सोन नदी और पूर्व में चंपा नदी से घिरी थीं। इसकी प्रमुख राजधानियाँ राजगृह (राजगीर) और बाद में पाटलीपुत्र (पटना) थी। मगध की भौगोलिक स्थिति इसे एक समृद्ध और शक्तिशाली राज्य बनाने में सहायक थी।

राजनीति रूप से, मगध महाजनपद की स्थापना हर्यक वंश के राजा बिंबिसार द्वारा की गई थी। जिसने इसे एक संगठित शक्ति के रूप में उभारा। इसके बाद शिशुनाग, नंद और अंततः मौर्य वंश ने इसे विशाल साम्राज्य का रूप दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक जैसे महान शासकों ने मगध को भारतीय राजनीति के केन्द्र में स्थापित किया।

प्रमुख शासक

बिम्बिसार

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार ईसा 544 वर्ष पूर्व बिम्बिसार[4] राजा बने थे। नवयुवक बिम्बिसार का राज्याभिषेक उसके पिता द्वारा उसकी 15 वर्ष की आयु में सम्पन्न हुआ था।[5] बिम्बिसार 'श्रेणिक' की उपाधि धारण करता था। महात्मा बुद्ध के समय श्रेणिक बिम्बिसार ही मगध का राजा था।[6]

एक शासक के रूप में उनकी सफलता उनकी सैन्य विजय, कूटनीतिक गठबंधन, प्रशासनिक दक्षता और बौद्ध धर्म और जैन धर्म के समर्थन के कारण थी।

सफलता के कारण - बिम्बिसार ने सैन्य विजय और रणनीतिक विवाहों के माध्यम से मगध के क्षेत्र का विस्तार किया। उन्होंने माद्रा, कोशल और वैशाली के साथ ऐसे गठबंधन बनाए। यह रणनीति महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि इससे न केवल

सैन्य रूप शक्तिशाली इन राज्यों को संतुष्टि मिली, बल्कि मगध को पश्चिम और उत्तर की ओर विस्तार करने में भी मदद मिली। इसके साथ-साथ उन्होंने अंग (वर्तमान बिहार और बंगाल) पर कब्जा कर लिया, जिससे व्यापार मार्गों पर मगध का नियंत्रण मजबूत हो गया। महावग्ग और शोणदंड सुत्त[7] दोनों से बिम्बिसार की विजय की पुष्टि मिलती है।

बिम्बिसार कौशल और सैन्य शक्ति के संयोजन के माध्यम से, अंग और काशी के हिस्से को मगध में मिला लिया, जिससे मगध के निरंतर क्षेत्रीय विस्तार के मंच तैयार हो गया। बिम्बिसार एक कुशल नेतृत्वकर्त्ता के रूप में जाना जाता है। वे अपने अफसरों पर कड़ा नियंत्रण[8] रखा करता था, अक्सर खराब सलाह देने वाले अफसरों को तुरन्त बर्खास्त कर देता और उन लोगों को पुरस्कृत किया जिनकी सलाह का वह समर्थन करता था। उनमें वस्सकार और सुनीथ जैसे योग्य अधिकारी हैं जिन्हें 'राजभट' के रूप में जाना जाता था। इनमें कई श्रेणियाँ थीं -

1. सब्बत्थक (सामान्य मामलों की जाँच करने वाला)
2. सेना नायक महामत्त
3. वोहारिक महामत्त (न्यायाधीश वर्ग)[9]

बिम्बिसार ने परिवहन और संचार व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने पर काम किया। यह साक्ष्य ह्वेनसांग के यात्रावृत्तांत लेख से मिलता है कि बिम्बिसार ने बिम्बिसार मार्ग और बिम्बिसार सेतु का निर्माण करवाया था। इसके साथ-साथ बिम्बिसार के शाही दरबार में जीवक जैसे शाही चिकित्सक की उपस्थिति का भी संकेत मिलता है। उन्होंने अवन्ति के राजा जो पाण्डु रोग से ग्रसित थे तो उनके लिए उन्होंने वैद्यराज जीवक को भेजा था।[10] इसके अलावा जीवक महात्मा बुद्ध के भी वैद्य थे। इससे यह संकेत मिलता है कि बिम्बिसार के शासनकाल में चिकित्सा पर भी ध्यान दिया गया था।

बिम्बिसार के शासनकाल ने भारतीय इतिहास में मगध के वर्चस्व की नींव रखी। सैन्य शक्ति, कूटनीति, कुशल शासन और धार्मिक संरक्षण (बौद्ध, जैन) की उनकी नीतियों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य बनाया।

अजातशत्रु

अजातशत्रु (490-460 ई.पू.)[11] मगध महाजनपद में हर्यक वंश के शक्तिशाली शासकों में एक थे। वे बिम्बिसार के पुत्र थे और उन्होंने अपने पिता को कारागार में डालकर सत्ता प्राप्त की थी। उनका शासनकाल मगध साम्राज्य के विस्तार और राजनीतिक शक्ति के लिए जाना जाता है।

मगध साम्राज्य का विस्तार - अजातशत्रु ने न केवल कोशल को अपने अधीन किया और काशी के कुछ हिस्से को बल्कि वैशाली पर भी विजय प्राप्त की। अपने साम्राज्य को शांति बहाल बनाए रखने के लिए शादी गठबंधन जैसी संधि भी देखने को मिलती है। जैसे प्रसेनजीत ने अपनी बेटी वजिरा का विवाह अजातशत्रु से करके सुलह करने की कोशिश की। इस प्रकार की संधि पहले भी कोशल और मगध के बीच हुई थी जबकि प्रसेनजीत के पिता ने अपनी पुत्री कोशल देवी का विवाह मगध राजा बिम्बिसार के साथ किया था। तत्पश्चात् यह दृष्टिगोचर होता है कि पितृहंता अजातशत्रु के गलत व्यवहार से कोशल का राजा प्रसेनजीत बहुत उद्वल्लित था। इसी कारण इन दोनों महानगरों से संधि का अंत होकर पुनः युद्ध तथा संघर्ष की शुरुआत हुई थी।

उदयिन

अजातशत्रु के बाद उसके पुत्र उदयभद्र (उदयिन) ने मगध की राजगद्दी संभाली थी। राजगद्दी पर बैठने से पहले उदयिन अपने पिता की ओर से चम्पा का वायसराय (उपराजा) था।[12] जैन ग्रंथों के अनुसार उदयिन की माता पद्मावती थी। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार वो इसके उल्टा है। परिशिष्टपर्वन के साक्ष्य के आधार पर इसे पितृ-भक्त भी बोला जाता है। इसके कार्यकाल में काशी, अंग और वज्जियों के मगध में विलय हो जाने के बाद मगध साम्राज्य का विस्तार हुआ था। बड़ा साम्राज्य होने के कारण राजगृह अब राजधानी नहीं रह गई थी। परिशिष्टपर्वन में उल्लेख मिलता है कि उदयिन ने गंगा तट पर 'पाटलीपुत्र'[13] नामक एक नई राजधनी की स्थापना की। यह दावा 'गार्गीसंहिता'[14] और वायुपुराण के अंशों द्वारा समर्थित है, जिनमें कहा गया है कि उन्होंने अपने शासन के चौथे वर्ष में कुसुमपुर (पाटलीपुत्र) की स्थापना की। गंगा और सोन नदी के संगम होने के कारण इसे नई राजधानी के लिए उपयुक्त बनाता है, क्योंकि राजधानी निर्माण के समय व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से सोचा-समझा गया होगा।

मगध में गौतम बुद्ध

सिद्धार्थ गौतम, जिन्हें बाद में 'बुद्ध' के नाम से जाना गया, जिनका जन्म 6वीं शताब्दी ई.पू. लुम्बिनी में हुआ था, जो आज नेपाल का हिस्सा है। पूर्वोत्तर बिहार जो अब नेपाल का हिस्सा है। यह शाक्यों का एक छोटा गणराज्य था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जहाँ राजा शुद्धोधन शासन करते थे। लगभग 566 ई.पू.[15] गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी

नामक गाँव में शुद्धोधन की पत्नी महामाया के गर्भ से हुआ था। इनके जन्म के सात दिन बाद इनकी माता का निधन हो गया था। माता के निधन के बाद इनका पालन-पोषण इनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया था। एक ज्योतिषी असित कालदेव और ब्राह्मण कौंडिन्य ने इनके जन्म के बाद इनके बारे में भविष्यवाणी करी थी कि यह या तो महान सम्राट (चक्रवर्ती) बनेगा या एक त्यागी (भिक्षु)।

मगध में प्रमुख बौद्ध आयोजन स्थल

प्रथम बौद्ध संगीत - बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही राजगीर में प्रथम बौद्ध परिषद् बुलाई गई थी। इस परिषद का प्राथमिक उद्देश्य बुद्ध की शिक्षाओं, विशेष रूप से धम्म (सुत्त) और विनय को संकलित करना था। हालांकि इस चरण में अभिधम्म को सम्मिलित नहीं किया गया था। महाकस्सप ने परिषद की अध्यक्षता की थी, **उपालि** और **आनन्द** का महान योगदान था। चुल्लवग्ग के 11वें खंधक में दर्ज और दीपवंश तथा महावंश द्वारा पुष्टि किए गए विवरण में बताया गया है कि बुद्ध के देहावसान के समय महाकस्सप कुशीनगर में मौजूद नहीं थे। वे पावा से कुशीनगर की यात्रा कर रहे थे, उन्हें आजीवक भिक्षु से बुद्ध की मृत्यु के बारे में पता चला था।

भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद अजातशत्रु ने राजगृह में एक स्तूप का निर्माण करवाया, जिसमें उन्हें प्राप्त अवशेषों के हिस्से को संरक्षित किया गया। उन्होंने राजगृह में आयोजित प्रथम बौद्ध परिषद में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उन्होंने सप्तपर्णी गुफा के सामने एक विशाल कक्ष का निर्माण करवाया[16], जहाँ भिक्षु महाकस्सप के नेतृत्व में, भिक्षु आनन्द और भिक्षु उपालि की सहायता से भगवान बुद्ध की शिक्षाओं और नियमों का पाठ किया गया और उन्हें व्यवस्थित किया गया।

दूसरी बौद्ध संगीति - बुद्ध के निधन के लगभग एक शताब्दी बाद वैशाली में दूसरी बौद्ध परिषद हुई हालांकि यह समयरेखा अनुमानित मानी जाती है। चुलवग्ग के अनुसार वज्जि के भिक्षु दस नियम (दस वत्थूनि) का पालन करते थे, जिन्हें काकंडक-पुत्र यश धर्मसम्मत नहीं मानता था।[17] उन्होंने इन प्रथाओं की गैरकानूनी के रूप में निंदा की, जिससे वज्जि भिक्षुओं ने उन पर 'पटिसारणीय कम्म' का दण्ड लगाया इसके लिए यश को आम जनमानस से क्षमा मांगनी पड़ी, जिन्हें उन्होंने वज्जि भिक्षुओं के उपदेश का पालन न करने की सलाह दी थी।

निष्कर्ष

मगध महाजनपद के अभ्युदय में बिम्बिसार, अजातशत्रु और उदयिन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मगध के विद्वान और भिक्षुगण ने बौद्ध धर्म के विचारों को आकार देने एवं प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा को संरक्षित करने और इसे संसार में विस्तारित करने में अहम् भूमिका निभाई। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरांत उनकी देशना को मगध महाजनपद में बौद्ध धर्म की दो संगीतियाँ हुईं जो कि भविष्य के बौद्ध विद्वानों एवं भिक्खुओं के लिए आधार स्तम्भ बना।

शोध छात्र
बौद्ध अध्ययन विभाग
कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. अथर्ववेद ट.22.14
2 XXVI.47, Cf वायुपुराण, P.78.22, पदम् पातालखण्ड, XI. 45
3. ऋग्वेद, 3/53/14
4. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ.सं. 130
5. रायचौधरी, डॉ. हेमचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ. 180
6. विद्यालंकार, सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ. 76
7. रायचौधरी, डॉ. हेमचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ. 182
8. विनयपिटक (VII, 3.5) का चुल्लवग्ग देखें, विनयपिटक, 1, 73, 74, 207, 240
9. पाली लेख में वर्णित न्यायाधिकारी (Kindred Saying II, 172)
10. रायचौधरी, डॉ. हेमचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ. 181
11. श्रीवास्तव, के.सी., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ.सं. 123
12. रायचौधरी, डॉ. हेमचन्द्र, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ. 160
13. परिशिष्टपर्वन, VI, 36, 175-180
14. गार्गीसंहिता, Kern, वृहत्संहिता, 36

15. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, 2022, पृ.सं. 153
16. बापट, पी.वी., बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, प्रकाशन विभाग द्ध1997ऋ, पृ. 24
17. बापट, पी.वी., बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, प्रकाशन विभाग द्ध1997ऋ, पृ. 26

प्राथमिक स्रोत

1. अश्वघोष (1956). *बुद्धचरित.* भारत सरकार
2. वैद्य, पी.एल. (1959). *दिव्यावदान.* मिथिला संस्थान
3. थेरो, महानामा (1912). *महावंश.* इंडियन प्रेस वाराणसी
4. शीलभद्र, भिक्षु (1942). *विनयपिटक.* नालंदा बौद्ध संस्थान
5. बुद्धघोष, भिक्षु (1935). *अभिधम्म पिटक.* श्रीलंका बौद्ध संस्था
6. आंबेडकर, डॉ. भीमराव (अनुवादक) (1956). *महापरिनिर्वाण सुत्त.* भारत प्रकाशन

द्वितीयक स्रोत

1. विद्यालंकार, सत्यकेतु (1680). *मौर्य साम्राज्य का इतिहास.* श्री सरस्वती सदन, मसूरी
2. सिंह, भगवान (2007). *हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य.* राधकृष्ण प्रकाशन
3. घोष, ए.एन. (1960). *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया.* इंडियन प्रेस
4. पाण्डेय, डॉ. गोविन्द चन्द (1976). *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास.* मुद्रक घनश्याम भार्गव कैन्स एण्ड कण्टेनर्स प्रा.लि.
5. झा और श्रीमाली (2017). *प्राचीन भारत का इतिहास.* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
6. बापट, पी.वी. (1997). *बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष.* सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
7. थापर, रोमिला (1997). *अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन.* शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
8. श्रीवास्तव, के.सी. (2019). *प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति.* यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद
9. थापर, रोमिला (2006). *भारत का इतिहास.* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
10. घोष, श्री अमलानंद (2006). *नालन्दा.* पेलिकन प्रेस, नई दिल्ली
11. बिनोद, बैजनाथ सिंह (1654). *मगध इतिहास और संस्कृति.* जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी
12. चौधरी, राधकृष्ण (1999). *प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास.* भारती भवन
13. सिंह, डॉ. प्रियसेन (1993). *भारत के प्रमुख बौद्ध तीर्थस्थल.* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
14. पाण्डेय, डॉ. राजबलि (2022). *अशोक का अभिलेख.* ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी
15. शर्मा, राम शरण (1983). *प्राचीन भारत में भौतिक संस्कृति और सामाजिक संरचनाएँ.* मैकमिलन
16. थापर, रोमिला (2001). *अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
17. पाठक, सूर्यकांत (1998). *मगध का प्राचीन इतिहास.* प्रयाग पब्लिकेशन
18. झा, वी.एन. (1993). *बुद्ध और उनका धर्म.* मोतीलाल बनारसीदास
19. सिंह, उपिंदर (2008). *प्राचीन और प्रारंभिक मध्यकालीन भारत का इतिहास.* पियरसन एजुकेशन इंडिया

English Books

1 Avari, B. (2007). *India: The Ancient Past: A History of the Indian Sub- continent from c. 7000 BCE to CE 1200*. Routledge.
2 Basham, A.L. (1954). *The Wonder That Was India*. Grove Press.
3 Bechert, H. (1980). When Did the Buddha Live?. Sri Satguru Publications.
4 Bronkhorst, J. (2011). *Buddhism in the Shadow of Brahmanism.* Brill.
5 Chakrabarti, D.K. (1995). *The Archaeology of Ancient Indian Cities*. Oxford University Press.
6 Chattopadhyaya, D.P. (2002). *History of Science, Philosophy and Culture in Indian Civilization.* Centre for Studies in Civilizations.
7 Collins, S. (1990). *Nirvana and Other Buddhist Felicities: Utopias of the Pali Imaginaire*. Cambridge University Press.
8 Wikipedia.

शोध-पत्र

अनुज कुमार रावत

श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य लेखन के राजनीतिक, सामाजिक आयाम

श्रीलाल शुक्ल का साहित्य, समाज और राजनीति के व्यापक क्षेत्र को अपने में समेटे हुए हैं। जिसमें समाज का प्रत्येक वर्ग विद्यमान है। उनके साहित्य में भारतीय सामाजिक जीवन एवं परिवेश की जीवन्तता असाधारण रूप से व्यक्त हुई है, जिसे उनके उपन्यासों, कहानियों, लेखों, निबंधों, संस्मरणों, रेखाचित्रों में तो देखा ही जा सकता है, किन्तु उनके व्यंग्य लेख इसके अधिक प्रभावोत्पादक व सजीव दस्तावेज हैं। श्रीलाल शुक्ल के इस व्यंग्य लेखन में स्वातंत्र्योत्तर समाज और राजनीति में व्याप्त विसंगतियों, विद्रूपताओं और मूल्यहीनता का यथार्थ चित्रण है।

हिंदी साहित्य में श्रीलाल शुक्ल को एक अत्यंत प्रखर व्यंग्य लेखक के रूप में जाना जाता है। व्यंग्य श्रीलाल शुक्ल की पहचान है, वह पहचान जो एक व्यंग्य लेखक के तौर पर श्रीलाल शुक्ल के संदर्भ में सर्वप्रथम उभर कर सामने आती है, यही कारण है कि कभी-कभी उन्हें एक व्यंग्यकार के रूप में ही सीमित मान लिया जाता है, जिससे उनके संपूर्ण साहित्य की आलोचना पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव के मूल में अखिलेश उनकी लेखन की विशेषता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं।-''दरअसल श्रीलाल शुक्ल ने हिन्दी लेखन की परंपरा में 'श्रीवृद्धि' करने की बजाय उसके समानांतर खड़े होने का जोखिम उठाया। न केवल इतना, बल्कि उनके लेखन ने रूढ़िगत साहित्य की जड़ता, रुग्णता, रूमानियत, ठस्सपन और भावुकता की बड़ी पिटाई की। स्वाभाविक था कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों से लस्त-पस्त साहित्य के प्रशंसकों की चेतना पर भी बर्छियां चलीं। इस सम्बन्ध में यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि अपने दौर के हिंदी आलोचक को जितना असहाय और हास्यास्पद श्रीलाल शुक्ल ने बनाया,उतना अन्य किसी रचनाकार ने नहीं।"[1] एक व्यंग्यकार के रूप में श्रीलाल शुक्ल ने व्यंग्य को न केवल लिखा है, अपितु उसे अपने समकालीन साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक परिवेश और वातावरण में निर्मित किया है।

श्रीलाल शुक्ल एक व्यंग्यकार के रूप में हरिशंकर परसाई के बाद हिंदी के एक उच्च कोटि के हस्ताक्षर इसलिए हैं, क्योंकि उन्होंने व्यंग्य को अपने लेखन में सिर्फ अपनाया नहीं है, बल्कि उसे अपने समय में निर्मित और सृजित भी किया है। प्रारम्भ में व्यंग्य लेखन को हास्य और विनोद का साहित्य समझा जाता था और उसमें उच्च साहित्यिक गुणों का अभाव माना जाता था, इसलिए शुरुआत में व्यंग्य लेखन को महत्व नहीं दिया गया, लेकिन हरिशंकर परसाई और श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य लेखन ने उक्त अवधारणा को धुंधला कर दिया। अब व्यंग्य के मारक क्षमता के कारण इसको गंभीरता और संजीदगी से पढ़ा और समझा जाने लगा है। व्यंग्य को यथार्थ परिवेश में देखने की विशिष्ट 'भंगिमा' मानते हुए डश्वनामवर सिंह लिखते हैं ''कहना न होगा कि सभ्यता के तथाकथित विकास के साथ-साथ छल-छद्म भी घना होता जा रहा है। उसे भेदना भी कठिन से कठिनतर हो रहा है। जिसे श्रीलाल जी ने 'टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता' कहा है वह लेखक के लिए टेढ़ी-मेढ़ी 'भाषा' ही है और उसी का नाम व्यंग्य है। संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्र में उसी को 'वक्रोक्ति' कहा जाता था कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को 'वैद्ध्य-भंगी भणिति' के नाम से परिभाषित किया है।"[2] स्पष्ट है एक व्यंग्यकार व्यवस्था और समाज के छल छदम से विदग्ध होकर व्यंग्य की शैली अपनाता है। इस व्यंग्य में खीझ और

नाराजगी का भाव विद्यमान होता है। व्यवस्था और समाज के प्रति यह खीझ और नाराजगी श्रीलाल शुक्ल के प्राय: सभी व्यंग्य लेखों में देखी जा सकती है।

'स्वर्ण ग्राम और वर्षा' रचनाकार के नियमित लेखन का प्रथम व्यंग्यात्मक निबंध है। इसके अतिरिक्त हास्य-व्यंग्य एवं निबंध संग्रह 'अंगद के पांव', 'यहां से वहां', 'कुछ जमीन पर कुछ हवा में' और 'उमरावनगर में कुछ दिन' आदि भी हैं। उपरोक्त व्यंग्य संग्रहों में तद्युगीन सामाजिक यथार्थ का उद्‌घाटन हुआ है, जो समसामयिक जीवन का बृहद चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका व्यंग्य लेखन आजादी के चालीस सालों के भारतीय समाज के नैतिक अवमूल्यन, वर्गभेद, जातीय शोषण, राजनैतिक ह्रास और विचारधारा के प्रतिरोध से उपजी स्थितियों का चित्रण है। देश की स्वतंत्रता के बाद आमजनों का सपना था कि अब देश का विकास होगा और उनके जीवन में खुशहाली आएगी, पर हुआ इसके विपरीत क्योंकि राजनीति का चरित्र वही रहा बस शक्ल बदल गयी, परिणाम स्वरूप जनता का राजनीति से मोह भंग हो गया।

राजनीतिक आयाम : इस राजनैतिक ह्रास के कारण जो भारतीय लोकतंत्र का हाल हुआ उसी से श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य लेखन प्रभावित है। जिसमें समाज है, व्यक्ति है, राजनीति है और तीनों से उपजी विसंगति है-'' श्रीलाल शुक्ल का लेखन वस्तुत: स्वातंत्र्योत्तर भारत की, जनतंत्र की कथित आधुनिकता और विकास की आलोचना है। वह अपने गहरे अर्थों में सभ्यता-समीक्षा का सर्जनात्मक प्रतिरूप है।''[3] यही कारण है कि उनकी रचनाएं केवल घटनाओं अथवा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक प्रसंग से परिचय ही नहीं कराती बल्कि परिवेश और समसामयिक राजनीतिक वातावरण को अनेकानेक आयामों में दिखलाने का प्रयास भी करती हैं।

'उमराव नगर में कुछ दिन' नामक व्यंग्य रचना को इसके उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है। जिसमें 'रमेसर भाई' अर्थात् ठाकुर साहब के माध्यम से ग्रामीण समाज में उभरते नये सत्ता-केन्द्रों की प्रक्रिया का संकेत देते हुए लिखा है-''हर रात कोई-न-कोई पेड़ मशीन की तेजी से कटता, उसके कुंदे ट्रक पर शहर पहुँच जाते। ...पर ठाकुर साहब इस कारोबारमें ज्यादा दिन नहीं टिके। ...उन्होंने ट्रकों और बसों का एक बेड़ा धीरे-धीरे तैयार कर लिया। एक ट्रक का आधा मुनाफा शुरू में जूनियर इंजीनियर साहब को और एक बस का विधायकजी को दिया जाने लगा। बाद में, विधायकजी के राज्यमन्त्री बन जाने पर ठाकुर साहब ने वह बस पूरी तौर से विधायकजी की मार्फत राष्ट्र को अर्पित कर दी।"[4]

इसी तरह 'अंगद का पांव' में संग्रहित बैलगाड़ी नामक लेख के माध्यम से राजनीतिक संस्थाओं विचारों की स्थिति पर बात की गई है। राजनीतिक चेतना नागरिक जीवन में किन-किन रूपों में विकसित और विस्तार ले रही है, उसका सटीक उल्लेख इस लेख में प्राप्त होता है। कहानी में मुख्य पात्र के जो राजनीतिक मित्र हैं वह देश की वर्तमान दशा पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं-''प्रजातन्त्र तभी सफल होता है, जब जनता जागती रहती है। यह सब हमारे ही सो जाने का नतीजा है।"[5] कहने का अभिप्राय यह है कि देश की इस दशा के जिम्मेदार राजनेताओं के साथ-साथ स्वयं जनता भी है। वही जनता जो तमाम प्रकार के त्रासद जीवन-स्थितियों के मध्य जीवन जीने को बाध्य है। जिसके पीछे आमजन की जागरूकता, सतर्कता और प्रतिरोध न कर पाने की कमी स्पष्ट दिखाई देती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दुर्व्यवस्था के लिए जिम्मेदार कारकों और कारणों में राजनीतिज्ञों की दिखावटी सरोकारहीनता और अवास्तविक राजनीति दृष्टि तो जिम्मेदार है ही बल्कि आमजन की उदासीनता भी इसमें समाहित है, जिसके कारण विकास अवरुद्ध हो जाता है। लेखक इस विकास की गति पर व्यंग्य करते हुए लिखता है-''इस इलाके के लोग भी बड़े बदमाश हैं। मेरी जरा-सी आँख झप गयी। बस किसी ने बैलों का मुँह मोड़ दिया, गाड़ी घुमा दी और फिर उसे स्टेशन की तरफ चला दिया। दो कोस तक निकल गए थे, हजूर, फिर उतना ही वापस लौट आये।''[6] इस उद्धरण में संकेत किया गया है कि आज की राजनीति के कारण विकास की गति अवरुद्ध हो चुकी है। काम के नाम पर नेताओं की बहानेबाजी उनकी आदत बन गयी है, यही कारण है कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति से जनता का धीरे-धीरे मोह भंग होना प्रारंभ हो गया।

स्वतंत्रता के बाद भारत में जितने तेजी से बदलाव आए, उतने संभवत: देश के इतिहास में पहले कभी न हुए। इन बदलावों की छाप श्रीलाल शुक्ल के इंडिया टुडे के स्तम्भ लेखन में साफ दिखाई देती है, जिसे उन्होंने 2003 से 2005 तक नियमित रूप से किया। जिसका प्रकाशन 2006 में 'खबरों की जुगाली' नाम से हुआ। इस संग्रह में भी उनके राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विचार

हैं। यहाँ वे 'वह जो मिनिस्टर बनेगा' नामक शीर्षक में नेता की अहर्ता व राजनीति की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—''वह:" देखिये, राजनीति और, माफ कीजियेगा, रंडी में कोई फर्क नहीं है। पार्टी चीफ ने एक दिन कहा था, वेश्या की तरह ही राजनीति कभी सच बोलती है, कभी झूठ। वह जवान की कड़वी हो सकती है और बहुत मीठी भी। वह खर्चीली होती है और पैसा बटोरनेवाली भी। चीफ ने कहा...''[7] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान राजनीतिज्ञों के अधिकतर क्रिया-कलाप, छल-छद्म, अवसर-वादिता और लूट-खसोट पर आधारित होते हैं। वह कुर्सी को जोंक की तरह पकड़े रखना चाहते हैं। जनता की भलाई से इन नेताओं का कुछ लेना-देना नहीं होता है।

सामाजिक आयाम : साठोत्तरी भारत में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ 'हिप्पोक्रेट' हो गई। जिसके कारण समाज में बहुत से विसंगतिपूर्ण बदलाव आये, ये बदलाव ही व्यंग्य के सृजन में सहायक सिद्ध हुए। श्रीलाल शुक्ल का मानना था कि व्यंग्य शैली ही इस यथार्थ की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में सहायक हो सकती है। उनके अनुसार भारतीय समाज की चुनौती राजनीतिक दिशाहीनता है। वे इस विषय के संदर्भ में कहते हैं -''बड़े लेखक की बात जाने दें, व्यक्तिगत रूप से मेरी दृष्टि में सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक दिशाहीनता की है जिससे लगभग सभी पार्टियां ग्रस्त हैं वे अपने चुनाव घोषणापत्र भले ही अलग-अलग निकालें लेकिन किसी के घोषणापत्र से यह स्पष्ट नहीं होता है कि उस पार्टी के विचार से समग्र रूप से समाज का क्या स्वरूप होना चाहिए। सभी पार्टियों के तात्कालिक लक्ष्य हैं। इसी का परिणाम है कि समाज के सर्वांगीण विकास की कोई दिशा नहीं दिखाई दे रही है।"[8] राजनीतिज्ञों की दूरगामी सोच के अभाव के कारण समाज का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाया, परिणाम स्वरुप समाज में बहुत सी विसंगतियाँ होने लगीं। इन सामाजिक विसंगतियों को श्रीलाल शुक्ल ने अपने व्यंग्य लेखों के माध्यम से उभारने का प्रयास किया है।

उनके सभी व्यंग्य संग्रह वर्तमान समाज के सभी क्षेत्रों को अभिव्यक्त करते हैं। इन व्यंग्य संग्रहों में गहरी सामाजिक आलोचना व्यक्त होती है। आलोचक परमानंद श्रीवास्तव श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य धर्मिता के सामाजिक आधार और युग संदर्भ को रेखांकित करते हुए लिखते हैं—''यह है श्रीलाल शुक्ल की दुनिया! धूल, धक्कड़, गर्द गुबार, ईंट पत्थर, कूड़े कचरे में धंसी हुई। बेडौल अनगढ़! जिसमें लघुता की महागाथा लिखने के कई सार्थक प्रयत्न हैं। कलात्मक नवाचार और परिष्कार उनका सरोकार नहीं है।.... उनकी जड़ें परंपरा में हैं पर विकास का वास्तविक आधार है-भयानक चुनौतियों से घिरा समय और समाज।"[9] जहाँ श्रीलाल शुक्ल ने स्वातंत्र्योतर भारतीय समाज के वर्ग वैषम्य पर व्यंग्य किया है, वहीं स्त्री की सामाजिक दशा पर भी चर्चा की।

उनकी दृष्टि में स्त्री की दशा बीसवीं सदी में वैसी ही है जैसी सोलहवीं सदी में थी। स्त्री आज भी भेद-भाव, शोषण की शिकार है उसे आज भी समाज में कमजोर और दैयनीय समझा जाता है। श्रीलाल शुक्ल नारी के प्रति समाज की इस सोच को रेखांकित करते हुए कहते हैं—''इधर हमारे यहाँ-वर्ण या जाति के झमेले के बावजूद नारी शब्द सभी के लिए चलता है। चाहे वह मनु की नारी हो जिसकी पूजा होने पर वहां के देवता वास करने लगते हैं, चाहे शंकराचार्य की नारी हो जो नरक का द्वार है। यानी नारी की तासीर अपने गुण कर्म के अनुसार भले ही बदलती रहे, रहेगी वह नारी ही।"[10] नारी के प्रति समाज के इस भेद-भाद पूर्ण रवैये के कारण परिवार में वह उपेक्षित होती गयी, जिसके चलते उसकी स्थिति दिन-ब-दिन सोचनीय बन गयी।

श्रीलाल शुक्ल ने भ्रूण हत्या और दहेज में मारी गई स्त्रियों का चित्रण प्रकारांतर से करते हुए लिखा है-''परिवार की एक दादी मां थी।.... दादी माँ अपने जमाने में एक काम में एक्सपर्ट मानी जाती थीं। वह काम था अपने खानदान में अगर कोई कन्या पैदा हो तो उसके जन्मते ही सफाई के साथ उसकी हत्या कर देना।... जैसे आज नवविवाहिताओं को दहेज के लिए जलाने का कारोबार ज्यादातर सवर्णों ही में होता है, उन दिनों कन्याओं की शिशु-हत्या भी प्राय: सवर्णों की ही विशेषता थी।"[11]

स्पष्ट है इस नजरिये के कारण समाज में नारी को अनेकों समस्याओं का सामना करना पड़ता है, यहाँ तक कि उसे परिवार में बोझ समझा जाता है, इस लिए उसके जन्म से पहले ही उसकी भ्रूण हत्या तक कर दी जाती है। आशय यह है कि स्त्री मुक्ति, सशक्तिकरण के कितने ही नारे क्यों न लगाये जाएं, आज के समय में भी स्त्री समस्याएं उतनी ही हैं जितनी पहले थीं। श्रीलाल शुक्ल ने अपने व्यंग्य लेखों में नारी जीवन की विभिन्न विडम्बनाओं का चित्रण तो किया ही है साथ ही उन्होंने इन व्यंग्य लेखों में अपने लेखक समुदाय के लेखन व पांडित्य

प्रदर्शन पर तीखा व्यंग्य किया है।

श्रीलाल शुक्ल ने 'अंगद के पांव' नामक व्यंग्यात्मक संग्रह में बाबू रामजीवन नामक पात्र के माध्यम से गूढ़ साहित्य लिखने वाले साहित्यकारों के बारे में कहा है-''आज मुझे देखते ही उन्होंने दुखी स्वरों में हिन्दी लेखकों की शिकायत की। बोले कि मुझे शीर्षकों ने ठगा है। कहने लगे, ''मैं 'नागपाश' को उपन्यास समझता था। वह साँपों के जीवन का एक वैज्ञानिक अध्ययन है। 'श्मसान और प्रेत' को मैं पुनर्जन्मवाद या तांत्रिक साहित्य की पुस्तक समझता था। उसमें प्रेमपरक एकांकी नाटक हैं। 'रात की रानी' उपन्यास नहीं है: पर चुड़ैलों पर लिखी गयी पुनर्जन्मवाद की एक पुस्तिका है। 'आराधना' कविता-संग्रह नहीं है, यजुर्वेदीय संध्योंपासन पर लिखा हुआ एक ग्रंथ है। पता नहीं, ये भ्रामक शीर्षक किस कारण अपने यहाँ पनप रहे हैं?....पर यह सब ऊँचे -ऐंठदार साहित्य में ही देखने को मिलता है। सड़कों के किनारे बिकनेवाले सच्चे जनवादी साहित्य में ये सब दोष अभी नहीं घुस पाए हैं।"[12] स्पष्ट है श्रीलाल शुक्ल को ऐसे साहित्यकार बिलकुल पसंद नही आते हैं जो अच्छे शीर्षक की आड़ में स्तरहीन सामग्री पेश करते हैं। वे चाहते हैं साहित्यकार को अपना सच्चा साहित्यिक धर्म निभाना चाहिए जिससे एक बेहतर समाज बन सके।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में व्यक्ति जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्व राजनीति है, देश में कानून व्यवस्था और नीति निर्धारण तथा उसके संचालन की जिम्मेदारी उसी की है, परन्तु जब राजनीति ही अपने आप में छल-छद्म, अवसरवादिता में डूब जाए तो उससे सुशासन की उम्मीद बेमानी है। राजनीतिज्ञों के इस नकारात्मक रवैये के कारण समाज में भी विसंगतियाँ आना स्वाभाविक ही है, इन्हीं राजनीति और सामाजिक विसंगतियों को उजागर करने के लिए लेखक ने व्यंग्य शैली अपनाई, जिससे समाज पर उसका वांछित प्रभाव पड़ सके। आशय यह है कि उनके व्यंग्य लेखन में सामाजिक और राजनीतिक सरोकार की विद्रूपता को दूर करने की प्रतिबद्धता निहित है।

सह-आचार्य, हिंदी विभाग
देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
Email : akrawat@db.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, अखिलेश, सम्पादकीय से, राजकमल प्रकाशन 2000
2. संचयिता, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, पृ. संख्या 6
3. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, अखिलेश, सम्पादकीय से, राजकमल प्रकाशन 2000
4. उमराव नगर में कुछ दिन, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन 1988, पृ. संख्या 30
5. अंगद का पांव पर, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन 1998, पृ. संख्या 85
6. वही, पृ. संख्या 85
7. खबरों की जुगाली, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन 2006, पृ. संख्या 12
8. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, अखिलेश, राजकमल प्रकाशन 2000, पृ. संख्या 146
9. वही, पृ. संख्या 27
10. आओ बैठ ले कुछ देर, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, पृ. संख्या 146
11. वही, पृ. संख्या 82
12. अंगद का पांव, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन 1998, पृ. संख्या 23, 24, 29

साहित्य के बदलते प्रतिमान

सीमा

साहित्य और समाज में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। शायद इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण कहलाता रहा है। साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि उससे भी बढ़कर है। वह समाज को यथार्थ से अवगत ही नहीं कराता बल्कि उसका मार्गदर्शन भी करता है। उसमें अगर यथार्थ को उद्घाटित करने का साम्थर्य है तो ज्ञान व संस्कृतियों के हस्तांतरण की क्षमता भी। प्राचीन काल से मानव साहित्य का अध्ययन विभिन्न संस्कृतियों, विचारों व अनुभवों के बारे में जानने हेतु करता आया है। साहित्य शब्द की उत्पत्ति की बात करें तो यह अंग्रेजी समानार्थी शब्द लिटरेचर 'लेटर' या 'अक्षर' से संबंधित है। इसलिए पाश्चात्य संस्कृति में अक्षरों में लिखी प्रत्येक वस्तु लिटरेचर कहलाने लगी।

जबकि हमारे यहाँ कविता, कहानी, उपन्यास जैसी विधाओं को साहित्य माना जाने लगा और कालान्तर में गणित, विज्ञान व दर्शन को भी साहित्य की संज्ञा दी जाने लगी। यह परम्परा संस्कृत साहित्य से हिन्दी में आयी। संस्कृत के महान आचार्य भामह ने तो 'शब्दार्थौ सहितो काव्यम्' कहकर माना कि शब्द व अर्थ का सहभाव ही साहित्य है। अनेक विद्वानों ने साहित्य को अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है जबकि साहित्य जैसे विशाल विषय को किसी दायरे में लेना बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि यह ओढ़ा हुआ दर्शन है। साहित्य को परिभाषित करते हुये नगेन्द्र बसु का कहना है कि ''गद्य व पद्य सब प्रकार के उन ग्रन्थों का समूह है जिनमें सार्वजनीय हितसंबंधी स्थायी विचार साक्षात रहते हैं। वे समस्त पुस्तकें जिनमें नैतिक सत्य और मानवीय भाव बुद्धिमता तथा व्यापकता से प्रकट किये गये।''[1]

इसी संदर्भ में विद्वान मैथ्यू अर्नाल्ड का मानना है कि जिस तरह ''कविता जीवन की व्याख्या करती है अत: साहित्य जीवन की व्याख्या है।''[2] साहित्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि इसका निश्चित स्वरूप निर्धारण भारतीय ही नहीं अपितु पश्चिमी विद्वानों के लिए भी चुनौतीपूर्ण ही रहा।

साहित्य पर अपना दृष्टिकोण रखते हुये मुक्तिबोध का कहना है ''किसी भी साहित्य को तीन तरह से देखा जाना चाहिए। एक तो वह किन स्रोतों से उद्गत होता है अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ। दूसरे उसका कल्पनात्मक प्रभाव क्या है और तीसरा उसकी अन्त: प्रकृति, रूप रचना कैसी है। इस तीसरे प्रश्न के बिना पहले प्रश्न से मिलाए हम दूसरे सवाल का जवाब नहीं दे सकते।''[3]

साहित्य व समाज दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन नये परिवर्तन दिखायी देते हैं। यही परिवर्तन प्रतिमान कहलाते हैं।

प्रतिमान को एक प्रकार के प्रमाण के रूप में जाना जाता है जिसका उद्देश्य पाठकों को घटनाओं का एक उदाहरण प्रदान करना है जो मार्गदर्शन में सहायक है। साहित्य की प्रकृति के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि ''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है।''[4]

समय के साथ-साथ हमारा समाज बदलता गया और इस बदलाव से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। साहित्य में ये बदलाव

अनेक रूपों में दिखायी दिये। कहीं विषयवस्तु के रूप में तो कहीं लेखन शैली के रूप में। कहीं पश्चिम के प्रभाव के कारण तो कहीं नवीन परिस्थितियों के कारण भी।

विषय वस्तु के रूप में देखें तो प्राचीन साहित्य युद्ध, प्रेम व प्रकृति जैसे विषयों से भरा हुआ था। कहीं-कहीं साहित्य के विषय देवता व प्रकृति अधिक रहे। उन्हें प्रसन्न करने के लिए पूजा पद्धतियाँ थीं और किसी भी रचना का आरंभ ईश वन्दना से हुआ करता था। मध्यकाल में कलह व युद्धों का बोलबाला रहा। एक ओर राजाओं का प्रभाव था तो दूसरी ओर दरबारी विलासिता कवि आश्रयदाताओं की प्रशंसा करते। आधुनिक काल आते-आते नवीन परिस्थितियां व परिवेश साहित्य का विषय बने। साहित्य का विषय बदलने लगा। अब राजनीति, धर्म, समाज व आर्थिक विषयों पर साहित्य रचना होने लगी। समाज में अंधविश्वासों व रूढ़ियों का खुलकर विरोध होने लगा। कहीं राष्ट्रीयता की भावना मुखरित हो रही थी तो कहीं नारी उत्थान की चर्चा।

जब देश स्वतंत्र हो गया तो सभी ने राहत की साँस ली। सभी ने सोचा था अब दुखों, यंत्रणाओं से राहत मिलेगी, मगर ऐसा नहीं हुआ। जाते-जाते अंग्रेजों ने देश की सत्ता अपनी ही बिरादरी के कुछ सफेदपोश काले लोगों के हाथ में दे दी। आजादी के पश्चात रोटी, कपड़ा मकान, भ्रष्टाचार साहित्य का विषय बनकर उभरे।

साहित्य में अगला बदलाव लेखन शैली में आया। अब साहित्य व्याकरण के नियमों में बंधकर न रहा। साहित्य की भाषा सरल, सरस व सहज होने लगी। साहित्य की विभिन्न विधाएँ साहित्य का अंग बनने लगी। पहले सिर्फ पुस्तकें पढ़कर मानव साहित्य जान पाता था। अब कई सोशल मीडिया प्लेटफार्म साहित्य का सरोकार व्यक्ति से करने लगे।

आज जितना साहित्य लिखा जा रहा है उतना पहले कभी नहीं लिखा गया। अनेक समुदाय जो शिक्षा से वंचित थे वे आज स्वयं को अभिव्यक्त कर रहे हैं। समय-समय पर साहित्य ने मानव को चेताया भी है। आज दलित वर्ण व्यवस्था पर प्रश्न कर रहा है और आदिवासी पूंजीवादी व्यवस्था पर और स्त्री पुरुषवादी समाज पर।

वैश्वीकरण ने भी हमारे साहित्य में परिवर्तन किये। आज भाषा व जीवन मूल्यों में बदलाव आया है। साहित्य में बाजारवाद की झलक भी दिखायी देती है। कथाकार हिमांशु जोशी लिखते हैं ''साहित्य का संबंध समाज से है। समाज की वस्तुस्थिति है किन्तु यहाँ मात्र फैशन के प्रयोग के रूप जो आयातित होता रहा उसका विकास आकाशवेल की तरह था। अपनी जड़ें यहाँ की धरती पर जमा पाना उसके लिए संभव न था। पाश्चात्य जगत की समस्याएँ हमारी समस्याओं से भिन्न थी। उनके सामने प्रश्न था कि कितना खाएँ परन्तु हम इस महाप्रश्न से जूझ रहे थे कि कहाँ से खाएँ? विकसित व विकासशील देशों की समस्याएँ एक समान कैसे हो सकती है? साहित्य जगत से परे तो नहीं होता न।''[5]

महान दार्शनिक अरस्तु का कथन था कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है और मानव प्रकृति का अभिन्न अंग। समाज बदलते हैं, साहित्य बदलता है और समय के साथ-साथ साहित्य के प्रतिमान भी बदलते हैं और शायद इसी में साहित्य व समाज दोनों की सार्थकता है।

शोध-छात्रा,
राधे हरि राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
काशीपुर, उत्तराखण्ड

सन्दर्भ सूची

1. नगेन्द्र बुस, हिन्दी विश्वकोश, पृष्ठ संख्या 90
2. शेखर शर्मा, साहित्य सिद्धान्त और साहित्य स्वरूप, पृष्ठ संख्या 12
3. गजानन्द माधव मुक्तिबोध, कामायनी एक पुर्नविचार, साहित्य भारतीय पब्लिकेशंस, पृष्ठ संख्या 16
4. आचार्य रामवचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 2053, पृष्ठ संख्या 1
5. मेरे साक्षात्कार, हिमांशु जोशी, किताब घर प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 63

मंदेश शर्मा

वर्तमान समय में श्रीकांत वर्मा की कविताओं की प्रासंगिकता

वर्तमान समय में श्रीकांत वर्मा की कविताओं की प्रासंगिकता एक अत्यंत विचारणीय और महत्वपूर्ण विषय है। श्रीकांत वर्मा हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों में से एक हैं, जिनकी रचनाएँ सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक चेतना से भरपूर होती हैं। उनकी कविताएँ आज के समय में भी उतनी ही प्रभावशाली हैं, जितनी वे अपने समय में थीं।

साहित्य समाज का दर्पण है किसी भी साहित्य में समाज की स्थिति तथा परंपराएं समाहित रहती है कवि की कल्पना शक्ति जब किसी वास्तविक घटना के साथ अपना सामंजस्य बिठाती है तो ऐसी कविता की रचना होती है जो अपने समय से आगे की स्थिति को भी बताती है।

कालजयी रचनाएं वे होती हैं जो अपने दौर की स्थिति के साथ-साथ, जब भी ऐसी स्थिति बनती है उनके संदर्भ में सटीक बैठे। हालांकि यह बात सत्य है कि समय कभी भी लौटकर नहीं आ सकता। इसके बावजूद यह कथन भी समाज में बहुप्रचलित है कि इतिहास स्वयं को दोहराता है इसका आशय शायद इसी स्थिति से होगा जब हम भूत में घटित घटनाओं को वर्तमान में होने वाली गतिविधियों से जोड़कर देखते हैं साहित्य में ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है। श्रीकांत वर्मा की कविताएं वर्तमान समय में घटित घटनाओं की व्याख्या इतनी सटीकता से करती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो आज की घटना को ही कवि ने कविता का आधार बनाया है। यह प्रतिभा किसी कवि की दूरदर्शी होने की पुष्टि करती है साथ में कवि की कल्पना शक्ति को भी बताती है। वर्मा जी की अनेकों कविताएँ (हस्तक्षेप, नगर निवासी, हवन, वह मेरी नियति थी, माँ की आँख, मैं, जो युवा था, तीसरा रास्ता, आधे घंटे की बहस, दिनारंभ इत्यादि) इस प्रकार की कविताएं हैं जो आज के जीवन में सटीक व्याख्या प्रदान करती है

राजनीतिक और सामाजिक चेतना

श्रीकांत वर्मा की कविताएँ सत्ता, राजनीति और ऐतिहासिक संदर्भों पर गहरी दृष्टि डालती हैं। उनकी 'मगध' श्रृंखला में सत्ता की निरंकुशता, भय, चुप्पी और अन्याय के खिलाफ कवि का विरोध मुखर रूप में सामने आता है।

आज जब लोकतांत्रिक मूल्यों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों पर संकट मंडरा रहा है, श्रीकांत वर्मा की कविताएँ हमें सत्ता की प्रकृति को समझने और उससे सवाल करने की प्रेरणा देती हैं।

राष्ट्र तथा सुरक्षा के मुद्दों को इतना महत्वपूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है कि इससे इसके समक्ष धन यदि बातों को भूलने के लिए जनता व्यवस्था देश की आंतरिक शांति का ख्याल तभी आता है जब प्रश्न पूछे जाते हैं सट्टा तथा व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।

''कोई छींकता तक नहीं
इस डर से
कि मगध की शांति
भंग ना हो जाए
मगध को बनाए रखना है तो
मगध में शांति
रहनी ही चाहिए
मगध है, तो शांति है,
कोई चीखता तक नहीं
इस डर से, कि मगध की व्यवस्था में

दखल ना पड़ जाए
मगध में व्यवस्था रहने ही चाहिए।

'नगर निवासी' कविता में वर्मा जी वर्तमान समाज की उस लापरवाह जिंदगी के बारे में बताते हैं जो एक मशीन की तरह है। किसी को किसी से मतलब नहीं है। सुबह समाज में जो कुछ हुआ हो शाम होते-होते लोग वह सब भूल जाते हैं। समाज से सहानुभूति खत्म होती जा रही है। आपसी भाईचारे से लेकर रिश्तो तक को उपयोगिता के आधार पर तोला जा रहा है।

''रोज शाम सड़कों पर,
फटे हुए उड़ते सुबह के अखबार''

'मगध' संग्रह में श्रीकांत वर्मा ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के माध्यम से समकालीन सत्ता और समाज का विश्लेषण करते हैं।

वर्तमान में जब इतिहास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने के प्रयास हो रहे हैं, श्रीकांत वर्मा की कविताएँ हमें इतिहास के आलोचनात्मक अध्ययन और विवेकपूर्ण ष्टिकोण की ओर प्रेरित करती हैं।

''केवल अशोक लौट रहा है
और
सब कलिंग का पता पूछ रहे हैं
केवल अशोक से झुकाए हुए है
और सब
विजेता की तरह चल रहे हैं
केवल अशोक के कानों में
चीख गूंज रही है
और सब
हंसते-हंसते दोहरे हो रहे हैं
केवल अशोक ने शास्त्र रख दिए हैं
केवल अशोक लड़ रहा था।''

वर्मा जी की यह कविता हर युद्ध के बाद आम जन धन हानि के पश्चात प्रासंगिक हो जाती है। यहाँ अशोक लड़ रहा था और केवल अशोक लौट रहा है पंक्तियां महत्वपूर्ण है यह लड़ाई स्वयं को बदलने की थी युद्ध से पलायन कर शांति की राह पर लौट आने की थी। विश्व में दो महायुद्ध (विश्व-युद्ध) देख अनेकों संगठन इसी शर्त पर बने कि वे शांति के लिए कार्य करेंगे 'लीग ऑफ नेशंस' वर्तमान 'संयुक्त राष्ट्र' इसी कारण से अस्तित्व में आया परंतु सब व्यर्थ ही रहा कई शक्तिशाली लोगों को शांति के लिए पुरस्कृत किया गया परंतु क्या कोई अशोक बन पाया। अशोक का तो पता नहीं परंतु सबने किसी ने किसी तरह कलिंग का पता पूछ ही लिया सबने अपना स्वार्थ देखा तथा स्वयं को मुख्य भूमिका में रखकर अपना शक्ति प्रदर्शन किया

श्रीकांत वर्मा ने सत्ता के निकट होते हुए भी सत्ता के दमन और चुप्पी के खिलाफ आवाज उठाई। यह नैतिक साहस आज के रचनाकारों के लिए एक आदर्श है, जब सत्ता से जुड़े साहित्यकार अक्सर चुप्पी साध लेते हैं। श्रीकांत वर्मा उन लेखकों में से नहीं है जो किसी भी कीमत पर अपना दामन बचाकर भाग खड़े हुए थे वह एक ऐसे लेखक हैं जिन पर साहित्य की दुनिया में उलझने के ठीक-ठाक विवाद है, परंतु वह सबसे बेचैन होकर ना तो भागते देखे हैं ना ही स्वयं को किसी से बचाते।

आज का वातावरण ऐसा हो चला है कि जो लोग स्वयं को बुद्धिजीवी बताकर अपनी बात रखते हैं। उनमें स्वयं इतनी समझ नहीं बची है कि वह जिसकी बात कर रहे हैं वह बात हो भी रही है या नहीं। सभी बात सत्ता के चारों और घूमकर एक चक्र की धुरी के समान सत्ता पर ही समाप्त हो जाती है। सभी गुट या तो सत्ता विरोधी होकर उसका विरोध कर रहे हैं या फिर समर्थन में उसी सत्ता को सही ठहरा रहे हैं। ना तो विरोधियों के पास समस्या का समाधान है ना समर्थकों को समस्या की आहट। विरोध के लिए विरोध तथा समर्थन के लिए समर्थन एक परंपरा जैसा बन गया है और इस पूरे षड्यंत्र में सबसे बड़े दोषी वो बुद्धिजीवी हैं जो किसी भी कीमत पर अपना दामन बचाकर या तो भाग खड़े होते हैं या फिर किसी और के कंधे पर बंदूक रखकर निशाना लगाते हैं। एक तीसरी कोटि के विद्वान भी आ गए हैं जो दोनों गुटों से इतर आपसी सुलह कराने का काम करते हैं। सरकारों के गठबंधन से लेकर ठेकेदारी की दलाली तथा बाबू को दी जाने वाली घूस की कीमत वही तय करते हैं।

वर्मा जी ने अपनी कविता में जो कहा है वह आज के दौर में पूर्ण रूप से प्रासंगिक है जो व्यक्ति आज रचना चाहता है वह बच नहीं सकता उसके ऊपर आरोप प्रत्यारोप का खेल चलता ही रहेगा। सच्चाई से काम करने वाला व्यक्ति सिस्टम में मिसफिट कहलाता है उसे प्रताड़ित करने में पूरा सिस्टम ईमानदारी और लगन से कार्य करता है।

''चाहता तो बच सकता था

मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा
कैसे रचेगा
पहले मैं झुलसा
फिर धधका
चिटखने लगा
कराह सकता था
मगर कैसे कराह सकता था
जो कराहेगा कैसे निभायेगा।''

उनकी कविताएँ व्यक्ति की स्वतंत्रता, अस्मिता, और उसके संघर्ष को प्रमुखता देती हैं। आज के समय में जब सामाजिक असमानता, धार्मिक वैमनस्य और विभाजन की राजनीति बढ़ रही उनकी रचनाएँ मानवीय मूल्यों और समरसता की वकालत करती हैं।

आज के समय में समस्या ही समस्या है, हर जगह हर तरह की समस्या है अखबार से लेकर टीवी की बहस तथा समाचार प्रतिपल इस बात की पुष्टि करता है साथ ही साथ एक प्रश्न हमारे मन में छोड़ जाता है कि समस्या होगी तो समाधान भी होगा। यह सत्य है, होता ही है। हर समस्या का समाधान होता ही है। परंतु वो समाधान करने वाले लोग जिनसे कुछ करने की उम्मीद होती है, स्वयं जब समस्या को बढ़ाना प्रारंभ कर देते हैं तब समाधान की उम्मीद दम तोड़ देती है चारों ओर दिमाग के घोड़े दौड़ाने के बाद यह बात समझ आई की कोई भी व्यक्ति अपने मन से कोई काम नहीं करना चाहता वह बनी बनाई व्यवस्था पर चलना चाहता है। लालफीताशाही की आड़ में किसी भी कार्यालय में काम न करने का आसान बहना है। कोई भी बुरा नहीं बनना चाहता पूरे सिस्टम में सब एक ही शैली पर काम कर रहे हैं, कि काम नहीं करना है।

यद्यपि यह बात भी सत्य है कि कई बार कुछ व्यक्ति हर जगह देखे जाते हैं जो पूरे मन से अपना कार्य करते हैं। उनके आपने अन्य सहयोगियों के साथ में लड़ाई झगड़ा भी हो जाते हैं। या फिर भीड़ अपना दबाव बनाकर कार्य कराने की कोशिश करती है। इन्हीं सब बातों और घटनाओं के बावजूद ऑफिस में काम करने वाले कर्मचारियों के मन में इस तरह से काम करने की भावना रहती है जैसे उन्होंने अपने सीनियर को करके तरक्की पाते देखा है। वह उन्हें ही अपना आदर्श मानकर कार्य करता है और यही पूरे तंत्र के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। वर्मा जी की ये पंक्तियां इस पर सटीक बैठती हैं।

'दफ्तर में पिटने दुनिया में जाकर चित होने
अथवा निकाले
जाने के बाद
क्या होता है पीटकर आने के बाद में
सोचता हूं मुझको
मतलब नहीं जहान से मुझको बना है वह
जो मुझसे
पहले हो गए हैं , पिटने, चित होने, निकाले जाने के बाद।''

साथ ही साथ इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या इतनी ज्यादा होती जा रही है कि यह उनको भी काम करने नहीं देते जो करना चाहते हैं। इनका स्वयं पर इतना विश्वास है या घमंड कहना चाहिए कि उनकी बनी बनाई इस व्यवस्था को कोई भी ईमानदार आदमी नहीं उखाड़ सकता यह इसी नियम पर चलते हैं जो इनके बड़े बेईमान बनाकर गए हैं। वर्मा जी स्वयं कविता के क्षेत्र में ऐसे लोगों से जीवन भर लड़ते रहे हैं वह लिखते हैं कि

''लड़ना पड़ा मुझको जीवन भारजिये
कवियों के दर्प से
जो गुजर गए
मेरे करीब से
गरीब से गरीबों नसीबन नसीब से बनता है
कहता है
व्याकरण
तोड़ो मत नियम को
कुछ भी नहीं रहेगा''

'मुकुटहीन' कविता में श्रीकांत वर्मा ने जो कहा है वह आज के परिदृश्य में एकदम सटीक है।

'इस नग्न शीश पर मुकुट प्रतिष्ठा का,
यदि कभी नहीं आया,
तो कारण है,
यह किसी शक्तिकुल के सिक्कों पर बिका नहीं।
इसकी अपनी मर्यादा है
इसकी अपनी लाचारी है
इसको सोने के वंशी से
बाँशबट की टहनी प्यारी है।'

(मुकुट हीन कविता)

आज हम अपने देश में ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व में यह

देखते हैं कि किस प्रकार पैसे के बल पर कोई भी काम धड़ल्ले से हो रहा है। शक्तिशाली व्यक्ति अपनी शक्ति के प्रभाव से अपना अनैतिक कार्य भी आसानी से कर लेता है। आज यह देखने को मिलता है कि किस प्रकार पदों का बंटवारा महज उन लोगों के बीच हो रहा है जो हमेशा के साथ खड़े रहे हैं अपने ही प्रियजनों को नियुक्ति मिल रही हैं उन्हें पुरस्कृत किया जा रहा है जिन्होंने सत्ता का गुणगान किया है उन कवियों को तथा लेखकों को सर्वोच्च माना गया है जिन्होंने अपना शीश। सिंहासन के समक्ष झुकाए रखा। वे सभी जिन्होंने सत्य को सत्य लिखा कभी सराहना के पात्र नहीं बने। जिन्होंने अपनी मर्यादा नहीं खोई तथा प्रतिकूल स्थिति में भी अपना अस्तित्व बनाए रखा। उन्हें किसी पुरस्कार से ज्यादा मान सम्मान प्रिय रहा। उनका अपना अस्तित्व है, उन्होंने कभी किसी लाभ की चाह नहीं रखी,ना ही मिला परन्तु वे अपने काम से जाने गए। जो शक्तिकुल के सिक्कों पर बिक गए उन्होंने अपने अस्तित्व को खो दिया।

अंतर्द्वंद्व कविता में वर्मा जी ने व्यक्ति मन की उस स्थिति का वर्णन किया है जिसमे व्यक्ति सही और गलत का फैसला नहीं कर पाता। निम्न पंक्तियां इस बात की ओर इशारा करती हैं।

''मैं जो इस ओर नहीं और न उस ओर
मेरा क्या होगा ?
मेरे मन में अशांति, कोलाहल, शोर
मेरा क्या होगा ?
अथवा ये दोनों, दो मेरे ही छोर।
मैं जो इस ओर नहीं और न उस ओर॥''

किसी भी संक्रमण काल में जो लोग सत्ता से जुड़े रहते हैं उन्हें तो पता होता है कि सच क्या है ? परंतु आम जन को सिर्फ वही बताया जाता है जो सत्ताधारियों के हित में रहता है। आम व्यक्ति यद्यपि यह सोचता है कि सब कुछ उसके करने भर से हो रहा है परंतु ऐसा नहीं है। आज के समय असली लड़ाई सही और गलत के बीच की नहीं रही है बल्कि गलत और कम गलत के बीच की है समाज का। पढ़ा-लिखा वर्ग इस बात का ध्यान रखता है कि उसे किसको चुनना है और कई बार निर्णय नहीं कर पाता क्योंकि उसने जिसे गलत माना वहीं दूसरी पार्टी की ओर से चुनाव लड़ रहा है।ऐसी स्थिति में व्यक्ति के मन में अंतर्द्वंद्व चलता है और देश के कई आधुनिक शहरों में नोटा की संस्था बढ़ जाती है। वर्मा जी के कविता में इसी अंतर्द्वंद्व को दिखाया गया है।

श्रीकांत वर्मा की भाषा सहज, किन्तु प्रभावशाली है। वे प्रतीकों, मिथकों और ऐतिहासिक संदर्भों का उपयोग करके अत्यंत गहराई से सामाजिक यथार्थ को प्रकट करते हैं।

आज के पाठक और कवि, जो सरल भाषा में गंभीर मुद्दों को कहना चाहते हैं, उनके लेखन से प्रेरणा ले सकते हैं।

निष्कर्ष:

श्रीकांत वर्मा की कविताएँ आज के युग में सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों में अत्यंत प्रासंगिक हैं। वे हमें न केवल इतिहास को समझने में मदद करती हैं, बल्कि वर्तमान को भी आलोचनात्मक दृष्टि से देखने और भविष्य के लिए सजग रहने की प्रेरणा देती हैं। उनकी कविताएँ साहित्यिक चेतना के साथ-साथ नागरिक चेतना को भी जाग्रत करती है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रीकांत वर्मा रचनावली भाग-1, राजकमल प्रकाशन, संपादक अरविंद त्रिपाठी, पृष्ठ-88
2. श्रीकांत वर्मा रचनावली भाग-1, राजकमल प्रकाशन, संपादक अरविंद त्रिपाठी, पृष्ठ-124
3. श्रीकांत वर्मा रचनावली भाग-1, राजकमल प्रकाशन, संपादक अरविंद त्रिपाठी, पृष्ठ-256
4. दीनारंभ कविता संग्रह, श्रीकांत वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. गरूण किसने देखा है, श्रीकांत वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
6. मगध, श्रीकांत वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
7. हस्तक्षेप कविता, श्रीकांत वर्मा, अंतरा (भाग-१), पृष्ठ-148, एनसीईआरटी, संस्करण 2022
8. प्रतिनिधि कविताएँ, पृष्ठ 26, श्रीकांत वर्मा, राजकमल प्रकाशन, 1992 (नगर निवासी कविता)
9. प्रतिनिधि कविताएँ, पृष्ठ 70, श्रीकांत वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992
10. दिल्ली कृति, नवम्बर-दिसम्बर 1960 में प्रकाशित। बाद में दिनारंभ में संकलित।

हिन्दी सिनेमा में रंगों का सौंदर्यबोध संदर्भ 'काला'

डॉ. नीलम कुमारी

भारतीय संस्कृति में रंगों को लेकर अपना ही सौन्दर्यबोध है। डॉ. आंबेडकर प्राचीन हिंदू-सभ्यता की सर्वोत्तम साहित्यिक अभिव्यक्ति कालिदास से देते हुए कहते हैं- ''कालिदास ने तन्वीश्यामा को स्त्री का एक आदर्श रूप कहा है। अर्थात् श्याम वर्णीय स्त्री। राम और कृष्ण पौराणिक नायकों को श्याम वर्णीय ही कहा गया है।''[1] दूसरी तरफ काला रंग को अंधकार का प्रतीक भी कहा जाता है। जबकि सफेद सात्विक प्रवृत्ति का। सूरदास ने कृष्ण के पीले पीतांबर को महत्व दिया है। लाल रंग को क्रांति का और नीला रंग ज्ञान का प्रतीक है। आंबेडकर और कांशीराम ने नीला रंग को बहुत महत्व दिया है।

भौगोलिक दृष्टि से दक्षिण भारत के लोग श्याम वर्ण के हैं। जबकि उत्तर भारत के गेहूं वर्ण के। ब्रिटिश साम्राज्य की दृष्टि में सभी भारतीय काले थे। रंगभेद की हीन प्रवृत्ति तभी से भारतीयों में प्रवेश कर गई। तभी तो बाजार में गोरा बनाने की क्रीम और लोशन की भरमार हैं। चमड़े का रंग बदलने के लिए। अनेक बार रंग को लेकर राजनीति का बाजार बहुत गर्म रहा है। बाजार की राजनीति में रंग को लेकर पूरे विश्व की राजनीति ही चल रही है। संसद में शरद यादव की वह बहस कौन भूल सकता है जिसमें उन्होंने 'बाजार में गोरा बनाने वाली क्रीम' पर शानदार भाषण दिया था। वहीं वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर कहते हैं कि-'काला रंग ही सत्य प्रतीत होता है। सफेद तो कुछ समय का सहायक होता है अंत में तो काला ही सार्वभौमिक बन जाता है।'

'काला' करियन पी. रंजीत द्वारा निर्देशित फिल्म है। जिसमें रजनीकांत ने मुख्य भूमिका निभाई है। रजनीकांत की इससे पहले अनेक कई भाषाओं में फिल्में आ चुकी हैं; जैसे रोबोट, कबाली आदि। दक्षिण भारत की फिल्मों की खास स्टाईल हैं जिनमें मारधाड़ और अवास्तविकता की भरमार होती है। जैसा कि इस फिल्म में भी है। रजनीकांत की खास बात उनका स्टाईल है जैसे सिगरेट को उंगली पर नचाना और नचाकर होठों से लगाना। चश्मे को उंगलियों पर घुमना और आंखों पर लगाना आदि। बाजार की दृष्टि से यह फिल्में अच्छा-खासा पैसा बनाती हैं। परंतु कुछ ऐसी फिल्में भी हैं; जो सामाजिक दृष्टि से समाज को प्रभावित भी करती हैं। 'काला' पा. रंजीत के निर्देशन में 2018 में रिलीज हुई। फिल्म के निर्माता धनुष है जिसका बजट था 1.4 बिलियन। फिल्म में नायक के भूमिका में थे दक्षिण भारत के सुपरस्टार रजनीकांत।

सामाजिक दृष्टि से काला महत्वपूर्ण फिल्म है। फिल्म देखने के बाद मेरी जिज्ञासा रजनीकांत के बारे में लोगों के विचारों को जानने की थी। संयोग हुआ कि मेरा तमिलनाडु जाना हुआ। कार के ड्राईवर और दूसरे लोगों के बताने पर पता चला कि रजनीकांत को तमिल जनता सिर आंखों पर रखती हैं। कई लोगों ने तो यह भी बताया कि उनके नाम पर मंदिर भी बनाये गये हैं। इसीलिए रजनीकांत दक्षिण भारत के नायक हैं। जिनकी नकल हिन्दी सिनेमा में खूब होती है।

फिल्म की शुरुआत मानव सभ्यता के विकास से होती है। जहां मानव अपनी जरूरत के हिसाब से जमीन का उपयोग करता था। परंतु समय के साथ मानव में लालच आ जाता है। जिसके कारण समाज में कुछ खास वर्ग और वर्ण बनते हैं जो प्राकृतिक संपदा को अपने अधीन करने लगते हैं। यही खास

वर्ग समाज में अपने लालच के लिए जाति की शुरुआत करता है और जातिवाद को बढ़ावा देता है। डॉ. आंबेडकर ने जातिवाद को लेकर कहा है कि –''यदि रक्त-भेद की दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय समाज विजातीय है, हां यह संकलन सांस्कृतिक रूप से अत्यंत गुंथा हुआ है। इसी आधार पर मेरा कहना कि इस प्रायद्वीप को छोड़कर संसार का कोई देश ऐसा नहीं है, जिसमें इतरी सांस्कृतिक समरसता हो।...इसी सांस्कृतिक एकरूपता के कारण जातिप्रथा इतनी विकराल समस्या बन गई है कि उसकी व्याख्या करना कठिन कार्य है।''[2] जिसके कारण देश की बहुत बड़ी आबादी जिसे आज दलित कहते हैं; सामने आती है। इस दलित व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है 'काला' अर्थात् फिल्म का नायक रजनीकांत।

काला के पूर्वज दक्षिण भारत से लालन-पालन के लिए मुंबई आता है। जहां नायक के पूर्वज और दूसरे लोग एक दलदल जमीन को रहने लायक बनाते हैं जिसका नाम –धारावी है। यह मुंबई का पिछड़ा एरिया जिसे स्लम भी कहते हैं। जिस पर क्षेत्र के राजनेता नाना पाटेकर अर्थात् हरि मल्टीस्टोरी बनाना चाहता है और क्षेत्र के दलितों, पिछड़ों को जमीन से बेदखल करना चाहता है। नायक काला राजनेता के मंसूबों को पूरा नहीं होने देता और विरोध की आवाज बनकर सामने आता है। काला के पास केवल धारावी की जनता के साहस और सहयोग के अलावा और कुछ नहीं है जबकि राजनेता हरि के पास राज्य का शासन-प्रशासन, धन दौलत, और मसल-पावर सब कुछ है। राजनीति का यथार्थ चित्रात्मक शैली में चित्रित होता दिखता है। एक तरफ काला है; जो श्रम समाज का नेतृत्व करता है तो दूसरी तरफ हरि जातिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। काला नायक आंबेडकरवादी संस्कृति का संवाहक बना है तो हरि जातिवादी संस्कृति का। निर्देशक ने फिल्म में दोनों 'कल्चर' को बेबाकी से प्रस्तुत कर दिया है। फिल्म का आंतरिक विचार प्रवाह आंबेडकरवादी स्तर पर किया गया है।

हिन्दी सिनेमा में दलित सवालों को गांधीवादी दर्शन से दिखाने का प्रचलन था। जहां दलित पात्र या तो गिड़गिड़ाता था, रोता था और अपने भाग्य को कोसता था। वह अपनी वर्तमान स्थिति को ईश्वरीय विधान मानकर चुप लगा जाता था। दलितों की अनेक पीढ़ियां मानसिक और शारीरिक गुलामी को जीने के लिए पैदा होती थीं। महिलाओं के साथ गांव का दबंग जातिवादी-हिंसक पुरुष बलात्कारी की भूमिका में होता था। मानो कि भारत के सम्पूर्ण दलित समाज का यही सच हो? जबकि दूसरी तरफ दलितों का संघर्षमय, श्रमणशील और गौरवमय इतिहास रहा जिसको भारतीय सिनेमा ने लंबे समय तक दर्शकों को दिखाने का सोचा ही नहीं या कुछ और कारण था।

भारतीय सिनेमा ने जातिवादी पत्रकारिता की तरह सिनेमा में भी जातिवाद को बढ़ावा दिया। किसी निर्देशक ने गरीबी को परोसा तो किसी ने रोमानी प्रेम को। वहीं पुरुष नायकों का फिल्मी नगरी पर कब्जा रहा है। डॉ. आंबेडकर के शब्दों में कहूं –'पत्र के क्लार्कों द्वारा लिखा गया लेखन पत्र के क्लार्कों के लिए' की तर्ज पर केवल अपने 'वर्चस्व' और मनोरंजन का माध्यम बना लिया। सवर्ण जातिवादी फिल्मकारों जिसमें निर्माता-निर्देशक, कलाकारों और पत्रकारिता आदि पर शुरू से कब्जा करके रखा है। पत्रकारिता और सिनेमा को लोकतांत्रिक, स्वतंत्र और निष्पक्ष बनने ही नहीं दिया। वह भलीभांति जानते हैं कि दर्शकों की मानसिकता को बदलने में यह दोनों माध्यम ही सबसे ज्यादा कारगर है। डॉ. आंबेडकर ने फिल्म इंडिया पत्रिका के जून 1942 के अंक के एक साक्षात्कार में कहा है –''Films are with in the reach of all and I wish they spread about in every nook and corner of the country, because they perform this much-needed task of providing relaxation to our highly-strung people."[3]

भारतीय सिनेमा के फिल्मकारों ने समाज की जातिवादी मानसिकता को बदलने पर ज्यादा काम नहीं किया। अगर किया होता तो देश की जनता को वह सच देखने को मिलता जिससे भारतीय सिनेमा का फलक और विस्तार पाता। कुछ चंद फिल्मों को अगर छोड़ दिया जाए। फिल्मों में समाज को दिशा दिखाने और समाज सेवा का भाव होना चाहिए, डॉ. आंबेडकर कहते हैं –''If my message has any value to readers of "filmindia". I shall ask them to take as varied and as absorbing as possible an interest in films and their manifold uses for social well-being and social service.''[4]

बौद्ध विहार क्रांति के विचार के प्रतीक के रूप में सामने आता है। जहां पर नायक अपने आंदोलन की घोषणा करता है। बौद्ध संस्कृति इस देश की प्रारंभिक संस्कृति में से एक हैं। जहां पर शुद्रों को पहली बार स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व

का मंच मिला था। वर्तमान में बहुजन संस्कृति के रूप में नजर आती है। अत: 'काला' में यह संस्कृति प्रतीक रूप में प्रस्तुत होती है। फिल्म में काला और हरि के संवाद इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण बन जाते हैं। काला रंग श्रमणशील संस्कृति का प्रतीक है; देश की सबसे बड़ी आबादी हैं जो सर्दी, गर्मी, बारिस आदि मौसम में हाड़तोड़ मेहनत करके अपना जीवन-यापन करती हैं। जबकि दूसरी ओर जातिवादी और पूंजीवादी संस्कृति के प्रतीक जो केवल हर समय मुनाफा और दूसरों को गिराकर आगे बढ़ने के द्योतक हैं।

काला केवल काली रंग की लुंगी और कमीज पहनता है। जबकि बनियान नीले रंग की। नीला रंग डॉ. आंबेडकर और उनके विचारधारा का प्रतीक है। जो आज बहुजन राजनीति का पर्याय बन चुका है। फिल्म के अंत में लाल रंग के महत्व को बताया गया है। जो क्रांति का प्रतीक है। काला-नीला-लाल-सफेद आदि रंग अनेक विचारधाओं के द्योतक बन जाते हैं। कहा जा सकता है कि फिल्म में रंगों के माध्यम से विचारों को प्रस्तुत करने सफल प्रयास किया गया है।

रंग के प्रतीक और बिंब चित्रात्मक शैली में सामने आते हैं जो फिल्म को ओर भी महत्वपूर्ण बना देते हैं। लुंगी दक्षिण भारत और धोती उत्तर भारत की प्रतीक है। शाहरूख खान लुंगी डांस पर सबको नचा ही चुके हैं। यहां लुंगी का पहनना बताता हं कि भारत किसी एक संस्कृति का देश नहीं है बल्कि यह देश अनेक संस्कृतियों को अपने अंदर समाये हुए हैं। जिसमें लुंगी भी एक है। मुंबई पर एक समय तो लुंगी वालों का शासन भी रहा है। कहीं न कहीं उस लुंगी वर्चस्व को भी काला दिखाने का प्रयास भी करती है। जब भी कभी मारधाड़ वाले दृश्य आते हैं, तब नायक अपनी लुंगी को हल्का से झटका देकर फाइट करता नजर आता है। एन.जी.ओ. की राजनीति की सच्चाई को भी फिल्म में देखा जा सकता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में जो काम सरकार का होना चाहिए वह काम पूंजीवादी व्यवस्था ने एनजीओ ने ले ली है। यह व्यवस्था एक तरह से ब्रोकर का काम करते हैं।

नव-उदारवादी और पूंजीवादी व्यवस्था देश में जब से लागू हुई है तब से सरकारों ने जनता की समस्याओं की जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया है और वह सभी काम एनजीओ को सौप दिये हैं। यह एनजीओ जनता को प्रलोभन देकर देशी-विदेशी पूंजी को डकार जाते हैं। जरीना और उनके जैसे दूसरे सहयोगी पात्र इन्हीं एनजीओ के प्रतीक हैं। जो जमीन सीधे-सीधे सरकार नहीं ले पा रही है उस काम को एनजीओ से करवाने का रास्ता निकाला जाता है। धारावी की जनता को प्रलोभन दिया जाता है कि धोबीधाट खत्म करके यहां मल्टीस्टोरी बनाई जाएगी। जिसमें सभी को एक फ्लैट दिया जाएगा। नायक काला के पास अनुभव संचित ज्ञान है, जो बताता है कि अगर धारावी की जनता ने यह जमीन बिल्डर को दे दी तो वह अपनी जड़ों से बेदखल हो जाएगा। तब उसके पास कुछ नहीं बचेगा न अपना खोली, न रोटी-रोजगार और न अपनी संस्कृति...।

नवें दशक के बाद के भारतीय समाज के विस्थापन को यहां देखा जा सकता है। काला अपने बेटे लेनिन को समझाता है कि श्रमिकों और दलितों को समूह बनाकर एकताबद्ध होकर रहना चाहिए। जो जातिवादी समाज हमारे घर का पानी नहीं पी सकता वह हमें कोई सहूलियत नहीं दे सकता। यह तो संविधान का तकाजा है कि दलित यहां हैं नहीं तो उन्हें कहीं ओर फेंक दिया जाता। 'जड़ों को पहचानो और उन्हें मजबूत करो' तभी दलित समाज जिंदा रह सकता है।

काला नायक दलित समाज के नेतृत्व का प्रतीक बन गया है। दलित राजनीति में डॉ. आंबेडकर मील का पत्थर बनकर सामने आते हैं। जिसका नेतृत्व कुछ हद तक दलित नायकों ने पूरा किया था। जिस प्रकार काला की पत्नी और बेटा दलितों के अधिकारों के लिये शहीद होते हैं। स्वतंत्रता और समानता बिना संघर्ष के नहीं मिलती। वह संघर्ष डॉ. आंबेडकर के अनुसार अहिंसक और शांतिपूर्वक होना चाहिए। तभी दलितों को उनकी जड़ों से उखड़ने से बचायेगा और संविधान सम्मत उनके अधिकारों को दिलवायेगा। एक बात तो मैं यहां जो देकर कहना चाहती हूं कि रजनीकांत ने भारतीय सिनेमा में अपना नाम इतिहास के पन्नों में दर्ज करा दिया है। जो काम सदी के मिलेनियम स्टार नहीं कर पायं; वह काम दक्षिण भारत के नायक ने कर दिया। अखिल भारतीय स्तर पर जब तक सिनेमा रहेगा तब तक यह पात्र जिंदा रहेगा।

अंत में काला करियन सभी रंगों के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक विविधताओं को अपने अंदर समेट लेता है। काला अनपढ़ होने के बावजूद बहुजनों को अपने बच्चों को पढ़ाने पर जोर देता है। शिक्षा ही वह शक्ति है जो सही और गलत की परख कराती है। बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के शब्दों में 'शिक्षा शेरनी का दूध है, जो पियेगा वह दहाड़ेगा' में साकार हो चुकी है। बहुजन अपने अस्तित्व को बचाने के लिए आंदोलन

करता है। अर्थात् बहुजन की संस्कृति कभी भी हिंसा की नहीं रही है। यह आंदोलन काला के खत्म होने के बावजूद भी धारावी की जनता जारी रखती है। जो भविष्य की राजनीति को भी तय करती है। 'जय भीम' के नारे को जनमानस में काला संचारित कर देता है। बाद के दिनों में इस लिस्ट में कई और भी फिल्में आई हैं; जिन्होंने भारतीय समाज को सामाजिक चेतना से प्रबुद्ध किया है।

एसोसिएट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मधु लिमये, डॉ. आंबेडकर : एक चिंतन, पृ. 27
2. बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ.18
3. फिल्म इंडिया, पत्रिका, पृ. 48
4. वही, पृ. 49

Prof. Girish Chandra Pant ***(Project Director)***
Dr. Ishrat Sultana ***(Research Associate)***
Mukul Badola ***(Research Assistant)***
ICSSR Major Research Project Department of Sanskrit, Jamia Milia Islamia Jamia Nagar, New Delhi

संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्रता संग्राम का परिदृश्य 'सन् 1857 से 1947 तक'

''पित्रोर्गुरोश्चाधिगतार्थविद्यो, वीरानुरक्तः सवयोभिरावृतः। स्वराज्यसंस्थापननिश्चतव्रतो, गर्जत्ययं केसरिणःकिशोरः॥''[1]

वर्षों से पराधीन भारतवर्ष को स्वतन्त्र कराने के उद्देश्य से भारतवासियों द्वारा सम्पूर्ण देश में संघर्ष हो रहे थे, जहाँ एक ओर क्रांतिकारी दल अंग्रेजों के विरुद्ध पूरे उत्साह और शक्ति के साथ रणभूमि में स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु संघर्षरत थे वहीं दूसरी ओर भारतीय साहित्यकार अंग्रेजी शासन के विरुद्ध क्रांतिकारी विचारों को अपनी लेखनी के माध्यम से जनसामान्य के मध्य फैला कर स्वाधीनता संग्राम में प्रतिभागी बनने का गौरव प्राप्त कर रहे थे। साहित्य एक ऐसा साधन है जो किसी भी देश का किसी भी काल में उनकी संस्कृति एवं सभ्यता का ज्ञान कराता है। यह एक ऐसा दर्पण भी है जिसमें देश की तत्कालीन व्यवस्था एवं समय-समय पर घटित होने वाली घटनाओं का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। हर देश के साहित्यकार अपने आस पास के परिवेशों से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं में तत्कालीन समाज के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। साहित्य के इसी वैशिष्ट्य के कारण देश के प्राक् इतिहास को जानना सम्भव हो पाता है। भारत में अंग्रेजों के शासनकाल में समाज को जागरूक करने के लिए तथा उनके हृदय में स्वतंत्रता का महत्त्व एवं स्वराजप्रेम की भावना को जागृत करने के लिए भारतीय साहित्यकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतन्त्रता संग्राम कालीन भारतीय साहित्य में संस्कृत साहित्य अग्रगण्य रहा है। स्वतन्त्रता संग्राम की भावना को जागृत करने वाले कारक, जो तत्कालीन ऐतिहासिक स्वतन्त्रता समर में एक पृष्ठभूमि के रूप में कार्य कर रहे थे, उन तत्त्वों के ज्वलन्त प्रमाण हमें संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। सर्वविदित है कि संस्कृत साहित्य न केवल भारतीय संस्कृति का संवाहक है अपितु भारतवर्ष की राष्ट्रीय अस्मिता का भी आधार है। यद्यपि उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी में रचित संस्कृत साहित्य में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम एवं राष्ट्रीयता की भावना का बाहुल्य रहा है तथापि इस भावना के बीज वैदिक साहित्य में ही वपित थे, ऐसी इतिहासविदों की अवधारणा है। इसकी पुष्टि अथर्ववेदीय भूमि सूक्त के इस मन्त्र से होती है-" माता भूमिःपुत्रोऽहं पृथिव्याः''। तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना को मुखर बनाकर स्वतंत्रता आन्दोलन को सशक्त करने में अन्य भारतीय साहित्यों के समान संस्कृत साहित्य का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वेदों में निहित राष्ट्रीयता की भावना का मूल ही उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के संस्कृत साहित्य में वर्णित स्वतन्त्रता संग्राम हेतु पृष्ठभूमि के रूप में प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है। सन् 1857 से सन् 1947 तक स्वातन्त्र्यसमर को अपनी आँखों से देखने वाले तथा स्वतन्त्रता की भावना को भारतीय जनमानसों के हृदय में जागृत कर इस महान समर का हिस्सा बनने वाले तत्कालीन संस्कृत साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वातं त्र्य संग्राम के इन वर्षों की क्रान्तिमय अवधि में संस्कृत साहित्यकारों के अमूल्य अवदानों को स्वतंत्रताकालीन साहित्यिक क्रान्ति का रूप यदि कहा जाए तो इसमें किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति नही होगी। ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों से त्रस्त होकर संस्कृत साहित्यकारों ने कई स्वतंत्रतापरक साहित्यिक कृतियों की रचना की तथा यत्र-तत्र क्रांतिकारी नाटकों का मञ्चन कर जनसामान्य को स्वतंत्रता एवं स्वराज की प्राप्ति हेतु जागरूक करने का प्रयास किया। निःसंदेह हमें उन साहित्यकारों का अभिवादन करना चाहिए जो निःस्वार्थ भाव से बिना अपने प्राणों की चिन्ता किए अपनी काव्यसर्जना के माध्यम से ब्रिटिश शासन के उन्मूलन हेतु कटिबद्ध होकर मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वहन

करते रहे। स्वाधीनता संग्राम हेतु क्रांतिकारी भावनाएँ संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, गीतिकाव्यों, रूपकों तथा स्वतंत्रता संग्रामकालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्राप्त होते हैं। रामनाथतर्करत्न जी द्वारा रचित राष्ट्रीयता एवं स्वतंत्रता की भावना से परिपूर्ण 'वासुदेवविजयम्' महाकाव्य में भगवान श्रीकृष्ण के कथोपकथन के माध्यम से कर्म एवं स्वतंत्रता के माहात्म्य को दर्शाते हुए कहा गया है कि पराधीनता व्यक्ति को नष्ट कर देती है तथा दासता व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है। पराधीनता से अच्छा है कि मृत्यु आ जाए-

''हिनस्ति शौर्यं सुरुचिं रूणद्धि भिनत्ति चित्तं विवृणोति वित्तम।
पिनष्टिं नीतिञ्च युनक्ति दास्यं हा पारतन्त्र्य निरयं व्यनक्ति॥
असुव्यपायेष्व पि नो जहीमः स्वतंत्रतांन्त्रमतन्द्रिणोऽद्य।
उपागतायां परतन्त्रतायां यशोछनानां शरणं हि मृत्यु॥''[2]

सन् 1906 ईस्वी में अखिलानन्दशर्मा विरचित 'दयानन्ददिग्विजय' महाकाव्य में उन्नीसवीं सदी के सामाजिक परिदृश्य को सुचित्रित करते हुए स्वदेशी शासन, स्वतंत्रता, स्वदेशी चिकित्सा आदि के विषय में कहा गया है। इक्कीस सर्गों में विरचित दयानन्ददिग्विजय महाकाव्य में महर्षि ने भारत वर्ष की दयनीय दशा का वर्णन तथा राष्ट्रप्रेम व चिंतन को व्यक्त किया है-

''केयमस्य भुवनस्य दुर्दशा
संगतास्ति पर्मेश्वर! प्रभो!
या न याति विलयं कुबुद्धिभि
र्वर्द्धिता प्रतिदिनं विवर्धते॥''[3]

सन् 1938 एवं 1943 ईस्वी में दो भागों में मेधाव्रताचार्य द्वारा विरचित 'दयानन्ददिग्विजय' महाकाव्य में भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीय भावना जागृत कर उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया गया कि भारतवर्ष के वैदिक धर्म के ह्रास के कारण ही राष्ट्रघातक अज्ञान का प्रसार हुआ तथा असंयमित जीवनचर्या एवं संस्कार के क्षय से भारतीयों में अध्यात्मवाद का लोप एवं भोगवाद का उदय होने से अंग्रेज शासक भारतीयों के मध्य पाँव पसारने में सफल हुए।[4] इस महाकाव्य में राष्ट्रद्रोह[5], राजाओं के मध्य पारस्परिक द्वेष[6], देशभक्तों की निर्धनता, धर्म पर अधर्म का विस्तार आदि को भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य विस्तार का कारण बताया गया है। उन्होंने अंग्रेजों की भेदनीति की भी मुक्तकण्ठ से निंदा की है। इस महाकाव्य में विलासिता के कारण तत्कालीन राजगणों का शौर्यहीन होकर तथा 600 भारतीय राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन उनके करदाता बन जाने की बात कही गयी है-

''बृटीशसाम्राज्यवशंवदानां राज्यानि राज्ञां करदीकृतानीम्।
विलासितासादितविक्रमाणां तदात्र रेजुस्त्रिशतद्वयानाम्॥''[7]

जब भारत अंग्रेजी शासन के अधीन दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था तथा पराधीन भारतीयों का अस्तित्व संकट में था तभी आधुनिक संस्कृत साहित्य जगत की महान विभूति विदुषी महिला रचनाकार पंडिता क्षमाराव ने स्वतंत्रता संग्राम से प्रभावित होकर देश प्रेम एवं स्वतंत्रता की भावना से ओत प्रोत 'सत्याग्रहगीता' नामक महाकाव्य की रचना की, जो क्रमशः 'सत्याग्रहगीता', 'उत्तरसत्याग्रहगीता' तथा 'स्वराज्यविजयः' तीन भागों में विभक्त है। पंडिता क्षमाराव 1926 में स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए महात्मा गाँधी के आश्रम साबरमती भी गयीं परन्तु स्वयं की स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण उन्हें वापस लौटना पड़ा। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने की पण्डिता क्षमाराव की प्रबल इच्छा नें उन्हें स्वतंत्रतापरक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया। सत्याग्रहगीता नामक अपने स्वतंत्रतापरक महाकाव्य के प्रथम भाग में उन्होंने भारतीयों पर शासन कर रहे अंग्रेज अधिकारियों की दमनकारी नीतियों, पराधीन पीड़ित भारतीयों की दयनीय स्थितियों तथा स्वतंत्रता आन्दोलनकारियों द्वारा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध समय समय पर किए जाने वाले आन्दोलनों का ऐसा सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया, जिसने पाठकों के मन मस्तिष्क पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वतंत्रता के वैशिष्ट्य एवं राष्ट्रियता के महत्त्व तथा गीता के उपदेशों एवं महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक विचारों को भी नवीन रूप में प्रस्तुत कर लिपिबद्ध किया। तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यानमें रखते हुए ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा क्रान्ति की भावना को उत्तेजित करने वाली रचनाओं के प्रकाशन पर लगे प्रतिबन्ध के कारण सत्याग्रहगीता 1931 ई. में पेरिस से प्रकाशित हुई जिसने परतन्त्र भारतीयों के समक्ष स्वतन्त्रता संग्राम एवं राष्ट्रीयता की एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिसका सफल परिणाम गाँधी इरविन समझौते के बाद से लेकर 1947 ई. तक के स्वतंत्रता संग्राम तक समय-समय पर प्रयोजनवत् प्रतिबिम्बित होता रहा। स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के वैशिष्ट्य के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन पराधीन भारतवासियों को स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीयता के वैशिष्ट्य से परिचित कराने के उद्देश्य से पंडिता क्षमाराव ने अनेक प्रभावपूर्ण तथ्यों को लिपिबद्ध करते हए कहा किअपने देश के प्रेम में विवश होकर मन्दबुद्धि वाली मैं गाने के लिए विवश हो गयी-

''तथापि देशभक्त्याहं जातामि विवशीकृता।
अत एवास्मि तद्गातुमुद्यता मन्दधीरपि॥''[8]

अपने इस स्वतन्त्रतापरक ग्रंथ में पण्डिता क्षमाराव ने तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों की ओर संकेत करते हुए पाठकों को सम्बोधित किया है। अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने हृदय को उद्वेलित कर देने वाली बात कहते हुए लिखा कि भारतवर्ष को लूटने के लिए लोभी अंग्रेजों द्वारा यहाँ राज्य स्थापित किया गया है। उस बात के साक्षी यहाँ के लोगों के हड्डियों के पञ्जर ही दे रहे हैं-

''इहाङ्ग्लैः स्थापितं राज्यं देशलुण्ठनलोलुपैः।
इत्यस्थिपञ्जरा एव जनानामात्र साक्षिणः॥''[9]

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त स्वामी भगवदाचार्य ने 'महात्मागान्धिचरितम्' नामक त्रिखण्डात्मक महाकाव्य की रचना की, जिसमें क्रमशः 'भारतपारिजतम्', 'पारिजातपहार' तथा 'पारिजातसौरभ' तीन ग्रन्थ हैं जिनमें भी स्वतन्त्रता संग्राम के तत्त्व विद्यमान हैं। स्वतंत्रता संग्राम की भावना को जागृत करने वाले स्वतंत्रताकलीन संस्कृत ग्रंथों में अम्बिकादत्त-व्यासकृत 'शिवराजविजय' गद्यकाव्य, गंगाधरशास्त्रीकृत 'अविलाससंलाप', श्रीनारायणपत त्रिपाठीकृत 'भारतमातृमाला', ब्रह्मश्री कपाली शास्त्रीकृत 'भारतीस्तव', उमापतिशर्मा द्विवेदीकृत 'पारिजातहरणमहाकाव्यम', श्रीपीदशास्त्री हसूरकरकृत 'पृथ्वीराजचव्हाणचरितम्', गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत 'आर्योदयम्' आदि।

स्वतंत्रता संग्राम में तत्कालीन संस्कृत नाटकों का बहुत अधिक योगदान रहा है। भारतवासियों को अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने एवं क्रांति के लिए उत्तेजित करने के उद्देश्य से भारतवर्ष में जगह-जगह इन नाटकों का मञ्चन भी किया जाता था। मूलशंकर-माणिकलालयाज्ञिक ने भारतवासियों के हृदय में राष्ट्रभावना जागृत हेतु 'प्रतापविजयम्' और 'छत्रपतिसाम्राज्यम्' जैसे महान नाटकों का प्रणयन किया। इन नाटकों में वर्णित नायकों के माध्यम से जनसामान्य को संदेश देने का प्रयास किया गया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए लाखों कष्ट झेलकर भी हमें अथक प्रयास करना चाहिए। मथुराप्रसाद जी की शास्त्रों में अभिरुचि विद्यार्थी जीवनकाल से ही थी, साथ ही साथ देशप्रेम की असीम भावना भी उनके अन्दर समाहित थी। सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि दीक्षित जी की रचनाओं में देशभक्ति पर आधारित काव्य मिलते हैं जो कि क्रान्तिकारी की भावना से ओत प्रोत होने के कारण भारतवासियों में स्वतंत्रता संग्राम कीभावना जागृत करती हैं। उन्होंने स्वतंत्रता पर आधारित 'भारतविजयम्', 'वीरप्रतापम्' तथा 'गांधीविजयम्' नाटकों की रचना की। भारतविजयम् नाटक में जहाँ मथुराप्रसाद जी ने स्पष्ट रूप से अंग्रेजों द्वारा भारतीय शासन व्यवस्था को भारतवासियों के सुपुर्द कर वापस लौटने की बात कही है वहीं उन्होंने भारत को पराधीन बनाने वाली विदेशी शक्ति के कुकृत्य को भी दर्शाते हुए कहा हैं-

''व्यापारेणात्मकृत्यं द्रढयति जनतां वर्तयन्नीशुभधर्मे,
स्व सङ्घं देशभक्तयोन्नमयति विकिरन्नस्मदीयेषु वैरम्।
आत्मज्ञातिं प्रियोक्तया प्रथयति विषयं मोहयन् दास्यभावे,
बुद्धरेस्य प्रभुत्वं किमु कुनयविदःस्यान्नु दौरात्म्यमेतत्॥''[10]

'अमरमङ्लम्' नाम से पञ्चाननतर्करत्न ने नाटक का प्रणयन किया किया जिसका मञ्चन स्वतंत्रता संग्राम के समय बंगाल देश में हुआ। ए.आर. राजराजवर्मा जिन्होंने 'आंग्लसाम्राज्य महाकाव्य' नामक स्वतंत्रतापरक ग्रंथ का प्रणयन किया था, उन्होंने आंग्लशालनविरोधी 'गैर्वाणीविजयम्' नाटक की भी रचना की। इसके अंतर्गत देवी सरस्वती का अंग्रेजों के प्रति आक्रोश की भावना को दर्शाया गया है-

''कथमिव सहसा समादधेऽहं कलहपदेषु मनाग निष्कृतेषु।
प्रतिपदचरितां कथापराधां वद कथमेकपदे विस्मरामि॥
किं किं नहि करोत्येषा मय्युद्वेजयितुं जनान्।
लिङ्गदोषमृषाव्याधि प्रख्यापनसुदारूणा॥''[11]

इनके अतिरिक्त संस्कृत स्वतंत्रता संग्रामकालीन नाटकों में हरिदाससिद्धान्तवागीशकृत 'मिवारप्रतापम्'-'शिवाजीचरितम्'-'वंगीयप्रतापम्' तथा वेङ्कटराम राघवनकृत 'प्रतापरूद्रविजयम्' आदि नाटक आते हैं।

महाकाव्यों तथा नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में रचित देशभक्ति गीतों की भी रचनाएं संस्कृत मनीषियों द्वारा की गयी। बङ्किमचन्द्र चटर्जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से जो राष्ट्रगीत ''वन्दे मातरम्'' लिखा गया उसकी प्रारंभ की पंक्तियाँ संस्कृत में लिखी गयीं थीं। वासुदेवद्विवेदी शास्त्री ने महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भारतवासियों को प्रतिभागी बनाने के उद्देश्य से उनके आह्वान हेतु संस्कृत में सैन्यगीत की रचना की-

''सादरं समीयताम्
वन्दना विधीयताम्
श्रद्धया स्वमातृ-भू-समर्चना विधियताम्॥1॥
धीरता न हीयतां....॥''[12]

यह गीत तत्कालीन क्रांतिकारियों के मध्य बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। इनके अतिरिक्त अन्य मनीषियों ने भी संस्कृत में स्वतंत्रतापरक गीतों की रचना की जैसे जानकीवल्लभशास्त्री ने ''आस्थानेऽस्मिन् तरुणकृतिनां...'' महर्षि अरविन्द ने ''नरास्थिमालांनृकपालकाञ्ची ...'', रामनाथपाठक ने ''अहमस्मि रणभेरीरवः प्रतिपक्षि ...'' तथा हरिदत्तपालीवाल ने ''अटलक्रान्तेर्गायत गीतं...'' आदि।[13]

स्वतंत्रता संग्राम के समय भारतवासियों के मध्य तत्कालीन परिस्थितियों एवं संग्राम से संबंधित सूचनाओं के सम्प्रेषण हेतु संस्कृत पत्रिकाओं ने एक अहम् भूमिका निभायी। संस्कृत पत्रिकाओं के माध्यम से स्वतंत्रता संग्राम को आगे ले जाने का श्रेय 'श्री अप्पाशास्त्रिराशिवडेकर' को जाता है। उन्होंने 'सूनृतवादिनी' तथा 'संस्कृतचन्द्रिका' जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन कर स्वतंत्रता संग्राम की आग को और अधिक प्रज्वलित किया। अप्पाशास्त्रीजी ने अंग्रेजों द्वारा लोकमान्य बालगंगाधरतिलक को कारागार में डालने पर उनकी निन्दा करते हुए उनके विषय में ''तिलकमहाशयस्य कारागारनिवासः'' जो लेख लिखा उसके लिये अंग्रेजों ने उन्हें कारागार में डाल दिया। पराधीनता का अर्थ बताते हुए तथा अंग्रेजों के विरुद्ध भारतवासियों की क्रोधाग्नि को और भी अधिक बढ़ाते हुए अप्पाशास्त्रिराशिवडेकर ने अपनी संपादकीय पत्रिका में पञ्जरबद्धः शुकः लेख लिखा, जिसकी प्रथम पंक्ति कुछ इस प्रकार है-

''शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो विविधरत्नचयप्रतिमण्डितः॥''[14]

न केवल अप्पाशास्त्रिराशिवडेकर अपितु सभी संस्कृत पत्रिकाओं के संपादकों ने आंग्लशासन के विरोध में पूरे मनोयोग से अपने लेख लिखे।

निष्कर्ष

भारतवर्ष में अंग्रेजों के आगमन का कारण प्रारम्भ में व्यापार था परन्तु सन् 1757 ईस्वी में प्लासी के युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने यहाँ के शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप कर अपनी शासन की नींव रखी। कुछ ही समय पश्चात् उन्हें इस बात का यथेष्ट ज्ञान हो गया कि भारतीयों पर सम्यक् रूप से शासन हेतु यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को समझना एवं अपने स्वार्थानुसार परिवर्तित करना होगा। इस सन्दर्भ में उन्होंने तत्कालीन संस्कृतभाषा के स्थान पर अंग्रेजीभाषा को अधिक प्रोत्साहित करना प्रारंभ कर दिया। समाज को जागरूक करने के लिए तथा उनके हृदय में स्वतंत्रता एवं स्वराज के महत्त्व की भावना को प्रकाशित करने के लिए तत्कालीन भारतीय साहित्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्रता संग्राम के समय में जिन भारतीय साहित्यों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध रचनाएँ की जा रही थीं उनमें संस्कृत साहित्य सबसे अग्रगण्य थी क्योंकि जब अंग्रेजों ने संस्कृत को मृतभाषा घोषित किया तो सन् 1835 ईस्वी में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सर्वप्रथम संस्कृत विद्वानों ने आवाज उठायी। सन् 1857 ईस्वी से सन् 1947 ईस्वी तक प्रबलतापूर्वक संस्कृत साहित्यकारों ने भारतवासियों के हृदय में अंग्रेजी शासन व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी भावनाएँ तथा स्वदेश प्रेम की भावनाओं को जागृत करने के उद्देश्य से महाकाव्य, रूपकों तथा राष्ट्रगीतों की रचना की। इसके अतिरिक्त संस्कृत मनीषियों द्वारा जनसामान्य के मध्य स्वतंत्रता समर की आग को और अधिक बढ़ाने हेतु संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया गया।

सन्दर्भ सूची

1. छत्रपतिसाम्राज्यम्, प्रथम अंक
2. वासुदेवविजयम्, सर्ग-1
3. दयानंददिग्विजयम्, सर्ग-18
4. वही, सर्ग-2, श्लोक-46
5. वही, सर्ग-2, श्लोक-45
6. वही, सर्ग-2, श्लोक-27
7. वही, सर्ग-2, श्लोक-47
8. सत्याग्रहगीता, प्रथम अध्याय, श्लोक सं-3
9. वही, प्रथम अध्याय, श्लोक सं-26
10. भारतविजयनाटकम्, तृतीय अंक, श्लोक-10
11. संस्कृतसाहित्य का समग्र इतिहास, चतुर्भाग, पृ. 1878
12. स्वाधीनतासङ्ग्रामवीराः संस्कृतोपासकाः, द्वितीय क्रांति, पृ. 52
13. स्वाधीनतासङ्ग्रामवीराः संस्कृतोपासकाः, द्वितीय क्रांति, पृ.52
14. स्वाधीनतासङ्ग्रामवीराः संस्कृतोपासकाः, पृ. 92

सभी संदर्भित रचनाएँ

1. स्वाधीनतासङ्ग्रामवीराःसंस्कृतोपासकाः, रमाकान्तपाण्डेय, केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110058, वर्ष-2023
2. संस्कृत आजकल, हीरालाल शुक्ल, बी.आर. पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली-110052, वर्ष-2017
3. आधुनिक संस्कृत नाटक, रामजी उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वर्ष-2014
4. संस्कृत का समाजशास्त्र, हीरालाल शुक्ल, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष-1989

प्राचीन भारतीय समाज में दाम्पत्य जीवन की सामाजिक-धार्मिक अवधारणा

डॉ. कुसुमकला त्रिपाठी

कूट-शब्द :

दाम्पत्य जीवन, पुनर्विवाह, एकपत्नीत्व, बहुपत्नीत्व, विवाह-विच्छेद, नियोग प्रथा, विधवा विवाह

प्रस्तावना :

हिन्दू समाज में अति प्राचीन काल से विवाह को केवल सामाजिक संस्था न मानकर एक धार्मिक संस्कार के रूप में देखा गया है। ऋग्वैदिक युग से लेकर उपनिषद्, धर्मशास्त्र और पालि-पिटकों तक विवाह को व्यक्ति के जीवन की पूर्णता तथा सामाजिक स्थिरता का अनिवार्य अंग माना गया। नारी को पुरुष की अर्धांगिनी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी तथा विवाहोपरांत ही पुरुष को पूर्ण माना गया।

विवाह की धार्मिक और सामाजिक अवधारणा :

ऋग्वेद कालीन समाज ने गार्हस्थ्य, यज्ञ तथा प्रजोत्पादन के लिए विवाह की अनिवार्यता को अंगीकार किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में नारी का वर्णन पुरुष की अर्धांगिणी के रूप में करते हुए कहा गया है कि जब तक पुरुष विवाहित नहीं हो जाता और न प्रजोत्पादन ही करता है तब तक वह वस्तुतः अपूर्ण रहता है।[1] विवाहोपरान्त ही वह सच्चे अर्थ में पूर्णता को प्राप्त करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विवाह की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि आरम्भ में पुरुष एक था, उसके पश्चात् उसने अपने को दो भागों में विभाजित किया। इस प्रकार नर-नारी की सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।[2] पत्नी को अर्धांगिणी पद पर प्रतिष्ठित करने के कारण ही पत्नी के अभाव में पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया। प्राचीन हिन्दू परिवार में पुत्र का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण था, इस कारण भी पत्नी-पद की अत्यधिक गरिमा रही। ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि पति अपनी पत्नी के गर्भ में प्रवेश कर पुनः पुत्र-रूप में जन्म पाता है।[3] इस प्रकार धर्म और समाज दोनों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह को अनिवार्य बनाया। पालि-पिटकों में भी इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। परन्तु पुरुष की अपेक्षा नारी के लिए विवाह की अनिवार्यता पर अधिक बल दिया गया है और इस सम्बन्ध में उपलब्ध प्रसंगों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में अविवाहित स्त्रियों के प्रति अश्रद्धा की भावना थी। अंगुत्तर निकाय में कहा गया है कि पुरुष नारी का आच्छादन है, आश्रय है और वही उसका अलंकरण है।[4] एक जातक कथा में यह विचार व्यक्त किया गया है कि नारी के शरीर का वास्तविक आच्छादन तो उसका पति ही है, जिसके अभाव में बहुमूल्य वस्त्र धारण करने पर भी वह अपने को निर्वस्त्र ही समझे।[5]

एकपत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व की प्रथा :

हिन्दू-परिवार आदि-काल में पितृ-प्रधान रहा। अतः पुत्र-वृद्धि हेतु बहुपत्नीत्व को समाज में मान्यता मिली। पालि-पिटक में बहु विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मज्झिम निकाय के रट्ठपाल-सुत्त में एक ब्राह्मण गृहपति के पुत्र रट्ठपाल की अनेक भार्याओं का उल्लेख किया गया है। अंगुत्तर-निकाय में चार सुन्दरी पत्नियों वाले एक सुखी-सम्पन्न गृहस्थ का वर्णन मिलता है।[6] थेरीगाथा में थेरी इसिदासी के पूर्वजन्म की कथा के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि उसका विवाह एक श्रेष्ठिपुत्र से हुआ। उस श्रेष्ठिपुत्र को पहले से ही एक भार्या थी जो शीलवती, गुणवती तथा यशवती थी।[7] एक जातक में ऐसे ब्राह्मण की कहानी मिलती है जिसने अपनी चार पुत्रियों का

विवाह एक गुणवान् पुरुष से कर दिया।[8] कहानियों की सत्यता पर अविश्वास करना स्वाभाविक है, परन्तु पारस्कर-गृह्यसूत्र में ब्राह्मण को चार, क्षत्रिय को तीन और वैश्य को दो पत्नियाँ रखने की अनुमित प्रदान की गयी है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में ऐसे प्रसंग भी हैं जिनका प्रयोग सौत को वशीभूत करने के लिए किया जाता था।[9] इसका तात्पर्य यह है कि समाज में बहुपत्नीत्व मान्य था, किन्तु यह कहना कठिन है कि कितने प्रतिशत पुरुष एकाधिक विवाह करते थे। आपस्तम्ब उस समय तक पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं देते हैं जबतक उसकी प्रथम भार्या धर्मकार्य में अपने पति का साथ देने तथा प्रजोत्पादन में समर्थ रहती है। उनके मत में जब प्रथम भार्या धर्मकार्य में अपने पति का साथ देने योग्य न रह जाय अथवा बंध्या हो जाय तभी पुरुष को पुनर्विवाह करना चाहिए।[10] हिन्दू धर्म में पितृऋण की परिकल्पना की गयी है जिसके अनुसार जब तक पुत्रलाभ नहीं होता मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता है। ज्यों-ज्यों यह धारणा प्रबल होती गयी त्यों-त्यों पुत्र का महत्व बढ़ता गया और पुत्र के अभाव में पुनर्विवाह भी आवश्यक होता गया। परन्तु इसे हिन्दू समाज का आदर्श नहीं माना जा सकता है। दम्पती शब्द से एक पति और एक पत्नी के युगल का बोध होता है। धर्मशास्त्र रचयिताओं ने जो व्यवस्था दी है वह बहुपत्नीत्व का समर्थन करना नहीं है। उन्होंने तो अवस्था विशेष में बहुपत्नीकता को मान्यता प्रदान किया। अर्थात् जब पत्नी चिररूग्णता के कारण धर्मकार्य में असमर्थ हो जाय अथवा बश्वझ हो जाय तो पुरुष को अपना पुनर्विवाह करना चाहिए। परन्तु न तो अधिकांश पत्नियाँ चिररूग्णता को प्राप्त करती होंगी और न बांझपन को ही। यह भी ध्यान देने की बात है कि दाम्पत्य सम्बन्ध के मूल में पारस्परिक प्रेमासक्ति की प्रधानता रहती है, जिसके कारण प्राय: पति पुनर्विवाह से विरत होते रहे हैं। इसके साथ ही परिवार की आर्थिक परिस्थिति पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। एकाधिक पत्नियाँ वही व्यक्ति रख सकता है जिसमें उनके भरण-पोषण का सामर्थ्य हो।

उपलब्ध प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुपत्नीकता का प्रचलन मुख्यत: समाज के राजन्य वर्ग तथा अभिजात कुलों में ही सीमित रहा। राजाओं के अन्त:पुरों में सुन्दरियों का सदा जमघट रहता था। कभी युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के कारण तो कभी उपहार में, तो कभी स्वयंवर में उन्हें राजकन्याओं को उपलब्ध करने का सौभाग्य मिलता रहा। महाभारत का कथन है कि राजाओं को बहुपत्नीकता से कोई अधर्म नहीं होता।[11] राजाओं में तो यदा-कदा ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सदृश एक पत्नीव्रती का उदाहरण मिलता है। जातकों में जिन राजाओं का उल्लेख है उनमें एकमात्र सुरूचि ही एक पत्नीव्रती है, शेष बहुपत्नीचारी हैं। जातकों में कहीं तो राजाओं के सैकड़ों रानियों का उल्लेख मिलता है[12] तो कहीं इस विचार की अभिव्यक्ति मिलती है कि सौत का होना स्त्री के लिए अभिशाप है।[13] बुद्ध के समकालीन सभी राजाओं की अनेक पत्नियाँ थीं-बिंविसार, प्रसेनजित्, उदयन, अजातशत्रु सभी बहुपत्नीचारी थे। अत: राजाओं की बहुपत्नीकता में संदेश की बात रह ही नहीं जाती है। नागरिक धनाढ्य थे उनके एकाधिक विवाह करने की सम्भावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। पालि-पिटक से ज्ञात होता है कि विवाह सम्बन्ध निर्धारण में मध्यस्थता तथा पारस्परिक वार्ता का आश्रय लिया जाता था, जिसका उपक्रम होता था वर के अभिभावक द्वारा। वर के माता-पिता अपने पुत्र के लिए उपयुक्त कन्या की तलाश में अपने आदमियों को भेजा करते थे।[14] इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वर स्वयं कन्या को पसन्द करता था। कई माता-पिता इसलिए चिंतित रहा करते थे कि उनकी प्राप्त यौवना कन्या किसी भी वर को पसन्द नहीं आती।[15] इस बात का भी पता चलता है कि विवाह-योग्य कन्या के एकाधिक प्रणयी होने पर सफलता उसी को प्राप्त होती थी जिसके पक्ष में कन्या के पिता का निर्णय होता। अनोपम के अनेक प्रणयी थे जो मूल्यवान उपहार लेकर उसके पास जाते और उसके पिता के पास अपने दूतों को भेजते थे।[16] एक ब्राह्मण की चार कन्याएँ थीं और चारों के एक-एक प्रणयी थे।[17] सामाजिक परम्परा के अनुसार वर-बधू के अभिभावकों द्वारा विवाह-सम्बन्ध के उपक्रम किये जाते थे, परन्तु वयस्क वर-बधू की आकांक्षाओं तथा अभिरूचियों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो जातको में युवतियों के प्रणयियों के उल्लेख नहीं मिलते।

पुनर्विवाह, विधवा-विवाह और नियोग-प्रथा :

प्राचीन भारत के समाज में पुरुष का स्थान नारी के स्थान से उच्च होने के कारण उसने स्वभावत: पुनर्विवाह के अधिकार का उपभोग किया, पर क्या नारी भी पति के मरणोपरान्त अपना पुनर्विवाह करने में स्वतंत्र थी? यह प्रश्न जटिल है और भिन्न-भिन्न काल में विचारकों के मत भी इस विषय में भिन्न रहे। वैदिक काल के समाज में विधवाओं की समस्या का हल

निकाला गया नियोग प्रथा में। नियोग की प्रथा वैदिक भारत में ही सीमित नहीं थी, यह अन्य देशों की तत्कालीन सभ्यताओं में भी प्रचलित थी। वैदिक समाज में न केवल नियोग, परन्तु विधवा विवाह को भी मान्यता मिली, इसके कतिपय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार यदि पुनर्भूनारी अपने नये पति के साथ देवताओं को पञ्चौदन अर्पित करती, तो उन दोनों के साथ भविष्य में नहीं छूटता।[18] पुनर्भू शब्द का प्रयोग उत्तरकालीन साहित्य में उस विधवा के लिए किया गया है जिसका पुनः विवाह हो जाता था। तैत्तिरीय संहिता में द्वधिषव्य शब्द भी संभवतः विधवा के पुत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[19]

बुद्ध-काल में विधवा-विवाह की मान्यता के सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी प्रमाण मिलते हैं। इसका कारण समाज के विभिन्न वर्ग में प्रचलित प्रथाओं की असमानता प्रतीत होती है। धर्मशास्त्र में समाज का आदर्श चित्र उपस्थित करने की चेष्टा के कारण विधवा-विवाह का प्रायः निषेध मिलता है, अतः निषेधात्मक व्यवस्था का अर्थ अस्तित्व का अभाव मानना उचित नहीं। धर्मशास्त्रकारों का दृष्टिकोण बाल-विधवा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, अतः कतिपय धर्मशास्त्र-रचयिताओं ने विधवा-विवाह की अनुमति दी तो कुछ ने इसका निषेध भी किया। लोक-कथाओं में केवल बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के वर्णन नहीं मिलते, पर उन विधवाओं के पुनर्विवाह के भी जो ससन्तान थीं। धर्मशास्त्र की व्यवस्था का पालन प्रमुखतया समाज के द्विजाति-वर्ग में हुआ और जनसाधारण ने स्थानीय प्रथाओं को अधिक महत्व दिया। अतएव उच्च जातियों में तो विधवा-विवाह विशेष परिस्थितियों में ही संपन्न हो पाते थे, पर समाज के निम्न वर्ग में यह प्रथा सामान्य-रूप में प्रचलित रही। विधवा-विवाह को मान्यता न मिलने के कारण समाज के किन्हीं वर्गों में नवयुवती विधवाओं के भ्रष्टाचारमय जीवन में संलिप्त होने की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज के उच्चकुल की विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति उपलब्ध होने पर भी निःसन्तान विधवाओं का पुनर्विवाहित होना उनकी अपेक्षा आसान होता था जिन पर अपनी सन्तान के पालन-पोषण का भार था। एक वृद्ध श्रेष्ठि जिसकी पत्नी नवयुवती थी सोचा करता मेरी पत्नी मेरे मरणोपरांत किसी नवयुवक से अपना विवाह कर लेगी और मेरी संपूर्ण चल-संपति को अपने पति के साथ ऐश करने में विनष्ट कर देगी, जिससे मेरे पुत्र के लिए कुछ भी नहीं बच पाएगा।[20] जब एक राजा परलोकवासी हो गया तो उसकी विधवा रानी उस राज्य के राजपुरोहित से अपना विवाह कर लिया।[21] इनके विपरीत अंगुत्तर-निकाय में यह उदाहरण मिलता है कि जब एक व्यक्ति मरणासन्न हो गया तो उसकी पत्नी ने उसे आश्वासन दिया 'स्वामी आप चिंता न करें मैं कदापि विवाह न करूँगी और अपनी संतान तथा गृहस्थी की समुचित देखभाल करती रहूँगी।'[22] समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जहाँ विधवा विवाह के प्रति किसी प्रकार के सामाजिक विरोध का आभास नहीं मिलता। उच्छंग-जातक में समाज के इस वर्ग में प्रचलित विधवा-विवाह का यह उदाहरण मिलता है 'एक स्त्री के पति, पुत्र तथा भ्राता को राजकर्मचारी दस्यु समझ पकड़कर ले गये। उस स्त्री ने राजद्वार में दया-याचना की। राजा ने उस स्त्री से कहा इन तीनों में जिस एक को तुम चाहो मुक्त किया जा सकता है। उस स्त्री ने उत्तर दिया देव मैं दूसरा पति और पुत्र तो प्राप्त कर सकती हूँ पर मेरे माता-पिता मृत हो चुके हैं, जिससे भाई ही मेरे लिए दुर्लभ है, अतः मुझे मेरा भाई ही मिले'।[23]

धर्मशास्त्र के विधान से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में यत्र-तत्र नियोग तथा विधवा विवाह दोनों ही प्रचलित थे। शास्त्रकारों ने औरस पुत्र के पश्चात् दूसरे स्थान पर नियोग-पुत्र को रखा। जो विधवा अपना पुनर्विवाह कर लेती थी उसे पुनर्भू की संज्ञा दी गयी।[24] इस तरह की विधवा को कुमारी स्वीकार किया जिसका मात्र मंत्र-संस्कार तो हुआ पर पति से शरीर-सम्बन्ध नहीं हो सका।[25] इस तरह की विधवा को वे पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान करते हैं। कौटिल्य के मत में निःसंतान विधवा को पति की मृत्यु के पश्चात् सात बार रजस्वला होने पर पुनर्विवाह कर लेना चाहिए, किन्तु जिनकी संतान हो उसे वर्ष भर प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस विषय में मनु के विचार परस्पर विरोधी हैं।

प्राचीन भारतीय परिवार के पितृ-प्रधान स्वरूप के कारण नारी को परिवार की सम्पत्ति माना जाता था और संभवतः इसी कारण धर्मशास्त्रकारों के मत में विधवा को प्रायः अपने मृत-पति के परिवार के ही किसी पुरुष को अपना पति स्वीकार करना चाहिए। इस मत का दूसरा कारण प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में नियोग का व्यापक प्रचलन था। इस बात की संभावना को भी ध्यान में रखा गया होगा कि अन्यत्र विवाह करने वाली विधवा मृत-पति के परिवार से चल संपति का कुछ भाग अपने साथ न ले जाय। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यदि

विधवा किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह कर लेती जो उसके श्वसुर को स्वीकार्य न हो तो उस अवस्था में उसे अपने विवाह के समय पति तथा श्वसुर से प्राप्त समस्त वस्त्राभूषणादि से वंचित होना पड़ता।[26]

पुनर्विवाह के कारण

प्राचीन भारत में नारी के पुनर्विवाह की समस्या उस समय भी उठती थी उसका पति संन्यासी हो जाता अथवा विदेश-यात्रा से वापस नहीं आता। उपनिषद्काल में संन्यास-जीवन की ओर लोगों की अभिरूचि में अप्रत्याशित वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप तरूणियाँ पतिविहीना होने लगीं। बुद्ध-काल में संन्यासियों, भिक्षुओं तथा श्रमणों की संख्या में पूर्वापेक्षा अत्यधिक वृद्धि हुई। बौद्ध-संघ में प्रवेश करने वालों में उन युवकों की संख्या न्यून नहीं थी जिन्होंने अपनी नवयुवती पत्नियों को असहाय छोड़ दिया। यही वह प्रमुख कारण था कि राजगृह में जब भगवान् बुद्ध का प्रथम पदार्पण हुआ, तो मगधवासी ब्राह्मणों ने नारी के वैधव्य के अग्रदूत के विरोध के लिए जनता का आह्वान किया। यह विरोध बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार को अवरूद्ध करने में सफल नहीं हुआ। बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता में दिनो-दिन वृद्धि होती गयी और भिक्षुओं की संख्या वृद्धि के साथ परित्यक्ता नारियों की संख्या भी निरन्तर बढ़ती गयी। इस अवस्था में कुछ नारियों के अपने पति के चरण चिह्नों पर चलना पसन्द किया, पर कई ने पुनर्विवाह कर घर बसाना श्रेयस्कर समझा। कभी-कभी तो प्रव्रज्या लेते समय स्वयं पति ने अपनी पत्नी को पुनर्विवाह के लिए प्रेरित किया। धर्मशास्त्र में इस बात की व्यवस्था है कि यदि पति संन्यासी हो जाय अथवा विदेश चला जाय तो प्रतीक्षा की एक निश्चित अवधि के पश्चात् पत्नी अपना नया पति चुन लेने के लिए स्वतंत्र हो जाती है। वशिष्ठ के मत में सन्तानवती ब्राह्मणी को भी पाँच वर्ष ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, जिसके पश्चात् उसे किसी निकट सम्बधी से विवाह कर लेना चाहिए, परन्तु पति कुल में सुयोग्य पात्र का अभाव होने पर ही अन्यत्र विवाह का विचार किया जा सकता है।[27] कौटिल्य के अनुसार ससन्तान विधवा के लिए एक वर्ष मात्र की प्रतीक्षावधि पर्याप्त है, किन्तु यदि उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध हो अथवा उसके ज्ञाति उसका निर्वाह करें, तो उसे दो से आठ वर्षों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् उपयुक्त वर ढूँढ लेना चाहिए।[28] मनु के मत में पति की विदेश यात्रा के उद्देश्य के अनुरूप प्रतीक्षा की अवधि तीन से आठ वर्षों तक होनी चाहिए।[29]

विवाह-विच्छेद की स्थिति :

पति-पत्नी द्वारा पारस्परिक सहमति से विवाह विच्छेद कर पुनर्विवाह करने के भी कुछ उदाहरण पालि-पिटक में उपलब्ध होते हैं। धर्मशास्त्र में अपवाद-स्वरूप विवाह-विच्छेद की अनुमति दी गयी। धर्मशास्त्र में वस्तुतः समाज का आदर्श चित्रण होने के कारण समाज के निम्न वर्ग में प्रचलित कतिपय प्रथाओं का जिन्हें निषिद्ध माना गया, उल्लेख करना अनावश्यक समझा गया। परन्तु बौद्ध पालि-वाङ्मय में प्रसंगवशात् समाज की अच्छाइयों और बुराइयों का वास्तविक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया, जिससे प्रतीत होता है कि समाज के कुछ वर्गों में विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह की घटनाओं का घटित हो जाना कोई अनहोनी बात नहीं थी। मज्झिम-निकाय के पियजातिक-सुत्त के अनुसार एक स्त्री के निकट सम्बन्धियों ने उसका विवाह अन्य पुरुष से करने का निश्चय किया, वह भी अपने पति को नहीं चाहती थी।[30] कुस-जातक (531) में बतलाया गया है कि मद्र-राजकुमारी फुसति ने अपने कुरूप पति का परित्याग कर किसी अन्य राजकुमार से विवाह करने का निश्चय किया। इस सम्वाद को सुनकर अनेक राजकुमार फुसति को हस्तगत करने के लिए सदलबल पहुँच गये, परन्तु सभी को राजकुमार कुरू के बाहुबल से पराजित होकर निराश लौट जाना पड़ा। यद्यपि इस कहानी में पुनर्विवाह संपन्न नहीं कराया गया है, परन्तु नारी द्वारा विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह के निश्चय के उल्लेख से समाज में इस प्रथा की मान्यता का समर्थन होता है। धर्मशास्त्र द्वारा विशेष परिस्थिति में विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया गया है। तदनुसार वशिष्ठ ने पति के नपुंसकत्व या चरित्रहीनता अथवा विक्षिप्तता के आधार पर उसका परित्याग कर नारी को अन्यत्र विवाह करने की अनुमति प्रदान की।[31] यह निर्धारित करना सम्भव नहीं है कि विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह करने वालों की प्रतिशत संख्या कितनी रही होगी। जैसा कि ऊपर कहा गया समाज के निम्नवर्ग में इनका प्रचलन अपेक्षाकृत अधिक था। सामाजिक रीतिरिवाजों का नियमन प्रायः कुलाचार तथा स्थानीय परम्पराओं द्वारा होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कुल परम्पराओं के प्रति विशेष अनुरक्ति होती है, अतः वे पति में प्रगाढ़ अनुराग का अभाव होने पर भी प्रायः विवाह-विच्छेद का सहारा लेना पसन्द नहीं करती होंगी, जैसा कि एक जातक कथा में कहा गया है कि एक स्त्री अपने पति से असंतुष्ट थी, पर उसने उसका परित्याग नहीं किया। कारण पूछने पर उसने

उत्तर दिया- इस कुल की परम्परा में पति-परित्याग का स्थान नहीं है, अत: वे पति में प्रगाढ़ अनुराग का अभाव होने पर भी प्राय: विवाह-विच्छेद का सहारा लेना पसन्द नहीं करती होंगी। कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया- 'इस कुल की परम्परा में पति-परित्याग का स्थान नहीं है, अत: अनिच्छापूर्वक ही सही, मैं अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वाह कर रही हूँ।'[32] पति भी प्राय: विवाह-विच्छेद के लिए इच्छुक नहीं रहा करते थे इसके भी उल्लेख मिलते हैं। एक ब्राह्मणी ने दुराचार किया, पर उसके पति ने अपनी पत्नी का परित्याग कर पुनर्विवाह करने के विरुद्ध मत व्यक्त किया।[33] इन उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि दाम्पत्य-जीवन को कटुता की चरम अवस्था को छोड़कर विवाह-विच्छेद का आश्रय नहीं लिया जाता था और समाज के निम्नवर्ग में इसका अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रहता था। नारद[34] तथा पराशर[35] के समय तक परिस्थिति अपरिवर्तित रही, क्योंकि इन्होंने विशेष परिस्थिति में विवाह-विच्छेद का विधान किया है। परन्तु कालान्तर में सामाजिक रीतिरिवाजों में कई परिवर्तन हो गये और बारहवीं शताब्दी के धर्मशास्त्र रचयिताओं ने विधवा विवाह, विवाह-विच्छेद तथा पुनर्विवाह को कलिवर्ज्य की सूची में रखा।

निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय समाज में विवाह केवल सामाजिक अनुबंध नहीं था, बल्कि धार्मिक कर्तव्य और जीवन की पूर्णता का प्रतीक था। यद्यपि समाज पितृप्रधान था, तथापि नारी को पत्नी, माता और गृहिणी के रूप में सम्मान प्राप्त था। बहुपत्नीत्व, विधवा-विवाह, नियोग और विवाह-विच्छेद जैसी प्रथाएँ समय, परिस्थिति और वर्ग-भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहीं। धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ विवाह की पवित्रता को बनाए रखा, वहीं उन्होंने जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्विवाह और नियोग जैसी व्यवस्थाओं को स्वीकार किया। इस प्रकार वैदिक से बुद्धकालीन युग तक भारतीय समाज में विवाह-संस्था ने धार्मिक, नैतिक और सामाजिक जीवन की नींव के रूप में कार्य किया।

1439, गौड़ ग्लोबल विलेज,
क्रासिंग रिपब्लिक, गाजियाबाद (उ.प्र.)
E-mail : kusumt19@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शतपथ ब्राह्मण 1/1
2. वृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/3
3. एतरेय ब्राह्मण 33/1
4. अंगुत्तर निकाय 4, पृष्ठ 56
5. जातक 1, पृष्ठ 307
6. The Book of Gradual Saying 1, page no 120
7. थेरी गाथा 446
8. पारस्कर गृह्यसूत्र 1/4/8/11
9. पारस्कर गृह्यसूत्र 2/5/11/12-13
10. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 3/9/8
11. History of Dharmashastra-Part-ii-page no-552
12. जातक 5, पृष्ठ 178
13. जातक 4, पृष्ठ 316
14. जातक 3, पृष्ठ 93
15. जातक 4, पृष्ठ 219
16. थेरीगाथा 152
17. जातक 2, पृष्ठ 138
18. अथर्ववेद 1/5/27-28
19. तैतिरिय संहिता 3/2/4/4
20. नन्द जातक 39
21. सूसिम जातक 163
22. अंगुत्तर निकाय 3, पृष्ठ 215
23. जातक 1, पृष्ठ 107
24. वशिष्ठ धर्मसूत्र 17/20
25. वशिष्ठ धर्मसूत्र 17/20
26. अर्थशास्त्र 3/2
27. वसिष्ठ धर्मसूत्र 17/78-80
28. अर्थशास्त्र 3/4
29. मनुस्मृति 9/76
30. मज्झिम निकाय 2, पृष्ठ 109
31. वशिष्ठ धर्मसूत्र 17/20
32. जातक 4, पृष्ठ 35
33. जातक 3, पृष्ठ 351
34. नारद स्मृति 17/17
35. पराशर स्मृति 4/28

शोध-पत्र

दीपशिखा भदौरिया

नवउदारवादी शहरीपुनर्विकास, गरीबों के आवास का प्रश्न और अधिकार-आधारित दृष्टिकोण का महत्व

सारांश :

आज जब विश्व की आधी से अधिक आबादी शहरों में रह रही है, शहरी स्थान सामाजिक-स्थानिक असमानताओं और बहिष्करण की गहरी प्रक्रियाओं से चिह्नित हैं। दिल्ली का शहरी परिदृश्य इसका सशक्त उदाहरण है, जहाँ ''वर्ल्ड-क्लास सिटी'' के निर्माण की आकांक्षा ने झुग्गीवासियों, प्रवासी श्रमिकों और निम्न-आय समुदायों के बड़े पैमाने पर विस्थापन को जन्म दिया है। राज्य और बाजार द्वारा प्रेरित यह विकास मॉडल भूमि और आवास को वस्तु में बदल देता है, जिससे सामाजिक-आर्थिक न्याय और नागरिक अधिकारों का क्षरण होता है। विशेषत: शहरी गरीबों के आवास का अधिकार केवल सिर पर छत नहीं, बल्कि गरिमा, सुरक्षा, पहचान और समानता का आधारभूत मानवाधिकार है। यमुना पुश्ता, कठपुतली कॉलोनी जैसी बेदखली की घटनाएँ दर्शाती हैं कि दिल्ली का शहरी पुनर्गठन हाशिए पर स्थित समुदायों के जीवन और अधिकारों को नकारता है। इन परिस्थितियों में, हेनरी लेफेब्रे का ''राइट टू द सिटी'' और एडवर्ड सोजा का ''स्पैशियल जस्टिस'' जैसे अधिकार-आधारित दृष्टिकोण अधिक समावेशी और न्यायपूर्ण शहरी विकास की दिशा में सैद्धांतिक और नीतिगत ढाँचा प्रदान करते हैं।

प्रस्तावना

तीव्र शहरीकरण ने गहन सामाजिक-स्थैतिक (socio-spatial) असमानताओं को पुनरुत्पादित किया है और इसी संदर्भ में गहराता शहरी आवास का संकट कई बड़े शहरों की वास्तविकता बन चुका है। यह महज आश्रय की कमी नहीं, बल्कि नवउदारवादी शहरी विकास, नियोजन की विफलता, भूमि के वस्तुकरण और सामाजिक-आर्थिक अधिकारों की उपेक्षा जैसे गहरे ढाँचागत मुद्दों को परिणाम है। इस संदर्भ में, आवास का अधिकार स्थानिक न्याय और समावेशी शहरी विकास को प्राप्त करने की दिशा में एक केंद्रीय मुद्दा बनकर उभरा है। तीव्र शहरीकरण के वर्तमान दौर में, आवास का अधिकार केवल एक विकासात्मक आकांक्षा नहीं रह गया है, बल्कि यह आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों और सामाजिक रूप से वंचित समुदायों के लिए एक कानूनी और नैतिक रूप से अत्यावश्यक जरूरत बन गया है। इसी संदर्भ में समुचित आवास का अधिकार अंतरराष्ट्रीय रूप से मान्यता प्राप्त मानवाधिकारों की प्रणाली में एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में विकसित हुआ है। यह अधिकार व्यक्ति की गरिमा, सुरक्षा और सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। आवास केवल सिर पर छत नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा प्रवेशद्वार अधिकार है, जिसके माध्यम से रोजगार, स्वास्थ्य, शिक्षा और राजनीतिक भागीदारी जैसे अन्य मूल अधिकार भी परस्पर जुड़े हुए हैं। (OHCHR 1991) आवास केवल भौतिक ढांचा नहीं है, बल्कि सुरक्षा, गरिमा, सामाजिक पहचान और आर्थिक स्थिरता का स्थान है। यह स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार और हिंसा से सुरक्षा जैसे अन्य मानवाधिकारों तक पहुंच के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर समिति (ICESCR) ने अपनी सामान्य टिप्पणी संख्या 4 में यह स्पष्ट किया कि आवास को ''सुरक्षा, शांति और गरिमा के साथ कहीं रहने के अधिकार'' के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि केवल एक छत तक सीमित अधिकार के रूप में।'' (OHCHR & UN-Habitat,1991)

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (UDHR), जिसे संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1948 में अपनाया, मानवाधिकारों की पहली व्यापक अभिव्यक्ति थी। UDHR का अनुच्छेद 25 कहता है कि ''प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन स्तर का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए पर्याप्त हो, जिसमें भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सा देखभाल शामिल हो।'' (यूनाइटेड नेशंस, मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा 1948) इसके साथ ही ICESCR का अनुच्छेद 11(1) ''राज्यों को यह सुनिश्चित करने का दायित्व देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त जीवन स्तर का अधिकार प्राप्त हो, जिसमें पर्याप्त आवास भी शामिल हो, और इस अधिकार की प्रगतिशील प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाए जाएं।'' (ICESCR, 1966)

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इन प्रगतियों के बावजूद शहरी गरीब बेदखली व विस्थापन का दर्द झेलते हैं और शहर में एक आशियाने की तलाश में प्रतिदिन संघर्ष करते हैं। जैसे-जैसे भारतीय शहरों को आर्थिक विकास और निवेश स्थलों के रूप में पुन:आकार दिया जा रहा है, शहरी गरीबों को तेजी से विस्थापित, बहिष्कृत और अदृश्य बना दिया गया है, क्योंकि नीतियाँ पूंजी संचय को सामाजिक समानता से ऊपर प्राथमिकता देती हुई प्रतीत होती हैं।

नवउदारवादी शहरीपुनर्विकास और गरीबो के आवास अधिकारो का हनन

दिल्ली का समकालीन शहरीकरण, जो नवउदारवादी प्रतिमानों में गहराई से निहित है, ने सामाजिक-स्थानिक असमानताओं को और अधिक बढ़ा दिया है, विशेष रूप से झुग्गीवासियों के लिए आवास के क्षेत्र में। दिल्ली का शहरी परिदृश्य गहरी सामाजिक-स्थानिक असमानताओं से चिह्नित है, जो ऐतिहासिक बहिष्करण, नवउदारवादी शहरी विकास और हाशिए पर स्थित समुदायों के राज्य-प्रेरित विस्थापन से निर्मित हुई हैं। मौजूदा शहरी शासन मॉडल आर्थिक विकास, बुनियादी ढांचे के विस्तार और रियल एस्टेट-प्रेरित विकास को प्राथमिकता देता है, जबकि अक्सर शहरी गरीबों के अधिकारों की अनदेखी करता है। इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर बेदखली, विस्थापन और स्थानिक अन्याय गहराए हैं, जिससे अनौपचारिक बस्तियों, प्रवासी श्रमिकों और निम्न-आय वर्ग के समुदायों को शहरी जीवन में पूर्ण भागीदारी से वंचित किया गया है। शहरी विकास की बाजार-चालित तर्कशक्ति ने शहरी गरीबों को व्यवस्थित रूप से हाशिए पर धकेल दिया है, जिससे एक द्वंद्वात्मक शहरी संरचना बनी है, जहाँ अभिजात्य वर्ग के स्थान समृद्ध होते हैं, जबकि अनौपचारिक बस्तियों में निरंतर बेदखली और विस्थापन का खतरा बना रहता है। संवैधानिक रूप से गारंटीकृत आवास अधिकार की अनुपस्थिति ने नीतिगत असंगति, न्यायिक अनिश्चितता और शहरी गरीबों के हाशिए पर जाने में योगदान दिया है। दिल्ली में नवउदारवादी शहरी विकास को बड़े पैमाने पर बुनियादी ढांचा परियोजनाओं, लग्जरी रियल एस्टेट विकास और भूमंडलीकृत आर्थिक नीतियों द्वारा परिभाषित किया गया है, जिसने शहरी परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया है। राज्य की आवास नीति मुख्य रूप से बहिष्करणवादी रही है, जो निजीकरण और मुक्त बाजार की वकालत करती है, जबकि अनौपचारिक बस्तियों को अवैध घोषित कर हटाने पर बल देती है (ड्यूपोंट : 2011)। हालांकि, दिल्ली में शहरी नियोजन ऐतिहासिक रूप से बहिष्करणकारी रहा है, जिसमें 2010 के कॉमनवेल्थ गेम्स और स्मार्ट सिटी पहल जैसे प्रमुख पुनर्विकास परियोजनाओं के कारण झुग्गीवासियों को बड़े पैमाने पर बिना पुनर्वास के विस्थापित किया गया. इन परियोजनाओं को आधुनिकीकरण और वर्ल्ड-क्लास सिटी की आकांक्षाओं के तहत उचित ठहराया गया, लेकिन उन्होंने सामाजिक-स्थानिक असमानताओं को और गहरा कर दिया, जिससे अमीरों की उपभोक्तावादी जरूरतों और वाणिज्यिक हितों को प्राथमिकता दी गई, जबकि शहरी गरीबों की आवास और आजीविका की आवश्यकताओं को दरकिनार कर दिया गया।

यमुना पुश्ता, कठपुतली कॉलोनी और अन्य झुग्गी-झोपड़ी समूहों में हुई जबरन बेदखली इस बात को स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि दिल्ली का शहरी पुनर्गठन लेफेब्वरे के स्वामित्व के अधिकार के सिद्धांत (Right to appropriation) का व्यवस्थित रूप से उल्लंघन करता है, और अनौपचारिक बस्तियों को ऐसी उपेक्षित जगहों में बदल देता है, जिन्हें नवउदारवादी शहरी व्यवस्था में बलिदान किया जा सकता है। इन चुनौतियों से निपटने के लिए, हेनरी लेफेवरे के ''राइट टू द सिटी'' और एडवर्ड सोजा के ''स्पैशियल जस्टिस'' जैसे अधिकार-आधारित दृष्टिकोण महत्वपूर्ण सैद्धांतिक और व्यावहारिक उपकरण प्रदान करते हैं। ये सिद्धांत शहरी योजना के लोकतंत्रीकरण, स्थानिक संसाधनों के पुनर्वितरण और शहरी गरीबों को शहर के निर्माण में एक वैध हितधारक के रूप में

मान्यता देने की वकालत करते हैं। इन अवधारणाओं को दिल्ली में लागू करके, एक अधिक न्यायसंगत शहरी व्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

भारत में संवैधानिक रूप से आवास के अधिकार की अनुपस्थिति ने सरकार को बिना उचित पुनर्वास की व्यवस्था किए झुग्गियों को हटाने का औचित्य प्रदान किया है, जिससे हजारों लोग बेघर हो गए। यह बेदखली न्यायिक व्याख्याओं द्वारा और भी सशक्त हुई है, जो शहरी सुंदरता और आर्थिक विकास को आवास अधिकारों से ऊपर रखती हैं। विभिन्न उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के फैसलों ने पर्यावरणीय मुद्दों या बुनियादी ढांचे के विस्तार के नाम पर झुग्गी विस्थापन को वैधता प्रदान की है (ड्यूपोंट : 2011)। शिक्षा का अधिकार या सूचना का अधिकार जैसे मौलिक अधिकारों के विपरीत, आवास को भारतीय संविधान में न्यायसंगत दर्जा प्राप्त नहीं है। इसे न तो मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त है और न ही राज्य नीति के निदेशक सिद्धांतों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया गया है। परिणामस्वरूप, आवास सरकार की नीति का विषय बना रहता है, न कि एक कानूनी रूप से लागू किया जा सकने वाला अधिकार जिस के परिणामस्वरूप लाखों लोग असुरक्षित आवासीय परिस्थितियों में रहने को मजबूर हैं।

यह कानूनी अस्पष्टता विस्थापन और पुनर्वास के चक्र में योगदान देती है, जिससे कमजोर आबादी पहले से भी अधिक संकटग्रस्त हो जाती है हालांकि, कई देशों में, जिनमें भारत भी शामिल है, राष्ट्रीय कानूनी प्रणालियों में इस अधिकार की स्पष्ट रूप से गारंटी नहीं दी गई है, जिससे अनौपचारिक बस्तियाँ निरंतर बेदखली के खतरे में रहती हैं। भारतीय न्यायपालिका ने हालांकि अनुच्छेद 21 के तहत आवास को जीवन के अधिकार से जोड़ा है लेकिन इस संबंध में ठोस कानूनों के अभाव के कारण झुग्गी बस्तियों को विध्वंस से बचाने के लिए कोई मजबूत कानूनी सुरक्षा नहीं मिल पाती।

यदि सरकारें आवास के अधिकार को कानूनी रूप से लागू करती हैं, तो इससे अनौपचारिक बस्तियों को जबरन बेदखली व विध्वंस से सुरक्षा प्रदान की जा सकती है और झुग्गीवासियों को अपने आवासों में सुधार करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है हालाँकि, संवैधानिक गारंटी ना होने के बावजूद भी न्यायपालिका ने विभिन्न निर्णयों ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे नगर निगम (Olga Tellis Vs. Bombay Municipal Corporation, 1986) व चमेली सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Chameli Singh Vs. State of Uttar Pradesh 1996) जैसे मामलों में सुप्रीम कोर्ट ने आवास के अधिकार के महत्व को स्वीकृती दी है (भान : 2016) हालांकि, केवल आवास को एक अधिकार घोषित कर देना अपने आप में समान रूप से पहुंच सुनिश्चित नहीं करेगा परंतु इससे यह सुनिश्चित होगा कि आवास को एक मौलिक मानवीय आवश्यकता के रूप में देखा जाए, न कि आर्थिक स्थिति के आधार पर मिलने वाले एक विशेषाधिकार के रूप में। इस प्रकार, यह एक अधिक न्यायसंगत और समावेशी समाज के निर्माण में योगदान देगा। हालाँकि, आवास को संवैधानिक अधिकार का दर्जा देने से तुरंत आवासीय असमानताओं का समाधान नहीं होगा, लेकिन यह वकालत और कानूनी हस्तक्षेपों के लिए एक मजबूत आधार प्रदान करेगा।

इस संदर्भ में अधिकार आधारित दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते है क्योंकि अधिकार-आधारित दृष्टिकोण इस प्रवृत्ति में बदलाव लाने की क्षमता रखते है, जिससे न्यायिक विवेक से आगे बढ़कर संवैधानिक रूप से लागू किए जाने योग्य सुरक्षा उपायों की स्थापना की जाए ताकि आवास एक मौलिक अधिकार बन सके। क्योंकि मजबूत कानूनी सुरक्षा के अभाव के कारण अनौपचारिक बस्तियों को बार-बार बेदखली और विध्वंस का सामना करना पड़ता है, जिसे अक्सर शहरी विकास और सौंदर्यीकरण के नाम पर उचित ठहराया जाता है। (घर्टनर : 2008) इन चुनौतियों के जवाब में, हेनरी लेफेब्वर के ''शहर पर अधिकार'' (Right to the City) और एडवर्ड सोजा की ''स्थानिक न्याय'' (Spatial Justice) की संकल्पना आवास अधिकारों को सुरक्षित करने और एक समावेशी शहरी शासन की स्थापना का विकल्प प्रदान करती हैं। सहभागी शहरी योजना, न्यायसंगत स्थानिक वितरण और आवास को मौलिक अधिकार के रूप में कानूनी मान्यता देने पर ध्यान केंद्रित करके, ये दृष्टिकोण नवउदारवादी शहरी विकास की बहिष्कारी नीति के विकल्प के रूप में कार्य कर सकते हैं।

इस संबंध में लेफेब्वर का ''शहर पर अधिकार'' (लेफेब्वरे, 1968, 1996) एक क्रांतिकारी विचार है, जो शहरी स्थान को एक सामूहिक संसाधन के रूप में पुन:स्थापित करने की वकालत करता है, न कि इसे निजी और सरकारी हितों द्वारा नियंत्रित एक वस्तु के रूप में। यह संकल्पना सभी शहरी

निवासियों, विशेष रूप से उन हाशिए पर पड़े समूहों की सक्रिय भागीदारी पर बल देती है, जिन्हें निर्णय लेने की प्रक्रियाओं से व्यवस्थित रूप से बाहर रखा गया है। लेफेवरे की ''राइट टू द सिटी'', जिसे 1968 में प्रस्तुत किया गया था, शहरी स्थान को सामूहिक संसाधन के रूप में पुनः प्राप्त करने का आह्वान करती है, जो बाजार की ताकतों के बजाय आम जनता के अधिकार में होना चाहिए। यह दो प्रमुख पहलुओं पर केंद्रित है : भागीदारी का अधिकार और अधिग्रहण (अप्रोप्रियेशन) का अधिकार। भागीदारी का अधिकार इस विचार को रेखांकित करता है कि सभी शहरी निवासियों, विशेष रूप से हाशिए पर मौजूद समूहों को, उन निर्णय-प्रक्रियाओं में शामिल किया जाना चाहिए जो उनके जीवन को प्रभावित करती हैं। सभी नागरिकों को शहरी स्थान से संबंधित प्रत्येक निर्णय में भागीदार बनाया जाना चाहिए, उन्हें ना केवल पूर्व निर्मित शहरी स्थान को उपयोग करने का अधिकार है बल्कि शहरी स्थान के उत्पादन व पुनरुत्पादन का भी अधिकार है। इसके साथ ही ''उपयोग मूल्य'' (use value) को ''विनिमय मूल्य'' (exchange value) से ऊपर प्राथमिकता देनी चाहिए (एम पर्सल : 2002) हेनरी लेफेब्वर की ''शहर के अधिकार'' की अवधारणा यह स्थापित करती है कि शहरी स्थान केवल बाजार के नियंत्रण में रहने वाली वस्तु नहीं है, बल्कि यह एक सामूहिक सामाजिक संपत्ति है, जिस पर शहर के सभी निवासियों का समान अधिकार होना चाहिए।

शहर पर अधिकार केवल पहले से मौजूद चीजों तक पहुँच का अधिकार नहीं है, बल्कि इसे सामूहिक इच्छाओं के अनुसार आकार देने और बदलने का अधिकार भी है। डेविड हार्वे तर्क देते हैं कि यह अधिकार केवल शहरी बुनियादी ढाँचे के उपयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें इसके पुनर्निर्माण में सक्रिय रूप से भाग लेने की शक्ति भी शामिल है इसलिए, शहर पर अधिकार केवल निजी हितों से शहरी स्थानों को पुनः प्राप्त करने के बारे में नहीं है, बल्कि उन संरचनाओं को फिर से परिभाषित करने के बारे में भी है जो शहरी जीवन को नियंत्रित करती हैं। यह अधिकार आवश्यक है क्योंकि यह लोगों को अपने वातावरण के परिवर्तन के माध्यम से खुद को फिर से गढ़ने की अनुमति देता है, जिससे नए प्रकार के सामाजिक संबंध और सामूहिक पहचान उत्पन्न होते हैं। हालाँकि, यह क्षमता अक्सर पूँजीवाद के भीतर मौजूद अंतर्विरोधों से बाधित होती है, विशेष रूप से इस संदर्भ में कि अधिकारों की संरचना किस प्रकार निजी संपत्ति और पूँजी संचय को लाभ पहुँचाने के लिए बनाई गई है, न कि व्यापक सार्वजनिक भलाई के लिए। (डेविड हार्वे, 2003)

हालाँकि, नवउदारवादी शहरीकरण (Neoliberal Urbanization) के संदर्भ में, शहर का अधिकार एक अत्यधिक विवादास्पद राजनीतिक दावा बन गया है, क्योंकि राज्य-प्रेरित नीतियाँ आर्थिक विकास, निजीकरण, ग्लोबल सिटी विजन, जेंट्रीफिकेशन (Gentrification) पर केंद्रित है दिल्ली में, शहरी योजना ऐतिहासिक रूप से शीर्ष-से-नीचे (टॉप-डाउन) दृष्टिकोण पर आधारित रही है, जहाँ कॉमनवेल्थ गेम्स पुनर्विकास और स्मार्ट सिटी जैसी योजनाओं ने निम्न-आय वर्ग की बस्तियों को उनसे परामर्श के बिना प्रभावित किया (ड्यूपोंट : 2011)।

''शहर पर अधिकार'' इस बहिष्करण को चुनौती देता है और अनौपचारिक बस्तियों की कानूनी मान्यता की वकालत करता है, ताकि इन्हें शहरी ताने-बाने में एकीकृत किया जाए, न कि नष्ट किया जाए। दिल्ली के संदर्भ में, जहां बड़े पैमाने पर बुनियादी ढांचा परियोजनाएं और रियल एस्टेट विकास मुख्य रूप से संपन्न वर्ग के हितों को पूरा करते हैं, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाले लोगों को अक्सर अपराधी करार दिया जाता है और अपर्याप्त पुनर्वास के साथ विस्थापित कर दिया जाता है (उषा रामानाथन : 2009)। इस बहिष्करण व वंचना के समाधान के लिए आवास का अधिकार और शहर का अधिकार एक-दूसरे के पूरक दृष्टिकोण के रूप में उभरते हैं, जो शहरी स्थानों को इस प्रकार पुनर्गठित करने की क्षमता रखते हैं कि वे पिछड़े व वंचित समुदायों के हितों की रक्षा कर सकें। आवास का अधिकार जबरन बेदखली के खिलाफ कानूनी सुरक्षा प्रदान करता है, जिससे झुग्गीवासियों को भूमि के स्थायी अधिकार और बेहतर जीवन स्थितियाँ मिलती हैं। वहीं, शहर का अधिकार उन बहिष्करणकारी शहरी नीतियों को चुनौती देता है जो निम्न-आय वर्ग के लोगों को शहरी नियोजन और शासन में भाग लेने से रोकती हैं। जब इन अधिकारों को एक साथ लागू किया जाता है, तो ये शहरी विकास के नवउदारवादी मॉडल की जगह सामाजिक न्याय को प्राथमिकता देने वाली एक समग्र रणनीति प्रस्तुत करते हैं।

डेविड हार्वे लेफेब्वर की इस अवधारणा को विस्तार देते हुए नवउदारवादी पूँजीवाद की व्यापक आलोचना के भीतर रखते हैं। पूँजीवाद एक विशिष्ट अधिकार प्रणाली को लागू करता है जो निजी संपत्ति, लाभ संचय और बाजार विस्तार को

प्राथमिकता देती है। बाजार स्वतंत्रता को लोकतंत्र और विकास का मार्ग बताने की प्रवृत्ति अक्सर इस सच्चाई को छुपा देती है कि ऐसी नीतियाँ मुख्य रूप से वैश्विक वित्तीय अभिजात वर्ग के लाभ के लिए काम करती हैं, जबकि असमानता और सामाजिक बहिष्कार को बढ़ावा देती हैं। यह प्रक्रिया शहरी स्थानों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ बढ़ती आर्थिक असमानताएँ हाशिए पर पड़े समुदायों को जर्जर बस्तियों में धकेल देती हैं, जबकि धनवान वर्ग सुरक्षित और अनन्य परिसरों में स्वयं को अलग कर लेता है। इसका विकल्प यह है कि एक अलग तरह के शहर पर अधिकार को स्थापित किया जाए एक ऐसा अधिकार जो सामाजिक न्याय, सामूहिक भागीदारी और न्यायसंगत विकास को प्राथमिकता दे, बजाय इसके कि शहरों को निरंतर पूँजी संचय के लिए साधन बना दिया जाए। (डेविड हार्वे, 2003)

दिल्ली के शहरी शासन की नवउदारवादी दिशा सार्वजनिक स्थानों के निजीकरण, अनौपचारिक बस्तियों के क्रिमिन-लाइजेशन और बुनियादी ढांचे के विकास में सार्वजनिक-निजी भागीदारी की बढ़ती भूमिका में और स्पष्ट होती है। ये प्रवृत्तियाँ हार्वे द्वारा प्रस्तुत बेदखली द्वारा संचय की पूंजीवादी रणनीति की आलोचना साथ मेल खाती हैं, जिसमें वे कहते हैं कि यह एक नई साम्राज्यवादी रणनीति है, जिसमें वैश्विक पूंजीवाद समाज के कमजोर तबकों से संसाधनों को छीनकर अमीरों की संपत्ति बढ़ाता है। यह प्रक्रिया आर्थिक असमानता को बढ़ाती है और समाज में गरीबों के शोषण को बढ़ावा देती है। हार्वे के अनुसार, नवउदारवादी नीतियों के तहत शहरी स्थान का वस्तुकरण (commodification) सामाजिक-स्थानिक बहिष्करणों को बढ़ाता है, जिससे धन और संसाधन कुछ विशेष वर्गों में केंद्रित हो जाते हैं, जबकि शहरी गरीबों को हाशिए पर धकेला जाता है। (डेविड हार्वे 2003) सार्वजनिक पार्कों के निजीकरण, नगर निगम द्वारा फुटपाथ विक्रेताओं की बेदखली और गेटेड समुदायों के प्रसार, जो शहरी स्थान को वर्गीय आधार पर विभाजित करते हैं, यह दर्शाते हैं कि नवउदारवादी शहर स्थानिक वंचना के तंत्र के रूप में कार्य करता है।

भारतीय राज्य की शहरी भूमि नीतियाँ इस प्रवृत्ति को दर्शाती हैं, जहाँ सार्वजनिक भूमि को तेजी से कॉर्पोरेट और बुनियादी ढाँचे की परियोजनाओं के लिए निजीकरण किया जा रहा है, जिससे झुग्गीवासियों को शहर के किनारों पर असुरक्षित परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अधिकार-आधारित दृष्टिकोण के तहत, शहरी स्थान के वस्तुकरण को समाप्त करना आवश्यक हो जाता है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि वंचित समुदायों के आवास के अधिकार को संरक्षण मिले व समतापूर्ण व समावेशी शहरी विकास हो। इस प्रकार, आवास अधिकारों के लिए राजनीतिक संघर्ष केवल आश्रय प्राप्त करने का संघर्ष नहीं है, बल्कि यह उन संरचनात्मक तंत्रों के विरुद्ध संघर्ष है जो शहरी असमानता का निर्माण और पोषण करते हैं। इस दिशा में, स्वामित्व की सुरक्षा, जबरन बेदखली पर रोक, और भागीदारी आधारित शहरी नियोजन की संस्थागत व्यवस्था आवश्यक हैं, जिससे भारत में आवासीय न्याय सुनिश्चित किया जा सके।

भारत में संवैधानिक रूप से गारंटीकृत आवास के अधिकार की अनुपस्थिति ने दिल्ली में झुग्गीवासियों को बेदखली के प्रति अत्यधिक संवेदनशील बना दिया है, विशेष रूप से नवउदारवादी शहरी विकास के दबावों के तहत। पूँजीवादी व्यवस्था कुछ अधिकारों को दूसरों पर प्राथमिकता देती है, जिससे अक्सर असमानता को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के लिए, निजी संपत्ति और लाभ के अधिकार को आवास तक पहुँच, उचित मजदूरी और सार्वजनिक स्थान जैसे सामाजिक अधिकारों से अधिक महत्व दिया जाता है। (डेविड हार्वे, 2003) अधिकारों की यह श्रेणी पूँजीवाद के भीतर एक बुनियादी अंतर्विरोध पैदा करती है, जिसका उपयोग मौजूदा शहरी व्यवस्था को चुनौती देने के लिए किया जा सकता है। हार्वे यह सवाल उठाते हैं कि शहरी जीवन कैसा दिखता यदि संयुक्त राष्ट्र की घोषणा में श्रमिक अधिकारों जैसे सुरक्षित रोजगार, उचित जीवन स्तर और संगठित होने के अधिकार को पूरी सख्ती से लागू किया जाता। यदि इन अधिकारों को प्राथमिकता दी जाती, तो शहर केवल पूँजी संचय का स्थान न रहकर सामूहिक कल्याण और समान विकास का केंद्र बन जाता। इन अधिकारों को लागू न करने की विफलता यह दर्शाती है कि पूँजीवाद की संरचना आर्थिक असमानताओं को बनाए रखने पर निर्भर करती है, जो शहरी परिदृश्यों को इस तरह आकार देती हैं कि वे संपत्ति और शक्ति रखने वालों के हितों की सेवा करें, न कि अधिकांश लोगों की आवश्यकताओं की।

न्यायसंगत शहरी व्यवस्था स्थापित करने के लिए अधिकार आधारित दृष्टिकोण का महत्व :

इस असमान व भेदभावपूर्ण शहरी व्यवस्था से निकलने

के लिए शहर पर अधिकार एक मौलिक व आमूलचूल परिवर्तन का दृष्टिकोण प्रदान करता है शहर पर अधिकार एक सक्रिय अधिकार होना चाहिए, जो लोगों को अपने पर्यावरण को इस तरह से पुनर्परिभाषित करने की शक्ति दे जो उनकी आकांक्षाओं और मूल्यों को दर्शाए। इसमें न केवल भौतिक स्थानों का पुनर्वितरण शामिल है, बल्कि उनमें अंतर्निहित सामाजिक और आर्थिक संबंधों का भी रूपांतरण शामिल है। इस अधिकार के लिए संघर्ष केवल निर्मित वातावरण को बदलने के बारे में नहीं है, बल्कि उन राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों को चुनौती देने के बारे में भी है जो शहरी जीवन को नियंत्रित करती हैं। केवल लाभ-आधारित विकास के लिए डिजाइन किया गया शहर उन लोगों को हाशिए पर धकेलता है जो इसकी आर्थिक संरचनाओं में भाग लेने का सामर्थ्य नहीं रखते, जिससे सामाजिक बहिष्करण और असमानता और अधिक गहरी हो जाती है।एक नए शहरी कॉमन्स का निर्माण इस दृष्टि का केंद्रबिंदु है।

नवउदारवादी नीतियों के कारण सार्वजनिक स्थानों, बुनियादी ढाँचे और सेवाओं के व्यापक निजीकरण ने शहरी शासन में लोकतांत्रिक भागीदारी के अवसरों को कम कर दिया है। इस निजीकरण को वापस लेना आवश्यक है ताकि एक समावेशी शहर बनाया जा सके जहाँ सभी निवासी अपने पर्यावरण को आकार देने में भाग ले सकें। इसके लिए बाजार-चालित शहरी नियोजन से हटकर उन मॉडलों की ओर स्थानांतरित होने की आवश्यकता है जो सामूहिक निर्णय-निर्माण और सामाजिक बुनियादी ढाँचे में सार्वजनिक निवेश को प्राथमिकता दें। एक सच्चा लोकतांत्रिक शहर वह है जिसे उसके निवासी लगातार फिर से कल्पना कर सकते हैं और अपनी जरूरतों के अनुसार पुनर्गठित कर सकते हैं, न कि वह जो केवल बाजार बलों द्वारा निर्देशित हो। (डेविड हार्वे, 2003)

हेनरी लेफेवरे का तर्क है कि शहरी निवासियों, विशेष रूप से श्रमिक वर्ग और हाशिए के समूहों, को शहरी स्थानों को आकार देने और उनमें समान भागीदारी का अधिकार होना चाहिए, न कि राज्य और कॉर्पोरेट हितों द्वारा संचालित शीर्ष-नीत नियोजन के अधीन रहना चाहिए। नवउदारवादी दिल्ली में झुग्गीवासियों को इस अधिकार से व्यवस्थित रूप से वंचित किया गया है। उनकी बस्तियों को अक्सर अपराधीकरण किया जाता है, और शहर में उनकी उपस्थिति को आधुनिकता और प्रगति में बाधा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। राज्य कानूनी और नौकरशाही तंत्र का उपयोग करके अनौपचारिक आवास को गैरकानूनी ठहराता है जैसे कि झुग्गियों को आधिकारिक मान्यता देने से इनकार करना और बुनियादी सेवाओं से वंचित रखना जो शहरी क्षेत्र पर उनके दावे को कमजोर करता है। (उषा रामनाथन : 2004)

इसके परिणामस्वरूप, झुग्गी बेदखली सामाजिक-स्थानिक असमानताओं को मजबूत करने का एक उपकरण बन जाती है, जिससे गरीबों को आर्थिक रूप से मूल्यवान भूमि से हटा दिया जाता है, जबकि शहर को केवल संपन्न वर्ग के लिए सुलभ रखा जाता है। होल्स्टन के अनुसार इसके प्रत्युतर में शहरी गरीब विद्रोही नागरिकता का सहारा लेते हैं. इन दावों को दक्षिणी शहरीकरण (Southern Urbanism) के संदर्भ में रखते हुए, जेम्स होल्स्टन (James Holston) की ''विद्रोही नागरिकता'' (Insurgent Citizenship) की अवधारणा एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान करती है, जेम्स होल्स्टन की ''विद्रोही नागरिकता'' (Insurgent Citizenship) की अवधारणा यह समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है कि हाशिए पर मौजूद शहरी समुदाय इन बहिष्करणों का कैसे विरोध करते हैं और शहरी स्थान पर अपने अधिकारों को राजनीतिक दावे के रूप में कैसे प्रस्तुत करते हैं। होल्स्टन का तर्क है कि दक्षिणी विश्व के कई शहरों में शहरी नागरिकता गहराई से विभाजित है जहाँ औपचारिक कानूनी अधिकार मौजूद हैं, लेकिन वे असमान रूप से लागू किए जाते हैं, जिससे गरीबों के लिए बहिष्करण की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। वे बताते हैं कि शहरी गरीब ''विद्रोही नागरिकता'' के कार्यों में संलग्न होते हैं, जहाँ वे केवल अपने अधिकारों को प्राप्त करने की प्रतीक्षा नहीं करते, बल्कि उन्हें सक्रिय रूप से भूमि पर कब्जा करके, विरोध प्रदर्शनों के माध्यम से और राज्य के साथ बातचीत करके अपने हक की लड़ाई लड़ते हैं। (James Holston : 2010)

इस संदर्भ में, शहर का अधिकार और आवास का अधिकार ''विद्रोही राजनीतिक दावे'' (Insurgent Political Claims) बन जाते हैं, जिनका प्रयोग वे लोग करते हैं जिन्हें राज्य अक्सर ''अवैध कब्जाधारी'' (Illegal Occupants) के रूप में देखता है, न कि वैध शहरी नागरिकों के रूप में। शहर पर अधिकार अंततः एक कार्रवाई का आह्वान है। शहरी स्थान पर नियंत्रण रखने वाला प्रभुत्वशाली वर्ग स्वेच्छा से अपनी शक्ति नहीं छोड़ेगा, क्योंकि उसकी संपत्ति और सत्ता वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने पर निर्भर करती है। सार्थक परिवर्तन लाने के

लिए राजनीतिक लामबंदी, जमीनी स्तर पर सक्रियता और, यदि आवश्यक हो, असमानता को लागू करने वाली संरचनाओं को चुनौती देने के लिए प्रत्यक्ष कार्रवाई की आवश्यकता होगी। शहर को पुनः प्राप्त करने का अर्थ केवल नीतिगत सुधारों की वकालत करना नहीं है, बल्कि शहरी शासन और आर्थिक प्राथमिकताओं के मूलभूत पुनर्विचार की माँग करना है। यदि हमारा शहरी संसार पूँजी के हितों की सेवा के लिए कल्पित और निर्मित किया गया है, तो इसे लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पुनः कल्पित और पुनर्निर्मित किया जा सकता है। शहर पर अधिकार के लिए संघर्ष लोकतंत्र, न्याय और एक ऐसे भविष्य के लिए संघर्ष है जहाँ शहरी स्थान पर उन लोगों का अधिकार हों जो उनमें रहते हैं, न कि केवल उन लोगों का जो उनसे मुनाफा कमाते हैं। (डेविड हार्वे : 2003)

एडवर्ड सोजा द्वारा प्रतिपादित स्थानिक न्याय (Spatial Justice) का दृष्टिकोण इन जबरन विस्थापनों को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण ढांचा प्रदान करता है। स्थानिक न्याय शहरी संसाधनों के समान वितरण और हाशिए पर पड़े समूहों के दावों की मान्यता पर जोर देता है। जहां लेफेब्वर का राइट टू द सिटी पूंजीवादी शहरीकरण की एक नैतिक आलोचना प्रस्तुत करता है, वहीं एडवर्ड सोजा का स्पैशियल जस्टिस इस तर्क का विस्तार करता है, यह जोर देते हुए कि स्थानिक असमानताएँ आकस्मिक नहीं हैं, बल्कि वे व्यवस्थित रूप से असमान विकास, बहिष्करणकारी क्षेत्रीय नीतियों और बुनियादी ढांचा निवेश के माध्यम से उत्पन्न की जाती हैं, जो सत्ता और विशेषाधिकार के मौजूदा पदानुक्रमों को मजबूत करती हैं। स्थानिक (spatial) आयाम यह सुनिश्चित करता है कि न्याय को केवल कानूनी या आर्थिक संदर्भ में ही न समझा जाए, बल्कि यह भी देखा जाए कि भौगोलिक स्थिति अधिकारों और विशेषाधिकारों तक पहुँच को कैसे प्रभावित करती है। (एडवर्ड सोजा : 2010) शहरी नियोजन निर्णय, उदाहरण के लिए, अक्सर वाणिज्यिक विकास को किफायती आवास पर प्राथमिकता देते हैं, जिससे हाशिए पर रहने वाले समुदायों को व्यवस्थित रूप से कुछ स्थानों से बाहर कर दिया जाता है। यह बहिष्करण गरीबी और पृथक्करण (segregation) के चक्र को बनाए रखता है और मौजूदा सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को और गहरा करता है।

स्थानिक अन्याय (spatial injustice) एक परिणाम भी है और एक प्रक्रिया भी। यह बुनियादी ढाँचे, संसाधनों और सेवाओं के असमान वितरण के रूप में प्रकट होता है, जिसके परिणामस्वरूप पृथक्करण (segregated), झुग्गी विस्थापन, और निम्न-आय वर्गीय क्षेत्रों में पर्यावरणीय क्षरण जैसी अन्यायपूर्ण स्थानिक व्यवस्थाएँ बनती हैं। हालाँकि, ये परिणाम आकस्मिक नहीं हैं; ये गहरे संरचनात्मक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं, जिनमें आर्थिक नीतियाँ, शासन निर्णय, और शहरी नियोजन रणनीतियाँ शामिल हैं, जो लगातार स्थानिक असमानताओं को पुनरुत्पादित (reproduce) करती हैं। इन अन्यायों की निरंतरता यह दर्शाती है कि सतही असमानताओं से आगे बढ़कर उन प्रणालीगत तंत्रों को समझना आवश्यक है, जो इन्हें उत्पन्न और बनाए रखते हैं। स्थानिक अन्याय को दूर करने के लिए ऐसी नीतियों की आवश्यकता है जो न केवल इसके तात्कालिक प्रभावों को कम करें, बल्कि उन बुनियादी संरचनाओं को भी नष्ट करें जो इस बहिष्करण की प्रक्रिया को जन्म देती हैं।

स्थानिक अन्याय को उत्पन्न करने वाले प्रमुख तंत्रों में से एक स्थानिक भेदभाव (locational discrimination) है, जिसमें व्यक्ति की भौगोलिक स्थिति उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवसरों को निर्धारित करती है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि हाशिए पर स्थित समुदायों को जानबूझकर अविकसित या पर्यावरणीय रूप से खतरनाक क्षेत्रों में बसाया जाता है, जबकि संपन्न वर्गों को उच्च गुणवत्ता वाली आधारभूत सुविधाओं और सेवाओं तक पहुँच प्राप्त होती है। वर्ग (class), जाति (race/caste), और लिंग (gender) जैसे कारक इन स्थानिक असमानताओं को आकार देते हैं, लेकिन उनका प्रभाव मात्र पृथक्करण तक सीमित नहीं है।

स्थानिक अन्याय की निरंतरता यह दर्शाती है कि शहरी विकास अक्सर संपन्न वर्गों के हितों को वंचित समुदायों की आवश्यकताओं से ऊपर रखता है। बाजार-उन्मुख विकास (market-oriented growth) से प्रेरित नीतियाँ अक्सर पृथ्थकरण (gentrification) को बढ़ावा देती हैं, जिससे निम्न-आय वर्गीय निवासियों को उनके पारंपरिक आवासों से विस्थापित किया जाता है और सार्वजनिक स्थानों का निजीकरण कर दिया जाता है। ये प्रक्रियाएँ केवल स्थानिक असमानताएँ ही उत्पन्न नहीं करतीं, बल्कि विशेषाधिकार के चक्र को भी मजबूत करती हैं, जिससे कुछ समूह लगातार शहरी विस्तार का लाभ उठाते हैं, जबकि अन्य को शहर के हाशिए पर धकेल

दिया जाता है। परिणामस्वरूप, स्थानिक न्याय (spatial justice) प्राप्त करने के लिए शहरी शासन और नियोजन में एक मौलिक बदलाव आवश्यक है ऐसा बदलाव जो संसाधनों और अवसरों तक समान पहुँच को प्राथमिकता देता हो, बजाय इसके कि वह सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रमों (hierarchies) को और मजबूत करे।

स्थानिक भेदभाव की गहरी जड़ें इस बात की मांग करती हैं कि इस मुद्दे को एक समग्र दृष्टिकोण से देखा जाए यदि इन पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया गया, तो स्थानिक अन्याय शहरी वातावरण को लगातार प्रभावित करता रहेगा और मौजूदा सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को और गहरा करेगा। न्याय और भूगोल की पारस्परिकता को स्वीकार करना इस बात को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि शहर बहिष्करण के बजाय समावेश के केंद्र बनें। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक एक न्यायसंगत समाज की कल्पना अधूरी ही रहेगी, क्योंकि स्थान का निर्माण, नियंत्रण, और आवंटन (allocation) किस तरह से होता है, यह न्याय की व्यापक समझ का एक अनिवार्य हिस्सा है। इसलिए, शहरी शासन और नीति-निर्माण में स्थानिक न्याय को एक केंद्रीय मुद्दे के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। (Soja : 2010) दिल्ली में स्थानिक अन्याय को लुटियंस दिल्ली और दक्षिण दिल्ली जैसे संपन्न क्षेत्रों, जहाँ जल, स्वच्छता और उच्च गुणवत्ता वाली सार्वजनिक सेवाएँ निर्बाध रूप से उपलब्ध हैं, और सीमापुरी, भलस्वा और मंगोलपुरी जैसे श्रमिक वर्गीय क्षेत्रों में, जहाँ आवश्यक सेवाएँ अपर्याप्त हैं, के बीच के गहरे अंतर में देखा जा सकता है। दिल्ली विकास प्राधिकरण (डीडीए) की मास्टर प्लानिंग ने ऐतिहासिक रूप से इन असमानताओं को गहरा किया है, क्योंकि इसने उच्च श्रेणी के वाणिज्यिक और आवासीय विकास को प्राथमिकता दी है, जबकि अनौपचारिक बस्तियों को सार्वजनिक संसाधनों तक सीमित पहुंच के साथ शहर के बाहरी इलाकों में धकेल दिया है। भारत में आवास अधिकारों की संवैधानिक मान्यता की कमी ने स्थानिक अन्याय को और गहरा कर दिया है, क्योंकि झुग्गीवासियों को व्यवस्थित रूप से बेदखली के खिलाफ कानूनी सुरक्षा से वंचित किया गया है। संवैधानिक सुरक्षा के अभाव में, अनौपचारिक आवास के प्रति नीति प्रतिक्रियाएँ अस्थायी और सशर्त बनी रहती हैं, जो दीर्घकालिक सुरक्षा के बजाय केवल अल्पकालिक पुनर्वास की पेशकश करती हैं। जब पुनर्वास की पेशकश की जाती है, तो यह अक्सर शहर के बाहरी इलाकों में किया जाता है, जिससे झुग्गीवासियों को उनकी आजीविका, सामाजिक नेटवर्क और आवश्यक सेवाओं से अलग कर दिया जाता है (बविष्कर : 2003)। यह स्थानिक विस्थापन आर्थिक और सामाजिक हाशिएकृत लोगो की स्थिति को और विषम बनाता है।

इन अन्यायों का मुकाबला करने के लिए आवास के प्रति अधिकार-आधारित दृष्टिकोण (Rights-Based Approach) अपनाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, भागीदारी आधारित शहरी नियोजन तंत्र, जिसमें झुग्गीवासियों को निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में शामिल किया जाता है, उनके ''शहर के अधिकार'' को सुनिश्चित करने में मदद कर सकते हैं। शहर का अधिकार और आवास का अधिकार केवल कानूनी और सैद्धांतिक संकल्पनाएँ नहीं हैं; वे मौलिक रूप से राजनीतिक दावे हैं जो शहरी शासन और बहिष्करण की प्रमुख संरचनाओं को चुनौती देते हैं। ये दावे शहरी नागरिकता की एक मौलिक पुनर्रचना की माँग करते हैं, यह तर्क देते हुए कि आवास, सार्वजनिक स्थान और राजनीतिक भागीदारी तक पहुँच केवल कुछ विशेषाधिकार प्राप्त लोगों तक सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि सभी शहरी निवासियों, विशेष रूप से ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहे समुदायों को भी यह अधिकार मिलना चाहिए।

निष्कर्ष

अत: विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि आवास के अधिकार और शहर के अधिकार की परस्पर क्रिया शहरी पुनर्गठन के लिए अत्यंत आवश्यक है। आवास का अधिकार कानूनी सुरक्षा प्रदान करता है, जबकि शहर का अधिकार शहरी नियोजन में झुग्गीवासियों की सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित करता है। यदि केवल आवास के अधिकार को लागू किया जाता है और शहर के अधिकार की उपेक्षा की जाती है, तो झुग्गीवासी केवल निष्क्रिय लाभार्थी बनकर रह जाएंगे और उनके पास शहरी नियोजन में कोई भूमिका नहीं होगी। इसके विपरीत, यदि शहर के अधिकार की वकालत की जाती है लेकिन आवास की सुरक्षा सुनिश्चित नहीं की जाती, तो झुग्गी समुदाय विस्थापन और कानूनी असुरक्षा का सामना करते रहेंगे। एक अधिकार-आधारित शहरी परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि इन दोनों दृष्टिकोणों को एकीकृत किया जाए। लेफेब्वर का राइट टू द सिटी और सोजा का स्पैशियल जस्टिस ऐसे वैचारिक ढांचे प्रदान करते हैं, जो नवउदारवादी शहरीकरण की बहिष्करणकारी प्रवृत्तियों को चुनौती देते हैं और एक अधिक

न्यायसंगत, सहभागी और समतामूलक शहरी व्यवस्था का समर्थन करते हैं।

राजनीति विज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

- ऑफिस ऑफ द यूनाइटेड नेशंस हाई कमिश्नर फॉर ह्यूमन राइट्स (OHCHR) एवं यूएन-हैबिटैट. 2009. द राइट टू एडिक्वेट हाउसिंग (फैक्ट शीट नं. 21/Rev. 1), जेनेवा : स्विट्जरलैंड.
- बविष्कर, अ. 2003. बिटवीन वायलेंस एंड डिजायर : स्पेस, पावर एंड आइडेंटिटी इन द मेकिंग ऑफ मेट्रोपॉलिटन दिल्ली, इंटरनेशनल सोशल साइंस जर्नल, 55 (175), 89-98.
- भान, जी. 2016. इन द पब्लिक्स इंटरेस्ट : एविक्शन्स, सिटिजनशिप एंड इनइक्वैलिटी इन कंटेम्पररी दिल्ली, दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान; एथेंस, जॉर्जिया : यूनिवर्सिटी ऑफ जॉर्जिया प्रेस.
- ड्यूपोंट, वी. 2008. स्लम डिमॉलिशन्स इन दिल्ली सिंस द 1990s : एन अप्रेजल, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 43(28).
- ड्यूपोंट, वी. 2011. द ड्रीम ऑफ दिल्ली ऐज ए ग्लोबल सिटी, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अर्बन एंड रीजनल रिसर्च, 35(3), 533-554.
- घर्टनर, डी. ए. 2008. एन एनालिसिस ऑफ न्यू लीगल डिस्कोर्स बिहाइंड दिल्ली स्लम डिमॉलिशन्स, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 43, 57-66.
- घर्टनर, डी. ए. 2010. कैलकुलेटिंग विदआउट नंबर्स : एस्थेटिक गवर्नमेंटैलिटी इन दिल्लीज स्लम्स, इकोनॉमी एंड सोसाइटी, 39(2), 185-217.
- लेफेव्र, एच. 1996. राइटिंग्स ऑन सिटीज (ई. कोफमैन एवं ई. लेबास, अनुवादक और संपादक), ऑक्सफोर्ड : ब्लैकवेल पब्लिशर्स (मूल कृति 1968 में प्रकाशित).
- संयुक्त राष्ट्र, 1948. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स, उपलब्ध : https://www-un-org/en/about-us/universal-declaration-of-human-rights
- पर्सेल, एम. 2002. एक्सकेवेटिंग लेफेव्रे : द राइट टू द सिटी एंड इट्स अर्बन पॉलिटिक्स ऑफ द इनहैबिटेंट, जियोजर्नल, 58(2-3), 99-108.
- रामनाथन, उ. 2006. इलिगैलिटी एंड द अर्बन पुअर, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 41(29), 3193-3197.
- सोजा, ई. डब्ल्यू. 2010. सीकिंग स्पैशियल जस्टिस, मिनियापोलिस : यूनिवर्सिटी ऑफ मिनेसोटा प्रेस.
- संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्चायुक्त (OHCHR). 1966. इंटरनेशनल कॉवेनेंट ऑन इकनॉमिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स, उपलब्ध : https://www-ohchr-org/en/instruments&mechanisms/instruments/international-covenant-economic-social-and-cultural-rights
- हार्वे, डी. 2003. द राइट टू द सिटी, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अर्बन एंड रीजनल रिसर्च, 27(4), 939-941.
- हॉल्स्टन, जे. 2009. इंसर्जेंट सिटिजनशिप इन एन एरा ऑफ ग्लोबल अर्बन पेरिफरीज, सिटी एंड सोसाइटी, 21(2), 245-267.
- हॉल्स्टन, जे., एवं अप्पादुरई, ए.1996. सिटीज एंड सिटिजनशिप, पब्लिक कल्चर, 8(2), 187-204.

अजीत कुमार

शंकरदेव अवतरे कृत 'अभिनवकाव्यशास्त्र' में काव्य प्रयोजन

प्रस्तावना

'अभिनवकाव्यशास्त्रम्' बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है। आचार्य शंकरदेव अवतरे ने प्राचीन कारिका शैली का उपयोग करते हुए, समकालीन भारतीय और पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना से उत्पन्न चुनौतियों का समाधान किया है। उनके द्वारा निर्धारित काव्य प्रक्रिया पारंपरिक सीमाओं से परे जाकर सृजनात्मकता, अर्थ-क्रिया और सामाजिक चेतना को काव्य का अनिवार्य अंग मानते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की रचना और उसके अध्ययन के प्रयोजनों पर गहन विचार किया है। काव्य के प्रयोजनों का विवेचन काव्य के मूल्य और उपयोगिता को स्थापित करता है, यह बताता है कि काव्य के पढ़ने वाले और काव्य के लिखने वाले दोनों को इससे क्या लाभ प्राप्त होता है। भारतीय परंपरा में, चतुर्वर्ग फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है।

''प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते''

यह सूक्ति बताती है कि किसी भी कार्य को शुरू करने के लिए उसके पीछे कोई स्पष्ट लक्ष्य या प्रयोजन होना अनिवार्य है। यह प्रेरणा का सबसे मूलभूत नियम है। किसी भी शास्त्रीय ग्रंथ की रचना के आदि में, प्रायः प्रयोजन और पात्रता का वर्णन किया जाता है, ताकि पाठक को यह पता चले कि यह विषय उसके लिए क्यों उपयोगी है। आचार्य मम्मट जैसे विद्वान् अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में काव्य के छह प्रयोजनों को बताते हुए इसी सिद्धांत का पालन करते हैं, ताकि पाठक को यह ज्ञात हो सके कि 'रामादिवर्तितव्ययं न रावणादिवत्' इस ग्रंथ का अध्ययन क्यों किया जाना चाहिए (अर्थात्, इसका क्या प्रयोजन है)

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥

प्रत्येक शास्त्र, या किसी भी कार्य का, जब तक उसका प्रयोजन (उद्देश्य) नहीं बताया जाता, तब तक उसे कौन स्वीकार करेगा या उसमें कौन प्रवृत्त (शामिल) होगा?

इत्यादि शास्त्रिय पंक्तियों के द्वारा हमें काव्यप्रयोजनों की महत्ता बतलाई गई है।

विषय विस्तार

काव्य प्रयोजनों का सूत्रपात काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों से ही हो गया था।

भामह

''धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥''[1]

आचार्य भामह (छठी शताब्दी) ने काव्य के प्रयोजनों को चार भागों में बांटा :

1. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति (चतुर्वर्ग फल)।
2. कलाओं में निपुणता।
3. प्रीति (आनंद)।
4. कीर्ति (यश)।

भामह ने स्पष्ट किया कि काव्य केवल मनोरंजन नहीं, अपितु पुरुषार्थ साधन का माध्यम है। उनके अनुसार, उत्तम काव्य तुरंत आनंद देते हुए अंततः चारों पुरुषार्थों का मार्ग प्रशस्त करता है।

दण्डी[2]

आचार्य दण्डी (सातवीं शताब्दी) ने भामह के मत का समर्थन करते हुए काव्य के प्रयोजनों में लोक-व्यवहार के ज्ञान को विशेष महत्व दिया।

1. प्रीति (आनंद)।

2. कीर्ति (यश)।

3. विद्या (ज्ञान)।

दण्डी ने जोर दिया कि काव्य ज्ञान और आनंद का समन्वय है, और यह आयु तथा विभूति (ऐश्वर्य) में भी वृद्धि करता है। उनका दृष्टिकोण काव्य के लौकिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों को स्पर्श करता है।

कुन्तक

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में काव्य के प्रयोजन इस प्रकार बताए हैं :

कुन्तक के अनुसार काव्य के मुख्य रूप से तीन प्रयोजन हैं :

1. चतुर्वर्ग-फल-प्राप्ति :

⋆ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) के साधनों का ज्ञान अत्यंत सुकुमार (सरल और हृदयग्राही) क्रम से प्राप्त होना।

2. व्यवहार ज्ञान (व्यवहार विदे) :

लोक व्यवहार या उचित-अनुचित का ज्ञान होना।

3. लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति (हृदयाह्लादकारक:) :

काव्य के आस्वाद से सहृदयों (रसज्ञ पाठकों) के हृदय को अलौकिक आनंद प्राप्त होना।

आचार्य मम्मट

आचार्य मम्मट (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ काव्यप्रकाश में काव्य प्रयोजनों का सबसे सुसंगठित, क्रमबद्ध और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया, जो बाद के सभी आचार्यों के लिए मानक बन गया। उन्होंने काव्य के छह प्रयोजन माने हैं -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥[3]

क. लौकिक एवं बाह्य प्रयोजन

ये प्रयोजन कवि को बाहरी संसार में लाभान्वित करते हैं:

1. यशसे (यश या कीर्ति) : यह काव्य का स्थायी फल है, जो कवि को अमर बनाता है (जैसे कालिदास)।

2. अर्थकृते (धनार्जन) : यह व्यावहारिक प्रयोजन है, जिससे कवि को आजीविका प्राप्त होती है।

3. व्यवहारविदे (व्यवहार ज्ञान) : काव्य, इतिहास और पुराणों के माध्यम से उचित-अनुचित के लोक-व्यवहार की शिक्षा देता है।

4. शिवेतरक्षतये (अमंगल का निवारण) : यह आध्यात्मिक/ आधिदैविक प्रयोजन है, जहाँ देवताओं की स्तुति से विपत्तियों का शमन होता है।

ख. आंतरिक एवं सर्वोच्च प्रयोजन

ये प्रयोजन पाठक को तात्कालिक और गहन लाभ प्रदान करते हैं :

5. सद्यः परनिर्वृतये (तत्काल परम आनंद) : मम्मट के अनुसार यह सर्वोच्च प्रयोजन है। काव्य से उत्पन्न होने वाला रस का अनुभव ब्रह्मानंद सहोदर (ब्रह्मानंद के समान) होता है, जो पढ़ते ही तत्काल प्राप्त होता है। यह रसवादी दृष्टिकोण का केंद्रबिंदु है।

6. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे (प्रेयसी के समान मधुर उपदेश) : यह प्रयोजन काव्य की अद्वितीय उपदेश-शैली को दर्शाता है।

कविराज विश्वनाथ

कविराज विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग को स्पष्टतः सरस उपदेश के रुप में ग्रहण किया, क्योंकि उनके अनुसार विनेयों (छात्रों) का सहज अन्मुखीकरण काव्य से ही सम्भव है।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यदेव यतस्तस्मात् तत्स्वरुपं निरुप्यते॥[4]

मतलब यह कि उपदेश देना तो वाङ्मय मात्र का प्रयोजन है पर सरस उपदेश देना केवल काव्य का ही प्रयोजन है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसीलिये 'उपदेश' को एक सामान्य तत्व कहकर छोड़ ही दिया और केवल रसात्मक आह्लाद के रूप में (रमणीयार्थक) काव्य के प्रयोजन को उत्पन्न माना है।

आचार्य शंकरदेव अवतरे -

काव्यप्रयोजन

प्रमातुः स्थितिकोणेन काव्यस्य द्वे प्रयोजने।
जीवन्मुक्तिरिवान्दःसात्विको हृद्यशिक्षणम्॥[5]

शंकरदेव का यह प्रयोजन संस्कृत काव्यशास्त्र के समग्र उद्देश्य को दो मुख्य बिंदुओं में समेटता है, जो **प्रमाता (श्रोता या पाठक)** के अनुभव पर केंद्रित हैं :

काव्यस्य द्वे प्रयोजने। (काव्य के दो प्रयोजन हैं।)

जीवन्मुक्तिरिवान्दःसात्विको हृद्यशिक्षणम्। (जीवन्मुक्ति के

समान सात्विक आनंद और हृदयग्राही शिक्षा।)

1. आनंद (जीवन्मुक्तिरिवान्दः सात्विकः)

यह काव्य का तत्काल प्राप्त होने वाला और सर्वोच्च प्रयोजन है।

जिस प्रकार जीवन्मुक्ति की अवस्था में व्यक्ति सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर एक परम शांति और तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार काव्य के रसास्वादन से प्राप्त होने वाला आनंद भी सात्विक, अलौकिक और आत्मिक होता है। इसे विश्वनाथ ने ब्रह्मानंद सहोदर (ब्रह्मानंद के समान) भी कहा है।

★ अन्य आचार्यों का मत :

• **आचार्य मम्मट** ने इसे **सद्यः परनिर्वृत्तये** (तुरंत परम शांति या आनंद के लिए) कहा है। यह सबसे महत्वपूर्ण प्रयोजन है क्योंकि यही पाठक को काव्य की ओर खींचता है।

• **भट्टनायक** ने अपने रस-सिद्धांत में इसे **भोक्ता** (पाठक) के लिए **भोग** या **विश्रान्ति** (परम शांति) कहा है।

2. शिक्षा (हृद्यशिक्षणम्)

यह काव्य का **दीर्घकालिक** और **लोक-कल्याणकारी** प्रयोजन है।

काव्य केवल मनोरंजन नहीं करता, बल्कि यह हृदय को छूने वाले (हृद्य) तरीके से जीवनोपयोगी शिक्षा, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग फल) की प्राप्ति का मार्ग भी बताता है। यह शिक्षा सूखी आज्ञा या उपदेश (जैसे वेद) के रूप में न आकर, कान्तासम्मित उपदेश (प्रियतमा के मीठे वचनों जैसा उपदेश) के रूप में आती है।

आपका पद **(जीवन्मुक्तिरिवान्दःसात्विको हृद्यशिक्षणम्)** मम्मट के अंतिम दो प्रयोजनों—**सद्यः परनिर्वृत्ति** (आनंद) और **कान्तासम्मित उपदेश** (शिक्षा)— को ही पाठक के दृष्टिकोण से संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार, काव्य का प्रयोजन केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि परम आनंद की अनुभूति कराते हुए मनुष्य को जीवन के चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की ओर प्रेरित करना है।

उपसंहार

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यप्रयोजन को बहुआयामी माना गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने यह सिद्ध किया कि काव्य केवल शब्द और अर्थ की कला नहीं है, अपितु यह मनुष्य को आंतरिक सुख प्रदान करते हुए उसे चरम पुरुषार्थ की ओर ले जाने वाला एक सशक्त सांस्कृतिक और शैक्षणिक उपकरण है। मम्मट का वर्गीकरण आज भी काव्य के बहुआयामी उपयोगिता का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन माना जाता है। शंकरदेव ने अपने काव्य प्रयोजन में कवि और पाठक दोनों के लक्ष्यों को समाहित किया। पाठक के लिए काव्य का सारभूत प्रयोजन आपके द्वारा बताए गए श्लोक के अनुरूप है : **जीवन्मुक्तिरिवान्दः** (तत्काल परम आनंद) **हृद्यशिक्षणम्** और (मधुर शिक्षा)। काव्य का अंतिम लक्ष्य **लोक-मंगल** है, जो आनंद के माध्यम से आदर्श व्यवहार का ज्ञान प्रदान करता है, जिससे मनुष्य सांसारिक जीवन में सफल होते हुए आध्यात्मिक तृप्ति प्राप्त कर सके।

शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली -110007

सन्दर्भ सूची

1. काव्यालंकार 1.5
2. काव्यादर्श 1.6
3. काव्यप्रकाश 1.5
4. साहित्यदर्पण 1.6
5. अभिनवकाव्यशास्त्रम् 1.12

हिन्दी के जीवनीपरक उपन्यास और सूत्रधार

माया सिंह

जीवनी, आत्मकथा और जीवनीपरक उपन्यास

जीवनी-

हिंदी साहित्य में आरंभिक काल से जीवनी साहित्य का उद्भव चरित्र काव्य तक ही सीमित रहा है। भक्ति काल में साधु एवं महात्माओं के जीवन चरित्र को साहित्यिक रूप में लिखने की परंपरा का प्रोत्साहन मिला, संतों और भक्तों के जीवन चरित्र को सर्वप्रथम परिचय या परचई कहा गया है। जैसे 'कबीर की परचई' एवं 'रविदास जी की परचई' इत्यादि। जीवन चरित्र ग्रंथों में विशेष रूप से नाभादास जी कृत 'भक्तमाल' एवं गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णो वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णो वार्ता' आदि उल्लेखनीय हैं। यह ग्रंथ वैष्णो धर्म की प्रोत्साहन और पुष्टि हेतु लिखा गया है। इसमें विभिन्न तत्वों के अभाव के कारण जीवनी ग्रंथ नहीं माना जा सकता है। भारतेंदु युग से जीवनी साहित्य का आरंभ माना जाता है। इस युग तक जीवनी साहित्य अपने प्राचीन रूप को परित्याग कर एक नए रूप धारण किया और जीवनी साहित्य एक गद्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुईं हैं।

आत्मकथा-

हिंदी साहित्य में आत्म चरित्र किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं के जीवन में घटित विभिन्न घटनाओं को लिखित रूप प्रदान करना आत्मकथा कहलाती है। आत्मकथा से उसे व्यक्ति के युगीन परिस्थितियों और उनके विचारधाराओं का बोध होता है। कुछ लेखक अपने रचनाकर्म की संघर्ष को अपने आत्मकथा का विषय बनाते हैं। वे स्वयं आत्म स्वीकार और साहस को प्रदर्शित करते हैं। धर्मवीर भारती ने कहा है कि ''हिंदी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह देना-यह पहली बार हुआ है''[1] हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बनारसी दास जैन द्वारा लिखित प्रथम आत्मकथा 'अर्द्ध कथानक' (1641 ई.) में प्रकाशित प्रथम रचना है, वहीं महिला आत्मकथाकारों में जानकी देवी बजाज द्वारा लिखित 'मेरी जीवन यात्रा' (1556 ई.) में प्रकाशित हुई है। यह प्रथम महिला आत्मकथा लेखिका मानी जाती है। हिंदी साहित्य के अन्य कथाकारों में हरिवंश राय बच्चन द्वारा लिखित आत्मकथा चार खंडों में विभक्त है 'क्या भूलूं क्या याद करूं' (1969 ई.), 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' (1976 ई.), 'बसेरे से दूर' (1978 ई.), 'दश द्वापर के सोपान तक' (1985 ई.) में प्रकाशित हुई है, यशपाल की आत्मकथा 'सिंहालोकन', राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित आत्मकथा 'जीवन यात्रा' आदि। दलित आत्मकथा में लिखित मोहन दास नैमिषराय द्वारा कृत 'अपने-अपने पिंजरे' और डॉ. तुलसीराम कृत 'मुर्दाहिया' तथा 'मणिकर्णिका' आदि प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार अनेक लेखकों ने आत्मकथा लिखी उनमें बाबू श्याम सुंदर दास, डॉ. नागेंद्र, डॉ. धर्मवीर भारती, सेठ गोविंद दास आदि हैं।

जीवनीपरक उपन्यास-

साहित्य में जीवनीपरक उपन्यासों की आधार किसी व्यक्ति के जीवन पर आधारित होता है, यह व्यक्ति के ऐतिहासिक, सामाजिक और कलात्मक को वर्णनात्मक शैली में उल्लेखित करता है यह विभिन्न तथ्यों पर आधारित होती है। हिंदी साहित्य में प्रमुख जीवनीपरक उपन्यासों में डॉ. विष्णु प्रभाकर कृत 'आवारा मसीहा' डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' रांगेय राघव कृत 'रत्ना की बात', संजीव कृत

'सूत्रधार', गिरिराज किशोर कृत 'पहला गिरमिटिया' आदि हैं। जीवनपरक उपन्यासों के द्वारा पाठक वर्ग महान व्यक्तियों के संघर्ष, उपलब्धियां और उनकी कमजोरी को उस रचनाओं के माध्यम से समझ पाते हैं। यह साहित्य की एक सार्थक विद्या रही है, जिसमें किसी महान व्यक्ति के व्यक्तित्व की जीवन गाथा ही नहीं बल्कि उसे समय के सामाजिक, ऐतिहासिक, चेतना को उजागर करता है। तथ्य और कल्पनाओं के आपसी संतुलन के कारण पाठक को ज्ञान और प्रेरणा प्रदान करता है।

हिंदी के प्रमुख जीवनीपरक उपन्यास-

हिंदी साहित्य में जीवनीपरक उपन्यास का प्रारंभिक विकास चरित्रमूलक उपन्यास और जीवनीपरक साहित्य से हुआ है। यह साहित्य की वह विधा है जो सत्यता पर आधारित है। उपन्यासों में ऐतिहासिक और सामाजिक पत्रों के माध्यम से युगीन परिस्थितियों और उनके जीवन वृत्त को दर्शाया जाता है। यह साहित्य में अपनी एक अलग स्थान रखते हैं। हिंदी साहित्य में जीवनीपरक उपन्यासों की परंपरा का सूत्रपात रांगेय राघव कृत 'भारती का सपूत' (भारतेंदु हरिश्चंद्र पर आधारित) उपन्यास से माना जाता है।

मस्तानी/कनक कुसुम (सन् 1903 ई.)-

यह रचना किशोरी लाल गोस्वामी कृत हिंदी साहित्य में प्रथम जीवनीपरक उपन्यास माना जाता है। यह सीमित पृष्ठों में रचित लघु उपन्यास है। इस उपन्यास में महाराष्ट्र के पेशवा बाजीराव की प्रेमिका मस्तानी के संघर्षमयी जीवन चरित्र को दर्शाया गया एवं इस उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम एकता का चित्रण हुआ है।

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (1947 ई.)-

हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार वृंदावन वर्मा कृत 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास है। वर्मा जी का मुख्यत: पहचान ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात है। इस उपन्यास में रानी के शौर्यपूर्ण बलिदान का उल्लेख किया गया है। 'वर्मा जी अंग्रेजों के प्रति रानी की सुदीच्क्षा को उनकी रणनीति मानते हैं। वे सन् 1957 की राज्य क्रांति के व्यापक फलक पर रानी की भूमिका को अंकित करते हैं।'[12]

बाणभट्ट की आत्मकथा (1946 ई.)-

हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास अतीत की पृष्ठभूमि पर भी, होते हुए वर्तमान समाज की चिंता को लेकर अपने मुख्य केंद्र में रखकर चलता है। इस उपन्यास के प्रसिद्ध उपन्यासकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित उपन्यास है। इसमें युद्ध के प्रसंग पर विचार विमर्श किया गया और भारतीय सांस्कृतिक, साधना पद्धति और विदेशी विचार प्रवाह के अपेक्षित संतुलन पर बल दिया गया है। इस उपन्यास की कथावस्तु प्राचीन कालीन है। नायक संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध साहित्यकार ''बाणभट्ट'' है। यह उपन्यास 12वीं-13वीं शताब्दी पर आधारित है।

''ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित रचना होने पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने समकालीन प्रभावों को कैसे सहजता से आत्मसात कर सकती है।''[13]

मानस का हंस सन् (1972 ई.)-

प्रसिद्ध उपन्यासकार अमृतलाल नागर जी द्वारा रचित जीवनीपरक उपन्यास 'मानस का हंस' जिसमें तुलसीदास के जीवन चरित्र को केंद्र में रखकर लिखा गया है। रचनाकार ने व्यापक फलक पर तुलसीदास युगीन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। तुलसीदास के मानवी रूप को उनके जीवन यात्रा के संदर्भ में, प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया है। तुलसीदास के संघर्षमयी जीवन को व्यवस्थित और प्रमाणित रूप से प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है।

खंजन नयन सन् (1981 ई.)-

हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार अमृतलाल नागर जी द्वारा रचित उपन्यास है। उपन्यास के मुख्य केंद्र में भक्ति काल के सगुण धारा के प्रसिद्ध कवि सूरदास जी हैं। इस उपन्यास के माध्यम से सूरदास के जीवन-वृत्त और उनके चरित्र चित्रण को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। और ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में सूरदास युगीन सामाजिक परिस्थितियों का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत हुआ है। इस प्रकार जीवनीपरक उपन्यास में 'आलमगीर' सन् 1954, चतुरसेन शास्त्री कृत है। रांगेयराघव कृत 'लोई का ताना' जो कबीर दास के जीवन पर आधारित है वृंदा लाल वर्मा कृत 'अहिल्याबाई' सन् 1955, में 'माधव जी की सिंधिया' सन् 1956 में आदि है।

संजीव का उपन्यास सूत्रधार-

समकालीन उपन्यासकार संजीव बिहार-बंगाल और झारखंड की सीमा पर स्थित कुल्टी में निवास स्थान होने के कारण वहां की भाषा संस्कृति और अंतर जातीय विशेषताओं

से परिचित थे। वे हर रचनाओं में एक नई चुनौती लेकर खड़े दिखाई देते हैं। भोजपुरी अंचल के प्रसिद्ध महान सम्राट भिखारी ठाकुर के जीवन को अपने उपन्यास के केंद्र में रखकर रचना किया 'सूत्रधार' लोकनाट्य और लोक कलाकारों में अनूठे भिखारी ठाकुर जिन्हें 'भोजपुरी का शेक्सपियर' से संबोधित किया गया है। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था वर्षों से चली आ रही है, इस उपन्यास में जाति भेद की समस्या को प्रमुखता से चित्रित किया गया है। भिखारी ठाकुर का जन्म नाई परिवार में हुआ था, जाति की पहचान परिवार से और लोकप्रियता की प्रसिद्ध अंचल विशेष से प्राप्त हुई। जाति व्यवस्था से प्रताड़ित दलित वर्ग के होने के कारण समाज के उच्च वर्गों द्वारा उन्हें पग-पग पर तिरस्कार सहना पड़ा। गांव में यज्ञशाला का आयोजन हुआ, वहां पर अयोध्या, आरा, दरभंगा, काशी और पटना से पंडितों को आमंत्रित किया गया था। दलसिंगार ठाकुर और उनके अन्य नाई जाति के लोग सेवा टहल में लगे हुए थे। सभी कार्य करने में लगे थे। कोई कुएं से पानी लाता तो कोई यज्ञ की वेदी बना रहा था। दलसिंगार ठाकुर पुण्य का कार्य समझकर सभी कार्य को तन-मन से कर रहे थे। भिखारी को गौर-वर्ण व्यक्तित्व वाला देखकर पुरोहित जी ब्राह्मण समझकर चौक पूरन का कार्य सौंप दिये। कुछ ही समय बाद व्यक्तियों द्वारा क्रोधित आवाज में पुरोहित जी से बहस होने लगी कि 'आपको ब्राह्मण नहीं भेटाया जो नाई के लड़के से जग्गशाला भ्रष्ट करवा रहे हैं'[4] भिखारी ठाकुर के साथ हो रहे जाति और वर्ण व्यवस्था के भेदभाव के विषय में संजीव लिखते हैं कि 'उनके सामने ही गंगाजल छिड़काव कर मंत्र से शुद्ध करने के बाद काम फिर से शुरू किया गया।[5] इससे यही स्पष्ट होता है कि जाति व्यवस्था चरम सीमा पर थी, उच्च वर्ग द्वारा दलित समुदाय को नीच दृष्टि से देखा जाता था। दलित वर्ग जीवन यापन के लिए बहुत ही संघर्ष करना पड़ता था, साथ ही अपमान भरी जिंदगी जीनी पड़ी और कदम-कदम पर घृणित व्यवहार सहना पड़ा था।

इस उपन्यास को पाठक पढ़ते समय भाव विह्वल हो उठते हैं। सूत्रधार के पाठक 'करुणा का सागर' कहते हैं। भिखारी ठाकुर का जीवन पूरी तरह से संघर्षरत रहा है। इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार समाज में एक आलोचनात्मक दृष्टि प्रदान करते हुए समाज को एक नई धारा में प्रवाहित करता है, समाज में हो रहे व्यापक कुरीतियों के विरुद्ध मनुष्य जाति खड़ी हो सके और उसे निजाज पा सके। अमृतलाल नागर जी के उपन्यास 'खंजन नयन' जो सूरदास के जीवन पर आधारित है। और 'मानस का हंस' तुलसीदास के जीवन वृत्त है। इसमें कथा नायक साहित्य की प्रख्यात है, वही सूत्रधार का नायक एक साधारण मनुष्य है। भिखारी ठाकुर के जीवन मृत्यु को उद्वित करते हुए यह उपन्यास जीवनीपरक उपन्यास है जिसमें अनेक प्रकार से जीवन के उतराव-चढ़ाव और संघर्ष गाथा को दिखाया गया है। इस उपन्यास में जाति व्यवस्था पर कटु आलोचना की गई है। 'व्यक्तित्व के मंच पर बहुत कुछ घट रहा था-कुछ प्रकट हुआ, कुछ गुप्त। जो प्रकट था, वह तन में था, जो गुप्त था वह मन में।'[6]

इस उपन्यास में संजीव ने दलित समाज को पूरी तरह से विश्लेषित किया है। जाति व्यवस्था की समस्या, स्त्री शोषण और बेटी-बेचवा की समस्याओं को इस उपन्यास में व्याख्यायित किया है। इस प्रकार भारतीय समाज में दलितों की स्थिति और उनके जीवन निर्वाह हेतु कार्य करने की स्थिति को रेखांकित किया गया है। संजीव का यह उपन्यास सूत्रधार दलित समाज और अस्पृश्यता की समस्या और जातिवाद की समस्या पर आधारित है। भिखारी ठाकुर का संघर्ष समाज में हो रहे कुरीतियों से था। मानवी मूल्यों को अपनी प्रखर प्रतिभा से संघर्ष सूत्र में बांधकर सूत्रधार की तरह अपनी सार्थकता को सिद्ध करते हैं।

लोक जीवन, लोकनाट्य और भिखारी ठाकुर

भोजपुरी क्षेत्र के प्रसिद्ध लोक नाटककार भिखारी ठाकुर जो अपने नाट्य प्रदर्शनी के माध्यम से भोजपुर क्षेत्र के सांस्कृतिक रीति-रिवाज और लोग जीवन को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। वह अपने नाटकों के माध्यम से बाल-विवाह, गरीबी और विधवा-विवाह की समस्या, जातिवाद आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला है। लोग नाट्य से प्रभावित पारंपरिक नाटक सामाजिक क्षेत्र में मनोरंजन के साथ ही साथ संदेश देने का कार्य करता है। भिखारी ठाकुर अपने नाटक कला और संगीत अभिनय, नृत्य कला आदि के द्वारा लोक नाट्य को अधिक समृद्ध किया, इसमें विदेशिया नाटक, भाई-विरोध, बेटी-बेचवा, नाट्य मंडली के माध्यम से समाज में हो रहे कुरीतियों को केंद्र में रखकर समाज को आइना दिखाया है। भिखारी ठाकुर नृत्य और गीतों के माध्यम से सामाजिक मुद्दों को उठाया है, वह भोजपुरी साहित्य और संस्कृति को देश-विदेश में जाकर लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ठाकुर जी का नाटक साहित्य, लोकनाट्य

का विषय वस्तु लोग जीवन को ही समर्पित हैं।

सूत्रधार का शिल्प विधान-

उपन्यास सूत्रधार की कथावस्तु भोजपुरी परिवेश में निर्मित है। इसमें भोजपुरी साहित्य शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं मुहावरे, कहावतें और गीतों का जमकर प्रयोग हुआ है। अत्यधिक वक्तव्य भोजपुरी साहित्य में है। इस उपन्यास में स्थानीय भाषा का प्रयोग हुआ है। शिल्प-विधान के मूलाधारों में लोककला और लोकधुन का श्रेष्ठ स्थान है, इस तर्ज पर आधारित गीतों में क्षेत्र विशेष स्थानीय भाषा ठेठ भोजपुरी संस्कृति की झलक दिखाई पड़ती है। बाल्यावस्था से भिखारी ठाकुर विभिन्न लयों से परिचित थे जैसे बिरहा, आल्हा, लोरकायन, सोरठी आदि। इन सभी लयों का प्रयोग वे परिस्थिति के अनुरूप ही प्रयोग करते थे। वे पूर्वी धुनों को बेहद पसंद करते थे। विभिन्न लोकप्रिय लयों, धुनों और तर्जों को उनके नाट्य साहित्य में अंकित किया गया है। साथ ही स्त्री द्वारा प्रस्तुत संस्कार-गीत के माध्यम से अपने नाट्य-शिल्प को सजाया है, 'बेटी वियोग' नाटक में संस्कार गीतों का अधिक प्रयोग हुआ है। 'भोजपुरी समाज में प्रचलित अर्थहीन पदबंधों के उपयोग से भी भिखारी ठाकुर ने परहेज नहीं किया है। जैसे लड़िका-फड़िका, जेवर-फेवर, (विदेशिया) आदि अपनी नाट्य भाषा को आम लोगों के अधिक निकट पहुंचने के लिए सजग रंगकर्मी ने उन सारे शब्द-समूहों को यथावसर स्वीकार किया है। जो भोजपुरी भाषाओं के बीच स्वीकृत रहे हैं।'[7] इस तरह लोग भाषा को अधिक चमकदार बनाने में विभिन्न उपकरणों का प्रयोग कर उसको सरलता के साथ अंगीकरण कर नाटक में प्रयोग हुआ है, और शिल्प-विधान के लिए उस समय की परंपरागत लोक-कलाकर्म ही लोकप्रिय साधन थे। भिखारी ठाकुर का मुख्य उद्देश्य निम्न वर्ग की परंपरागत संस्कृति को समाज के सामने प्रस्तुत करना था। भोजपुरी माटी में जन्मे भिखारी ठाकुर सदैव भोजपुरी साहित्य के पक्षधर रहे हैं।

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
सम्बद्ध
नेशनल पी.जी. कॉलेज,
बड़हलगंज, गोरखपुर

सन्दर्भ सूची

1. तिवारी, डॉ. रामचंद्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2015 ई०, पृष्ठ संख्या 496
2. डॉ. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 2016, पृष्ठ संख्या 162
3. डॉ. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 2016, पृष्ठ संख्या 168
4. संजीव, सूत्रधार, राधा कृष्ण प्रकाशन 2003, पृष्ठ संख्या 28
5. लोंढ़ डॉ. रामचंद्र मारुति, संजीव का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, ए.बी.एस. पब्लिकेशन वाराणसी 2012, पृष्ठ संख्या 137
6. संजीव, सूत्रधार, राधा कृष्ण प्रकाशन 2003, पृष्ठ 22
7. सिंह धनंजय, भिखारी ठाकुर और लोक धर्मिता, अनन्य प्रकाशन दिल्ली 2023, पृष्ठ संख्या 175

शोध-पत्र

रोहित मिश्रा

मृदुला सिन्हा और उनका कथा साहित्य : नारी चेतना के विभिन्न आयाम

हिंदी साहित्य के इतिहास में स्त्री लेखिकाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में बहुत ही कम रही है। आदिकाल से लेकर स्वतंत्रता-प्राप्ति तक यदि महिला रचनाकारों की बात की जाए तो उनमें मीरा, महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान का ही नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। यद्यपि, वर्तमान समय में इसमें परिवर्तन अवश्य हुआ है और आजादी के बाद अनेक प्रबुद्ध महिलाओं ने साहित्य को अमर रचनाओं से संस्कारित किया है जिनमें मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, ममता कालिया, नासिरा शर्मा, उषा प्रियंवदा आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

दरअसल, आजादी के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों में बदलाव आने से वैचारिक स्तर में भी परिवर्तन हुए हैं जिसका प्रभाव महिलाओं की दशा पर भी दृष्टिगोचर हुआ। महिला सशक्तिकरण तथा अधिकारों के माध्यम से महिलाओं की स्थिति पहले से अधिक बेहतर हुई है। यही कारण रहा है कि वर्तमान समय में हिंदी साहित्य में स्त्री चेतना का नया पक्ष उभर कर सामने आया है। उक्त महिला रचनाकारों ने साहित्य के माध्यम से महिला जीवन के विभिन्न पहलुओं को समाज के सामने रखने का सफल प्रयास किया है। इन्हीं रचनाकारों में एक विशिष्ट नाम पिछले कुछ दशकों में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुका है जिनका नाम है मृदुला सिन्हा। मृदुला सिन्हा ने अपने साहित्य के माध्यम से केवल स्त्री पक्ष को ही प्रस्तुत नहीं किया है अपितु स्त्री समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया है। लोकजीवन से जुड़े शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों, गीतों आदि का प्रयोग उनके साहित्य को अधिक जीवंतता प्रदान करता है। इस संबंध में डॉ. संजय पंकज ने लिखा है- ''मृदुला सिन्हा का साहित्य लोक की सुवास, अंचल के रंग और संस्कृति की धड़कन सहेजकर जीवंत और ऊर्जावान हो जाता है। इसके परिप्रेक्ष्य में समृद्ध परंपरा, वैभवशाली अतीत और गौरवपूर्ण संदर्भ सहज-स्वाभाविक रूप से सन्निहित रहता है। यही मन को प्रभावित भी करता है और स्वभाव को परिवर्तित भी करता है। लोकरंग, अंचलराग और संस्कृति संवेदन मृदुला सिन्हा के साहित्य के प्राणतत्व हैं।''[1]

आधुनिक युग की महिला लेखिकाओं में मृदुला सिन्हा जी का महत्त्व विशिष्ट है। इन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से नारी विषयक दृष्टिकोण को एक नया आयाम दिया है। भारतीय वाङ्मय में स्त्री एवं पुरुष दोनों को ही समान दर्जा दिया गया है। एक ओर शिव है तो दूसरी ओर शक्ति, एक ओर विष्णु है तो दूसरी ओर लक्ष्मी, देवता है तो देवी भी पूज्यनीय है। परंतु, भारतीय समाज में पुरुषवादी सत्ता द्वारा महिलाओं को शुरुआत से ही हीनतर बताया गया है और मृदुला सिन्हा इस परंपरागत ढांचे को तोड़ने का प्रयास करती हुई दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है- ''हर विकासशील सदी के विकास में स्त्री और पुरुषों की सहभागिता अपेक्षित होती है। स्त्री और पुरुष का युगानुकूल विकास होता है, बाहर और भीतर भी पिछले कई सदियों से समाज में 'तू औरत की ज्योति बहन री, मैं घर का पहवाला' की स्थिति रही है।''[2]

समाज को बराबरी की दृष्टि से देखने वाले विभिन्न नारीवादी चिंतकों ने स्त्री और पुरुष को समानता देने की बात कही है। किंतु इस दृष्टि में मृदुला सिन्हा जी एक कदम आगे दिखाई पड़ती है। उन्होंने समाज में स्त्री और पुरुष को समान

मानने की बजाय स्त्री को अधिक उपयोगिता देना चाहा है। उनके अनुसार ''स्त्री पुरुष की बराबरी की होड़ प्रदूषित मानसिकता का द्योतक है। हम ही क्यों करें करवा चौथ? पुरुष क्यों नहीं? हम क्यों पहने चूड़ियां और सिंदूर, पुरुष क्यों नहीं?''[3]

उक्त कथन में मृदुला सिन्हा जी का पुरुषवादी समाज के प्रति आक्रोश दिखाई देता है जो सदियों से महिलाओं को एक जंजीर में बांधे रखने के कारण प्रस्फुटित हुआ है। इस आक्रोश को मृदुला सिन्हा जी ने अपने साहित्य में विभिन्न नारी पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। संभवत: यही आक्रोश उन्हें 'हम भारत की नारी है, फूल नहीं चिंगारी है' नारे में दिखाई दिया और काफी सोच समझकर इस नारे में बदलाव किया। इस संबंध में उन्होंने लिखा है-''बहुत दिनों बाद मध्य प्रदेश के सतना जिले के सुदूर गाँव में महिलाओं के कार्यक्रम में एक पुराना नारा गूँजा-'हम भारत की नारी हैं : फूल नहीं, चिनगारी हैं।' मैंने ध्यान से सुना। फूल और चिनगारी के बीच में 'नहीं' ही था, 'और' नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ। तीस वर्ष पूर्व जब दिल्ली में यह नारा महिलाओं द्वारा आयोजित धरना व प्रदर्शन में गूँजता था, सुनकर मुझे बड़ा अटपटा लगता था।... तब भी मैंने नारे पर विचार किया।... चिनगारी का काम अग्नि प्रज्वलित करना है। अग्नि का वह लघुतम रूप समस्त दावानल, बड़वानल और जठरानल को अगने में अटूरहित किए हुए होता है। संसार में अग्नि के जितने भी रूप हैं, उनको प्रज्वलित करने की शक्ति एक चिनगारी में होती है।... इस नारे में धमकी भरी चेतावनी भी है नारियाँ दुनिया को सुनाने लगीं कि उनकी शक्ति को पहचानो, उन्हें अधिकार दो, वरना वे चिनगारी बनकर दिखाएँगी, समाज की समरसता भंग कर देंगी। उन्होंने अपने फूल का रूप नकार दिया। फूल कोमल, सुगंधयुक्त, सुंदर और सुखदायी होता है।... फूल अपनी उपस्थिति से ही वातावरण को सौरभमय कर देता है। समाज में नारी का यही रूप कायम था और है भी प्रकृति और संस्कृति ने नारी को समाज के लिए 'सुमन' बनने का ही दायित्व सौंपा।... अपना परिचय देते हुए वह कैसे घोषणा कर सकती है कि वह 'फूल नहीं, मात्र चिनगारी' है फूल की भूमिका त्यागने पर उसे अधिकार कैसे मिलेगा और चिनगारी की जरूरत तो कभी-कभी होती है-आग प्रज्वलित करने भर के लिए। नारी का स्थायी रूप चिनगारी का नहीं हो सकता। उसे सामान्य समय में फूल ही रहना होगा। मात्र संघर्ष नहीं, रचना-धर्म का दायित्व भी उसका है। दरअसल, हर संघर्ष में एक रचना छुपी होती है। महिला के संघर्ष में रचना समाहित है। बहुत सोच-समझकर तीस वर्ष पूर्व मैंने इस नारे में संशोधन किया था 'हम भारत की नारी हैं, फूल और चिनगारी हैं।' इस संशोधन का उद्देश्य अनर्थ होने से बचना था। 'और' लगाने से नारा अर्थवान् हो गया। औरत 'फूल' भी है और 'चिनगारी' भी।[4]

मृदुला सिन्हा जी का नारी चिंतन अन्य महिला रचनाकारों से भिन्न दिखाई पड़ता है। वे महिलाओं को पुरुषों के समान मानने की बजाय उनके मातृत्व एवं नारीत्व को अधिक प्राथमिकता देती है। सिन्हा जी का मानना है कि महिलाओं में त्याग, सेवा, मातृत्व आदि गुण होते हैं जो उन्हें पुरुषों से अधिक श्रेष्ठ बनाते हैं। 'घरवास' उपन्यास में कालिया पात्र के माध्यम से सिन्हा जी ने इस दृष्टि को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। कालिया का पात्र एक संघर्षमयी माँ का है जो त्याग एवं समर्पण की मूर्ति है। आर्थिक परेशानियां होने के बावजूद भी वह छठ का व्रत रखती है जो उपन्यास के इस अंश से समझा जा सकता है-''विलोचना ने पूछा, 'पैसे कहां से लाई?' कालिया ने जवाब दिया, 'तुम्हारे लाये रुपयों में से पांच रुपये अलग रख दिए थे। छठ व्रत तो करना ही था न। एक दिन भूखे रहकर भी। पंजाब में तुम थे तो मनौती मानी थी तुम राजी खुशी लौट आओगे तो इस बार मैं भी छठ व्रत करूँगी सो कर रही हूँ'।''[5]

किन्तु, यह आर्थिक परेशानी कभी-कभी महिलाओं के लिए तनाव का कारण भी बन जाता है जो कालिया के साथ भी हुआ। महिलाओं की इस दशा का भी सिन्हा जी ने बखूबी चित्रण किया है। एक बार जब आर्थिक तंगी होने पर कालिया अपने बच्चों खाने के लिए केवल आलू देती है और बच्चे उसे खाने से मना कर देते हैं तो उस समय कालिया चिल्लाती हुई कहती है ''तुम लोग खाओ न। गले के नीचे ससरता नहीं क्या? अलुआ नहीं तो क्या मालपुआ खिलाऊँ? बोलो बोलो! बोलते क्यों नहीं? मालपुआ खाओगे? और प्रश्न के साथ एक दो थप्पड़ सबको जड़ती गई।''[6]

इसी प्रकार, महिलाओं की दरियादिली को सिन्हा जी ने 'जीवन बीमा की रकम' कहानी में प्रस्तुत किया है। महिलाओं को सोना सबसे अधिक प्रिय होता है लेकिन घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए वह इसे भी कुर्बान कर देती है। कहानी में नायिका की माँ भी अपने पति को कान के बूंदे निकाल कर देती है जिसका मार्मिक चित्रण सिन्हा जी ने इस

प्रकार किया है-''माँ ने बूंदे निकालकर दे दिए थे, लेकिन मात्र एक सोने के जेवर से बिलगाव की वेदना रोक न पायी थी। खूब रोयी थी।''[7]

महिलाओं को समाज में दोयम दर्जे का माना गया है। पुरुषसत्तात्मक समाज ने उसे कभी भी बराबरी का हक नहीं दिया। चाहे वह सम्मान हो या मजदूरी हर जगह उसे पुरुषों से कम ही मिला है। इस संबंध में स्वयं प्रभा खेतान ने कहा है कि ''ऐसा कोई क्षेत्र हो जहाँ औरत काम नहीं करती। लेकिन हर जगह उसका वेतन कम है। समकालीन समाज का यह एक कड़वा सत्य है स्त्री को विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में इसलिए नियुक्त किया जाता है ताकि उसके सस्ते श्रम का शोषण किया जा सके।''[8]

किन्तु, मृदुला सिन्हा जी ने उपन्यास 'घरवास' में इस समस्या के साथ काम पर होने वाले शोषण को भी उजागर किया है। एक ओर ठेकेदार स्त्री मजदूरों को पैसों के बदले केवल चावल देता है तो दूसरी ओर बच्चे को दूध पिलाती माँ पर हाथ भी उठा देता है। उन्हीं के शब्दों में-''हरजाई है। हरजाई। ठेकेदार साहब ने आज भी एक मजदूरनी पर हाथ उठा दिया। बेचारी ईंट ढोते-ढोते थक गई थी। बच्चा बड़ी देर से रो रहा था। डाक बाबू की माँ बाहर निकलकर बोली किसका बच्चा है? पहले इस दूध पिला ले काम होता रहेगा। वह औरत दूध पिलाने ही बैठी थी कि ठेकेदार आ गया। उसके बाल खींचकर दो थप्पड़ लगाए।''[9]

स्त्रियों का शोषण करने में केवल पुरुषों का ही हाथ नहीं है बल्कि स्वयं महिलाएं भी इस शोषण में भागीदार होती हैं। इस स्थिति का चित्रण स्पष्ट रूप से सिन्हा जी ने 'पगली कहीं की' कहानी में किया है। इस कहानी की मुख्य पात्र कस्तूरी है जो श्रीनिवास की पत्नी है। श्रीनिवास अपनी शारीरिक कमजोरी के कारण बाप नहीं बन पाता जिसकी खबर डॉक्टर कस्तूरी को दे देता है लेकिन कस्तूरी एक कर्तव्यपरायण पत्नी होने के चलते यह बात श्रीनिवास को पता नहीं चलने देती। लेकिन एक दिन श्रीनिवास झूठी रिपोर्ट लाकर अपनी माँ से कहता है कि कस्तूरी में माँ बनने की क्षमता नहीं है। इस पर कस्तूरी की सास आग बबूला हो उठती है जिसका वर्णन सिन्हा जी ने इस प्रकार किया है-''श्रीनिवास की माता श्री का गुस्सा इतना उबला कि कस्तूरी का अंग-अंग जल गया। मां-बेटे दोनों ने मिलकर उसकी पिटाई भी कर दी। घर से निकाल दिया। शाम ढल चुकी थी कस्तूरी जाए तो कहां जाए। वह रात भर फ्लैट के बाहर बैठी सुबकती रहीं।''[10]

यद्यपि, यह शोषण कई बार शरीर के स्थान पर मानसिक स्तर पर भी किया जाता है जो उतना ही घातक होता है जितना शारीरिक प्रहार। यह शोषण भी महिलाओं और पुरुषों दोनों के द्वारा किया जाता है जिसका वर्णन सिन्हा जी ने 'ज्यों मेहंदी को रंग' उपन्यास में किया है। उपन्यास की नायिका शालिनी है जो नवविवाहिता है। किंतु शादी के बाद एक हादसे में उसके पैर कट जाते हैं और वह विकलांग हो जाती है। इस स्थिति में भी वह पति के दोनों पैरों को अपना मानते हुए कहती है कि 'क्या हुआ जो हमारे दो पैर कटे हैं, दो तो है।' शालिनी का यह कथन उसकी मानसिक मजबूती को व्यक्त करता है किंतु उसी पल उसकी सास एक ताने में शालिनी को यह आभास करा देती है कि वह अब विकलांग हो चुकी है। सास कहती है- ''बहु मेरे बेटे का क्या होगा? पूरी जिंदगी पड़ी है उसकी।''[11]

यह कथन ही शालिनी के आत्मविश्वास को पूरी तरह तोड़ देता है। स्वयं के पैर कटने के बाद भी जो महिला आत्मविश्वास से भरी हुई थी उसे एक झटके में दूसरी महिला द्वारा तोड़ दिया जाता है और यह आभास करा देता है कि अब उसे मानसिक तौर पर भी विकलांग हो जाना चाहिए।

उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी मृदुला सिन्हा जी ने अनेक रचनाओं के माध्यम से नारी चिंतन को वैश्विक धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन रचनाओं में उन्होंने नारी शोषण, व्यथा, पीड़ा, उत्पीड़न, भेदभाव आदि को केंद्र में रखा है और अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग में नारी चिंतन को मृदुला सिन्हा ने नया आयाम दिया है। मृदुला सिन्हा जी का नारी चिंतन समन्वय व सामंजस्य की भूमिका को निर्मित करता है। अपने उपन्यास 'अहिल्या उवाच' में उन्होंने यह प्रस्तुत किया है कि आज की नारी भी कई प्रकार के धोखा खाने के बावजूद टूटती नहीं है बल्कि वह निरंतर संघर्षरत दिखाई देती है। जिस प्रकार उपन्यास में अहिल्या को इंद्र ने छला और पति गौतम द्वारा श्राप दिया गया उसके बाद भी वह विरोध नहीं करती बल्कि अपने जीवन की डोर को बचाए रखती है जो आज की स्त्री के संकट एवं संघर्ष को दर्शाता है।

इसके अतिरिक्त मृदुला सिन्हा जी ने महिलाओं पर होने वाले शारीरिक शोषण के साथ मानसिक शोषण को भी बखूबी प्रस्तुत किया है जो आज के समय में अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। जो शोषण पहले उपेक्षा या मार-पीट के द्वारा किया जाता

था उससे कहीं अधिक शोषण आज तानों के रूप में किया जाता है जो स्त्रियों को दिन-प्रतिदिन उद्वेलित करता जाता है। इस संदर्भ में मृदुला सिन्हा जी का नारी चिंतन वर्तमान समाज में विशिष्ट एवं अधिक प्रासंगिक नजर आता है।

शोधार्थी (पीएचडी)
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. सहजता की भव्यता पराग संचयिनी मृदुला सिन्हा का जीवन मधु- संपा. बल्देव भाई शर्मा
2. मृदुला सिन्हा की दृष्टि में आधुनिक भारतीय स्त्री (आलेख) दीपा मद्धेशिया
3. मृदुला सिन्हा की दृष्टि में आधुनिक भारतीय स्त्री (आलेख) दीपा मद्धेशिया
4. यायावरी आंखों से- मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 79
5. घरवास- मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 93
6. घरवास, पृष्ठ 46
7. स्पर्श की तासीर (कहानी संग्रह) मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 102
8. उपनिवेश में स्त्री मुक्ति कामना की दस वार्ताएं- प्रभा खेतान, पृष्ठ 189
9. घरवास - मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 49
10. जैसे उड़ी जहाज को पंछी (कहानी संग्रह) मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 129
11. ज्यों मेहंदी को रंग- मृदुला सिन्हा, पृष्ठ 53